प्रकाशक
रामलाल पुरी संचालक
आत्माराम एण्ड संस
काश्मीरी गेट दिल्ली-६

मूल्य : आठ रुपया
प्रथम संस्करण १ ९ ५ ९
आवरण ना ना दुपोले
मुद्रक युनीक प्रेस दिल्ली ६

प्रकाशकीय

श्री केदारनाथ शास्त्री का सिन्धु-सभ्यता के आदिकेन्द्र—हड़प्पा के उत्खनन के कार्य में बीस वर्ष तक प्रत्यक्ष सम्बन्ध रहा है। इस लम्बे काल में उन्हें इस अतीत कालीन सभ्यता के विभिन्न पक्षों पर अनुसंधान करने का विशेष अवसर प्राप्त हुआ है। विस्तृत भारतीय एवं विदेशी प्रागैतिहासिक ज्ञान के कारण वह इस ग्रन्थ में इस काल का निष्पक्ष एवं सन्तुलित अध्ययन प्रस्तुत करने में समर्थ हुए हैं। उन्होंने अनेक विवादग्रस्त तथ्यों का जो अब तक सिद्ध न किए जा सके थे और जिनकी सत्यता अब तक अन्धकार में थी बहुत ही तर्कपूर्ण और प्रामाणिक उत्तर दिया है।

अभी तक सभी पुरातत्त्वज्ञ सिन्धु सभ्यता में नारी पक्ष की प्रधानता मानते थे। उनके अनुसार उन लोगों की आराध्य मातृदेवी थी। लेकिन सर्वप्रथम श्री शास्त्री ने इस भ्रम का खण्डन करके यह सिद्ध किया है कि सिन्धु कालीन देवता भी वैदिक काल की भाँति पुरुषलिंग ही थे। उन्होंने इस तथ्य की सत्यता के लिए कितने ही अकाट्य और मान्य प्रमाण भी प्रस्तुत किए हैं।

सिन्धु-सभ्यता के काल-निर्धारण में भी विद्वानों में मतभेद रहा है किन्तु श्री शास्त्री जी इसमें भी तनिक सशंकित नहीं हैं। उनका अध्ययन इस दिशा में अनुसंधान कर्त्ताओं के लिए विशेषतः महत्त्वपूर्ण है। उन्होंने इस सभ्यता के आदि के सम्बन्ध में अनेक ज्ञानपूर्ण सामग्री संग्रह की है और इस प्रकार से इस उपादेय ग्रन्थ के प्रकाशन से प्रागैतिहासिक सभ्यता के इस अन्धकारमय पक्ष पर पूर्ण प्रकाश पड़ सका है। श्री शास्त्री ने इस पुस्तक में अद्यतन खनन से प्राप्त सामग्रियों का भी उपयोग किया है।

इस ग्रन्थ में तत्कालीन कला वेष भूषा रीति-रिवाज धर्म आदि सभी विषयों का सर्वांगीण विवरण दिया गया है। सिन्धु-देश की लिपि पर भी इसमें प्रकाश डाला गया है। लिपि के विषय में अब तक यह मान्यता थी कि यह उर्दू की तरह दाहिनी ओर से लिखी जाती थी किन्तु श्री शास्त्री ने सिद्ध किया है कि ब्राह्मी लिपि की जननी यह लिपि भी उसी की ही तरह बाँयी ओर से लिखी जाती थी।

प्रस्तुत पुस्तक इस तरह के अनेक ज्ञानपूर्ण तथ्यों से भरी हुई है और इस काल की सभ्यता का अध्ययन करने वाले अनुसंधाताओं के लिए प्रामाणिक एवं उपादेय ग्रन्थ है। जनसाधारण के लिए भी यह अत्यन्त रोचक और ज्ञानवर्धक सिद्ध होगी।

इसी विषय पर लेखक की अंग्रेजी पुस्तक 'New Light on the Indus Civilization' जिसकी भूमिका श्री राधाकुमुद मुकर्जी ने लिखी है, पत्र-पत्रिकाओं द्वारा बहुप्रशंसित हुई है और इतिहासकारों में अत्यन्त लोकप्रिय हुई है।

प्रमुख लगी कि इस प्रौढ़ सांस्कृतिक-भूमिका तक पहुँचने के लिए कम से कम एक हजार वर्ष लगे होंगे। हड़प्पा और मोहेंजो-दड़ो के टीलों की स्तर-परीक्षा तथा अन्य देशों में उपलब्ध भारतीय वस्तुओं के तुलनात्मक अध्ययन से भी पता लगता है कि सिन्धु-सभ्यता का प्रारम्भ निस्सन्देह चौथी सहस्राब्दी के प्रथम चरण में हुआ होगा।

डॉ. व्हीलर द्वारा प्रतिपादित सिन्धु-सभ्यता के काल-निर्णय के समर्थन में प्रो. पिगट ने जो प्रमाण दिये हैं वे अत्यन्त दुर्बल और अपर्याप्त हैं। इस निर्णय के विरुद्ध बलवत्तर और सबल प्रमाणों की उन्होंने सर्वथा उपेक्षा की है। दोनों पक्षों के प्रमाणों की तुलनात्मक समालोचना के अनन्तर मैंने उनसे उचित निष्कर्ष निकालने का यथाशक्ति प्रयत्न किया है।

'एन्शेंट इण्डिया' न० ३ में डॉ. व्हीलर ने 'बलूचिस्तान-पथ' के निर्माताओं को वैदिक आर्य सिद्ध करने की असफल क्लिष्ट-कल्पना की है। उनके मत में वे आर्य ही थे जिन्होंने १५०० ई० पू० के लगभग आक्रमण करके सिन्धु-सभ्यता को निर्दयता से निर्मूल कर दिया। अपनी समालोचना में मैंने दिखलाया है कि 'बलूचिस्तान-पथ' के निर्माता वैदिक आर्य नहीं थे।

क्रीट द्वीप का साक्ष्य—सिन्धु-सभ्यता के अति प्राचीन होने में एक और अकाट्य प्रमाण दो सिन्धु मुद्राएँ हैं जिन पर देव-पुरोहितों द्वारा अभिनीत वृषोत्सव-क्रीड़ाएँ अंकित हैं (फलक २७ १ ५)। इनमें से एक मुद्रा पर ये धार्मिक खेल पीपलनाथ देवी के सामने महिष मुण्ड देवता की अध्यक्षता में खेले जा रहे हैं। दोनों मुद्राएँ मोहेंजो-दड़ो के टीलों में बहुत गहरी तहों से मिली थीं। स्तर-परीक्षा के आधार पर ये ईसापूर्व तीसरी सहस्राब्दी के प्रथम चरण के बाद की नहीं हो सकतीं। भारत पुरातत्त्व-विभाग की १९३४-३५ की रिपोर्ट में डाक्टर सी. एल. फाबरी ने अपने लेख में सिद्ध करने की चेष्टा की है कि ये धार्मिक-क्रीड़ाएँ भारत ने क्रीट द्वीप की प्रागैतिहासिक मिनोअन सभ्यता से सीखी थीं। इस द्वीप में मातृदेवी की पूजा वृषभ दिव्य कपोत आदि उसके लक्षणों द्वारा होती थी। मैंने दिखलाया है कि यद्यपि क्रीट की ये समानान्तर क्रीड़ाएँ १७०० ई० पू० के लगभग धार्मिक-रूप धारण करके १५वीं से १२वीं शती तक वहाँ प्रचलित रहीं इसलिए इनका सिन्धुकालीन वृषोत्सव के खेलों पर प्रभाव नहीं पड़ सकता था क्योंकि १८वीं शती ई० पू० के लगभग सिन्धु सभ्यता स्वयं नामशेष हो चुकी थी। विविध प्रमाणों का संयुक्त साक्ष्य केवल एक ही निर्णय की ओर निर्देश करता है और वह यह कि यह क्रीट-द्वीप था न कि भारत जिसने तीसरी सहस्राब्दी के अन्त में इस क्रीड़ा को साक्षात् अथवा किसी माध्यम के द्वारा सिन्धु-प्रान्त से प्राप्त किया। यह सर्वसम्मत तथ्य है कि मिनोअन-काल के क्रीटवासियों की धर्म-पद्धति और कला-रूढ़ियाँ पश्चिमी एशिया तथा मिस्र की उत्कृष्ट सभ्यताओं का प्रतिबिम्ब मात्र थीं।

रंगपुर और रोपड़ का महत्त्व—सौराष्ट्र के अन्तर्गत रंगपुर और पूर्वी पंजाब में स्थित रोपड़ नामक खण्डहरों में पुरातत्त्व विभाग ने जो खुदाई करवाई है उससे पता चलता है कि २००० ई० पू० के करीब सिन्धु-सभ्यता के जो लोग यहाँ बसे थे वे सिन्धु-कालीन उत्कृष्ट कलाओं और धर्म को भूल चुके थे। इन स्थानों से धार्मिक अभिप्राय की एक भी ऐसी वस्तु नहीं मिली जिससे पता लग सकता कि इन उपनिवेशों के रहने वाले अब भी महिषमुण्ड मस्तक देव या किसी सिन्धुकालीन देवताओं की पूजा करते थे। अतः सिन्धु-सभ्यता की विविध विलक्षणताओं का अकस्मात् अभाव इस तथ्य का प्रतिपादक है कि रंगपुर और रोपड़ के रहने वाले सिन्धु-सभ्यता के लोग चिरकाल से इस सभ्यता के केन्द्र-स्थानों (हड़प्पा और मोहेंजोदड़ो) से सम्पर्क खो बैठे थे और अपनी मूल-संस्कृति की विशिष्टताओं को भूल चुके थे। प्रतीत होता है कि ये लोग उन सिन्धु निवासियों के वंशज थे जो सिन्धु-साम्राज्य के पतन पर नए स्थानों की तलाश में पूर्व तथा दक्षिण की दिशाओं में बिखर गए थे। उनकी सन्तानें कई सदियों में घूमती हुई अन्त में इन स्थानों में आ बसीं। इतने लम्बे काल में अपने मौलिक धर्मों और सांस्कृतिक विशिष्टताओं को भूल जाना उनके लिए अनिवार्य ही था।

लोथल का खण्डहर—सन् १९५४-५५ में भारत के पुरातत्त्व-विभाग ने सौराष्ट्र में लोथल नामक एक और प्रागैतिहासिक टीले का खनन कराया। यह स्थान रंगपुर से तीस मील पूर्वोत्तर में है। देश-विभाजन के अनन्तर आज तक जितने सिन्धु-सभ्यता के खण्डहर उपलब्ध हुए उनमें इसका विशेष महत्त्व है। रंगपुर और रोपड़ की अपेक्षा लोथल का खण्डहर अधिक सुरक्षित और पाँच सौ वर्ष प्राचीनतर भी है। इसकी अन्य विलक्षणता यह है कि इसके समस्त जीवन-काल में केवल सिन्धु-सभ्यता के लोग ही यहाँ आबाद रहे, रोपड़ और रंगपुर की तरह उत्तरकाल में विजातीय लोग आकर नहीं बसे। इस बस्ती का आरम्भ २५०० ई० पू० में लगभग हुआ और इसकी खुदाई में पाँच सिन्धु-मुद्राएँ मिलीं जिनमें से एक पर एकशृंग पशु खुदा है। यह पशु, जैसा कि इसे मोहेंजोदड़ो की मुद्रा नं० १८७ (फलक १८ ह) से पता चलता है पशुपति-देवता का प्रिय पशु था। अतः इसमें सन्देह नहीं रहता कि लोथल के निवासी सिन्धु-संस्कृति के लोगों में शिव-पूजा के धर्म का कुछ अंश अभी शेष था।

चित्रित सलेटी कुम्भकला (पेंटेड ग्रे वेयर)—भारत के इतिहास का वह काल जो सिन्धु-सभ्यता के अन्त और छठी शताब्दी ईसापूर्व के मध्य में पड़ता है अन्धकाल माना गया है क्योंकि इसके सम्बन्ध में इतिहासकारों को बहुत थोड़ा ज्ञान है। हस्तिनापुर, रोपड़ और अलीरा आदि स्थानों में चित्रित सलेटी कुम्भकला की उपलब्धि से पूर्वोक्त अन्धकाल पर प्रचुर मात्रा में प्रकाश पड़ना शुरू हो गया है। इस कुम्भकला के अतः उसकी सतलुज तथा प्राचीन सरस्वती (घग्घर) की घाटियों में स्थित

साठ अन्य खण्डहरों में भी पाए गए हैं। पुरातत्व-विभाग के विद्वानों की सम्मति में यह कुम्भकला वैदिक आर्यों की कृति थी और उस समय बाहर से आई जब इस जाति ने ईसापूर्व १२वीं शती में सरस्वती की घाटी में प्रथम पदार्पण किया। "हस्तिनापुर के खण्डहर तथा महाभारत-काल" शीर्षक अपने लेख में मैंने दिखलाया है कि यदि हम इस कुम्भकला को आर्य-जाति की कृति मानें तो हमें कितनी आपत्तियों का सामना करना पड़ेगा।

इस सन्दिग्ध परिस्थिति में सिंधु-सभ्यता की तिथि को यथार्थ रूप से आँकने की परम आवश्यकता है। पूर्वोक्त अन्धकाल के इस ओर तो ईसापूर्व छठी शताब्दी है और अति दूर दूसरे किनारे पर सिंधु-सभ्यता के प्रकाश-स्तम्भ की धीमी किरणें दिखाई दे रही हैं। यदि हम इस स्तम्भ के अन्तर को भिन्न-भिन्न दृष्टिकोण से ठीक ठीक माप सकें तो इस मापदण्ड से मध्यवर्ती अन्धकाल की बहुत-सी समस्याओं का सुलझाना सम्भव हो सकेगा। डॉ॰ व्हीलर और प्रो॰ पिग्गट ने सिंधु-सभ्यता की जो तिथि निश्चित की है वह भारत के प्रागैतिहासिक युग के ढाँचे में ठीक नहीं बैठती जैसा कि रंगपुर लोथल आदि स्थानों के साक्ष्य से स्पष्ट है।

पीठ मन्दिर—मार्शल प्रमुख पुरातत्त्वज्ञों की सम्मति में सिंधुकाल के खण्डहरों की खुदाई में देवालय या किसी अन्य धर्म-स्थान के कोई अवशेष नहीं मिले। इस पुस्तक के अन्तर्गत 'सिंधुकालीन पीठ-मन्दिर' नामक अपने लेख में मैंने दिखलाया है कि हड़प्पा और मोहेंजो-दड़ो के दोनों उत्तुंग टीले अर्थात् टीला 'ए-बी' और 'स्तूप टीला' जो आरम्भ में प्राकार-वेष्टित थे सम्भवतः उस युग के पीठ-मन्दिर थे क्योंकि आकार, विशालता तथा रचना में ये मेसोपोटेमिया के 'जिग्गुरत' नामक पीठ-मन्दिरों के बहुत सदृश हैं।

सिंधु-लिपि—ग्यारहवें अध्याय में मैंने सिंधुकालीन चित्रलिपि पर प्रकाश डाला है। अब तक इस लिपि के मौलिक तथा उसके रूपान्तर जितने अक्षर मिल चुके हैं उनकी संख्या ६ के ऊपर बैठती है। इस लिपि की तुलना समदेश-सम काल की सुमेरियन तथा इलम की चित्रलिपियों से है जो मेसोपोटामिया में ईसापूर्व १२ के लगभग प्रचलित थीं। यह सादृश्य सिंधु-सभ्यता के ईसापूर्व ४ वर्ष प्राचीन होने में बाधक प्रमाण है। इस लिपि के सम्बन्ध में जो अनुसन्धान मैंने किया है उससे मैं इस निश्चय पर पहुँच सका हूँ कि ब्राह्मी-लिपि की तरह यह भी बाएँ से दाएँ को लिखी जाती थी न कि दाएँ से बाएँ को जैसा कि प्रो॰ लैंग्डन स्मिथ गड तथा डॉ॰ हंटर आदि का मत है। चित्रलिपि के सम्बन्ध में इस पुस्तक में मैं केवल एक ही अध्याय समाविष्ट कर सका हूँ जिसमें इस लिपि की साधारण विशेषताओं का ही वर्णन है। मुद्रण की कुछ एक अनिवार्य कठिनाइयों के कारण इसमें

दूसरा अध्याय शामिल नहीं कर सका। इस दूसरे अध्याय में मैंने लिपि के बारे में सारे सैन्धव के समग्र सब प्रमाणों को एकत्रित किया है और कई एक विद्वानों और उनके मोहरों को पढ़ने का प्रयत्न भी किया है। विचार है कि इस अध्याय को मैं साइक्लोस्टाइल विधि से मुद्रित कराकर प्रकाशित करूँगा क्योंकि लेख के शरीर में स्थान स्थान पर चित्राक्षरों का समावेश होने के कारण आधुनिक अक्षरों से इसका मुद्रण सम्भव नहीं है।

शवविसर्जन विधि तथा परलोक विश्वास—पुस्तक के नवें अध्याय में मैंने सिन्धुकालीन मुर्दों को दबाने की शवविसर्जन-विधि का वर्णन किया है। हड़प्पा में भिन्न-भिन्न काल के दो कब्रिस्तान मिले थे। इनमें उत्तरकालीन 'कब्रिस्तान-एच' में उपलब्ध शवकलशों पर मृतक की परलोक-यात्रा के जो चित्र बने हैं उनसे स्पष्ट है कि इन लोगों का विश्वास था कि मरने के अनन्तर मनुष्य का सूक्ष्म-शरीर सूर्यलोक आदि दिव्य-लोकों में निवास करता है। सूर्यलोक की यात्रा में बैल मोर तथा बकरा मृतक के सहायक होते थे क्योंकि इन जीवों का इस लोक से विशेष सम्बन्ध था। देवता व अवतार भी किसी न किसी रूप में इस लोक से सम्बद्ध था। प्राचीनतर कब्रिस्तान 'आर ३७' के लोग भी अपने मुर्दों को कब्रों में गाड़ते थे और सम्भवतः वे भी सूर्यलोक में विश्वास रखते थे क्योंकि इस काल की कब्रों में जो बर्तन पाए गए उन पर भी मोर और देवता व अवतार के चित्र बने थे यद्यपि मृतक की परलोक-यात्रा का कोई दृश्य नहीं था। ऐसा प्रतीत होता है कि ये लोग अपने मृतकों की स्मृति में स्मारक अथवा स्तम्भ आदि गाड़ते थे और उनके समीप बाद में पिण्ड-तर्पण आदि अन्त्येष्टि क्रिया करते थे। यह बात उल्लेखनीय है कि यद्यपि सिन्धुकालीन लोग अपने मुर्दों को सुमेरियन तथा बेबीलोनियन लोगों की तरह भूमि में गाड़ते थे तथापि उनकी तरह वे अधोलोक में विश्वास नहीं करते थे। इसके विपरीत मृतकों का अग्निदाह करने वाली जातियों के समान उनका दृढ़ विश्वास था कि मरने के अनन्तर जीव सूर्य आदि दिव्य लोकों में अनन्त काल तक विहार करता है।

—केदारनाथ शास्त्री

क्रम

फलक-परिचय

सिंधु-सभ्यता का आदिकेन्द्र

हड़प्पा

१

स्थिति तथा इतिहास

स्थिति तथा भौगोलिक रचना—हड़प्पा के खण्डहर जो रावी नदी के तटवर्ती सब खण्डहरों से अधिक विशाल हैं पश्चिमी पंजाब में मंटगुमरी जिला में आधुनिक हड़प्पा कस्बे के साथ ही विद्यमान हैं। लम्बाई और चौड़ाई में प्रायः पौन मील और परिधि में तीन मील के लगभग ये खण्डहर धाया नामक उस उच्च धरातल के उत्तरी किनारे पर स्थित हैं जो इस स्थान पर रावी के आस पास की निम्नतल भूमि में धीरे-धीरे लीन हो जाता है। यह धरातल मध्य में कछुए की पीठ के समान ऊँचा और किनारों की ओर क्रमशः ढलवाँ जिस के बीचोबीच लम्बाई के रुख बटा पड़ा है। लम्बाई में लगभग साठ मील और चौड़ाई में प्रायः दस मील यह 'धाया' जिले की भौगोलिक रचना का प्रधान अंग है। हड़प्पा के नीचे इसकी चौड़ाई क्रमशः संकुचित होती हुई अन्त में चीचावतनी के पास रावी के बाएँ किनारे में लीन हो जाती है। प्राचीन काल में इस पठार के उत्तर में रावी और दक्षिणी किनारे के साथ ब्यास नदी बहती थी। इन नदियों के सूखे पाट जिन्हें 'सुक-रावी' और 'सुक-ब्यास' कहते हैं आज भी उनके प्राचीन गौरव की स्मृति दिलाते हैं। सुक रावी हड़प्पा की उत्तरी सीमा पर और 'सुक-ब्यास' वहाँ से दस मील दूर 'धाया' पठार की दक्षिणी सीमा पर विद्यमान है।

इस पठार का मध्य भाग निर्जल और उजाड़ है जिसमें छोटी-छोटी झाड़ियों व थोड़ी बूटी के सिवाय दूसरी वनस्पति बहुत कम है। इसी कारण चिरकाल से लोग इस भूमि को 'गंजी-बार' नाम से पुकारते चले आए हैं। इस कठोर भूमि का एक बड़ा भाग जिसे 'बाड़ा' कहते हैं हड़प्पा रोड रेलवे स्टेशन के पास कई मीलों तक व्याप्त है। दुपहर के समय सूर्य की किरणों के ताप से यहाँ साक्षात् मृगतृष्णा का भ्रम होता है। धाया पठार यद्यपि उजाड़ तथा बीहड़ है फिर भी इसका वह भाग जो रावी तथा सतलुज नदियों के निकटवर्ती है अत्यन्त उपजाऊ वृक्षबहुल और मनोहर है। प्राचीन
काल में सुक रावी और सुक-ब्यास के शुष्क पाटों में जब पूर्णस्रोत नदियाँ बहती थी तो

इस प्रकार उस रम्य दोआबे में स्थित प्राचीन हड़प्पा अपने उत्कर्ष-काल में उत्तरी भारत का अवश्य ही एक बहुत विशाल, रमणीक और समृद्ध नगर होगा।

फलक १

हड़प्पा के खंडहर, जिनमें बहुत से टीले और आस-पास के समतल क्षेत्र भी शामिल हैं, एक विषम-चतुर्भुज के आकार में व्याप्त हैं (फलक १)। टीलों की ऊँचाई साथ के खेतों की अपेक्षा से १ फुट तक और समुद्रतल से ५१ से ६१ फुट तक है। यदि सबसे ऊँचे टीले पर खड़े होकर चारों ओर दृष्टि दौड़ाई जाए तो कई मीलों तक मैदान ही मैदान दिखाई देता है जिसमें पीलू, आक, करीर और फराश के वृक्षों की भरमार है। किंचित उत्तर की ओर जहाँ तक दृष्टि काम करती है ये वृक्ष रावी की वर्तमान धारा का अनुसरण करते हुए सघन वन का रूप धारण कर लेते हैं। किसी समय यह जंगल बहुत घना था परन्तु अब चालीस-पचास वर्षों में जब से 'लोअर-बारी-दोआब' नहर बनी है, लोगों ने जंगल के बहुत बड़े भाग को साफ करके

इसमें खेती बोना प्रारम्भ कर दिया है और अब इन खण्डहरों के आस-पास असंख्य सह सहलहाते खेत दिखाई देते हैं।

दो सहस्र वर्ष पहले इस प्रान्त की प्रकृति और यहाँ के निवासी प्रायः ऐसे ही थे जैसे कि आजकल देखने में आते हैं। इसका प्रमाण महाभारत के कर्णशल्य-सम्वाद प्रकरण में जहाँ वाहीक-निवासियों के गुण, कर्म, स्वभाव और वंशप्रकृति का विस्तृत वर्णन किया गया है, मिलता है। वहाँ लिखा है कि यह देश वन पीलु और करीर के वनों से ढका हुआ था और यहाँ के निवासियों का स्वभाव चोरी करना, मद्य पीना, गोमांस और लहसुन खाना आदि था[२]।

जलवायु—'भामर-बारी-राभाव' नगर बसने से पहले पजाब का यह भाग जो अब मट्टगुमरी जिले के अन्तर्गत है चिरकाल तक एक उजाड और ऊपर प्रदेश था। ब्रिटिश राज्य के प्रारम्भ में जो यूरोपीय अधिकारी इस जिले में नियुक्त होते थे वे

---

१ सम्भव है कि यह प्रदेश जिसमें हड़प्पा के खण्डहर विद्यमान हैं प्राचीन मद्रदेश के अन्तर्गत था। इसकी राजधानी शाकल (वर्तमान स्यालकोट) रावी और चनाब के मध्य में थी। महाभारत में इस प्रान्त के निवासियों का नाम 'वाहीक' लिखा है। सिकन्दर महान् के आक्रमण के समय ये लोग 'कठ' कहलाते थे और आजकल इनका नाम 'काठिया' है। अब ये लोग अपने को मुसलिम राजपूत कहते हैं और हड़प्पा के आस-पास रावी के तट पर आबाद हैं। स्वभाव से ये उपद्रवी और मनचले हैं।

२ तासां विश्वासितास्तासां निवसन्कुरुजाङ्गले।
कश्चिद्वाहीक दुष्टानां नातिहृष्ट-मना जगौ ॥
सा नूनं बृहती गौरी सूक्ष्मकम्बलवासिनी।
मामनुस्मरती शेते वाहीकं कुरुवासिनम् ॥
शतद्रु मु नदी तीर्त्वा तां च रम्यामिरावतीम्।
गत्वा स्वदेशं द्रक्ष्यामि स्थूल शंखा शुभा स्त्रियः ॥
मृदगानकघ्रानां मर्दनानां च निस्वनैः।
खरोष्ट्राश्वतरैश्चैव मत्ता यास्यामहे सुखम् ॥
शमीपीलुकरीराणां वनेषु सुखवर्त्मसु।
अपूपान्सक्तुपिण्डीश्च प्राश्नन्तो मथिताविन्वितान् ॥
गवस्य तृप्ता मांसस्य पीत्वा गौड़ सुरासवम्।
पलाण्डु-गण्डूष-युतान्-खादन्ती चैडकान्बहून् ॥

—महाभारत कर्ण पर्व ४४ ।१२-२८।

ईस्ट' से मिलते हैं कि अति प्राचीन युग मे जिसकी अर्वाचीन अवधि ५ वर्ष हैं पू० के लगभग हो सकती है सिन्धुनद का काठा बलूचिस्तान ईराक मिस्र और अफ्रीका का सहरा एक ही भूरेखा में स्थित होने के कारण समान जलवायु के भागी थे। इन देशो को अन्धमहासागर (एटलाण्टिक ओशन) से प्रादुर्भूत जलधर-पवन (मानसून) सींचते थे और वर्षा-बहुलता के कारण ये देश उस समय प्रकृति के सुन्दर लीला-स्थल एवं संसार की प्राचीनतम सभ्यताओं के केन्द्र बने हुए थे। किन्तु समय परिवर्तनशील है। कालान्तर मे जब यूरोप आत्यन्तिक हिमाटोप तथा उसके फलस्वरूप भारी वातावरण से विमुक्त हो गया तो अन्धमहासागर के मानसून पवनो को उस महाद्वीप मे प्रवेश करने का अवसर मिला और उन्होंने अपना प्राचीन मार्ग छोड़कर यूरोप के अन्दर नया मार्ग बना लिया। इस कारण परिवर्तन से इस अक्षांश मे स्थित मिस्र ईराक आदि सभी पूर्वोक्त देश मरुस्थल बन गये।

प्रो० चाइल्ड का सिद्धान्त यद्यपि सुगम और रोचक है तथापि सर जान मार्शल के विचार मे इसे मान लेने में कई आपत्तियाँ हैं। उनके मतानुसार सिन्धुदेश बलूचिस्तान और पश्चिमी पंजाब को सींचने वाली मानसून पवनो का जन्म अन्धमहासागर मे नहीं अपितु अरब सागर मे होता था। उनका यह मत भारत के जलवायु-विभाग की सम्मति पर आधारित है। मार्शल के इस सिद्धान्त के अनुसार जब तक ये देश इन पवनो से प्रभावित रहे इनमे प्रचुर वर्षा होती रही परन्तु कालान्तर मे जब ये पवनें मार्गभ्रष्ट होकर दूसरी ओर बहने लगी तो इस भयंकर परिवर्तन से पुरानी सभ्यता की इतिश्री हो गयी।

संक्षिप्त इतिहास—हड़प्पा के खण्डहर के सम्बन्ध में जो दन्तकथा परम्परा से चली आ रही है वह इस प्रकार है कि प्राचीनकाल में यहाँ हरपाल नाम का एक दुरा-चारी राजा शासन करता था। उसके दुराचारो के कारण दैवी कोप से एक ही रात में सारा नगर नष्ट हो गया। कहा जाता है कि हड़प्पा नाम भी इसी राजा के नाम पर पड़ा (हरपालपुर हड़प्पा)। सर अलेग्जैंडर कनिंघम का विचार है कि हड़प्पा शहर और 'पो-फा-टो' नाम का स्थान जिसका उल्लेख चीनी यात्री ह्युनसांग ने अपनी 'भारत यात्रा' पुस्तक में किया है एक ही स्थान के सूचक हैं। परन्तु प्रमाणाभाव से न तो हड़प्पा के नष्ट होने की दन्तकथा और न ही पो-फा-टो और हड़प्पा की एकात्मता अकाट्य हो सकती है।

हड़प्पा के सम्बन्ध में जो पहला विश्वसनीय लेख मिलता है वह मेसन नाम का एक पथिक यात्री का है जिसने इस स्थान को सन् १ ६ ई० में देखा था। उसके पीछे कई वर्ष बाद सन् १८३१ में बर्नेस बर्नेस ने इस खण्डहर का स्वयं निरीक्षण किया जब वह इंग्लैण्ड के राजा की ओर से दूत बन कर महाराजा रणजीतसिंह से मिलने लाहौर

दक्षिणी किनारे पर केवल एक-दो फुट के लगभग ही रह जाती है। उत्तरी भाग में दो मालों का बना हुआ एक बोरका कुआँ है जिसका अन्दर का आवर्त कनी के आकार की ईंटों से तैयार किया गया था। अन्दर से इसे १२ फुट तक खाली किया गया था परन्तु फिर भी पानी की सतह तक नहीं पहुँचा जा सका। कुएँ के अतिरिक्त इस भाग में जो ध्वंसावशेष मिले उनमें दो उल्लेखनीय हैं। प्रथम था एक १ ६ फुट लम्बी १४ टूटे मटकों की पंक्ति की जिसमें मटके अकेले अथवा दो-दो या तीन-तीन की राशि में एक दूसरे पर एक दीवार के सहारे रखे हुए थे। दूसरी उपलब्धि भाग के दक्षिणी किनारे पर कच्ची ईंटों का एक बड़ा भराव था जो लम्बाई में ७ फुट चौड़ाई में ५ फुट और मोटाई में ६ फुट के लगभग था। यह भराव जिसे वत्स महोदय ने 'कच्ची ईंटों का असम्बद्ध ढेर' समझा था वस्तुतः उस निम्न दुर्ग प्राकार का भाग है जो टीला 'ए-बी' के चारों ओर हड़प्पा के आदिवासियों ने बनाया था।

मध्यवर्ती भाग—यह भाग पूर्वोक्त कुएँ से प्रायः १ फुट उत्तर में स्थित है। इसकी लम्बाई ११४ फुट चौड़ाई ११७ फुट और मध्यतः गहराई १ फुट के लगभग है। इसमें उत्खनन पाँच स्तरों के सम्पूर्णतः में निम्नलिखित मुख्य थे—
(१) पाँचवें स्तर से सम्बद्ध ईंटों के फर्श की मुख्य नाली जो २ फुट १ इंच ऊँची थी
(२) १४ फुट लम्बी गोलीसे ढकवाली चौथे स्तर की नाली जो पूर्वोक्त बड़ी नाली के ठीक ऊपर बनी थी। इसके पश्चिमी सिरे पर दो कमीशाज कोष्ठ और कुछ दबे हुए मटके थे जो आस-पास की छोटी नालियों का बरसाती तथा गंदा पानी बड़ी नाली में पहुँचाते थे। निम्नक्षेत्र के नालियाँ और गड़े हुए मटके नगर के नाली प्रबन्ध से सम्बन्ध रखते थे।

इस भाग में जो महत्त्वपूर्ण उपलब्धि हुई वह तीन मानव शवों की खण्डित अस्थियाँ (न ५४४) थीं जो एक कच्चे फर्श पर बिखरी पड़ी थीं। ये निःसंदेह चौथे और तीसरे स्तरों के मध्यकाल के थे और वत्स महोदय के विचार में खण्ड-शव (Fractional Burials) गाड़ने की उस विधि का पूर्व रूप थे जो कब्रिस्तान 'एच' के प्रथम स्तर में पश्चात्यों के समय प्रचलित थी।

उत्तरी भाग—यह भाग टीला 'ए-बी' की उत्तरी सीमा पर लगभग ... के परिणाम में टीले की चोटी से खुदा है। इसीलिये इसकी गहराई, जो मध्य में १ फुट है, ढलवाँ घटती हुई किनारों पर आकर केवल एक या दो फुट ही रह जाती है। इसमें प्राप्त स्तरों की इमारतों के भग्नावशेष अभाव में आए थे। ढेर ढलान के कारण समान-स्तर की इमारतों की गहराई में परस्पर बहुत अन्तर था।

यहाँ ऊपर के स्तर से कुषाणकालीन (चौथी या पाँचवीं सदी ई की) कुछ वस्तुएँ मिली थीं जिनमें मिट्टी की तीन खण्डित मूर्तियाँ उल्लेखनीय हैं। इनमें एक पर कोई अलंकृत

रही मुख्य बना रही है[1]। इनके अतिरिक्त एक ही साँचे में ढले हुए चार मानव मस्तक और कई बड़े आकार की तथा पकी हुई ईंटें भी। इस उपलब्धि से प्रतीत होता है कि गुप्तकाल में इस टीले पर एक छोटी सी बौद्ध बस्ती थी। मठ के मध्य में पत्थर की खंडित मूर्तियों का एक बड़ा ढेर मिला था। इसी भाँति की दो मूर्तियाँ अब भी नौगजा कब्र के पास पड़ी हैं जिन्हें स्थानीय लोग नौगजा पीर की मगुली की मूर्तियाँ बतलाते हैं। इमारती पत्थरों के बहुत से खंड जो यहाँ पाए गये उनमें से कई में धातु के खोखले बरमे से निकाले हुए छेद थे। इसी खान में पशुओं की हड्डियों का एक ढेर भी निकला था जिसमें कुत्ते का सिर और दाँत तथा भैंस घोड़े आदि की अस्थियाँ मिश्रित थीं।

टीला 'एफ'

नौगजा कब्र के पीछे खड़े होकर पश्चिमोत्तर की ओर देखने से टीला 'ए-बी' से सटा हुआ जो नीचा टीला दिखाई देता है वह टीला 'एफ' है। इसमें बाहर के सब भग खात खुदे हैं और दूर से देखने पर यह टीला शहर के खतों की तरह खिदा हुआ प्रतीत होता है। लम्बाई में यह पूर्व से पश्चिम के दस १७ फुट, चौड़ाई में ७८ फुट और ऊँचाई में आस-पास के खेतों से १२ फुट के लगभग है। इसकी उत्तरी सीमा पर मुनराजा (रावी का सूखा पाट) है, जहाँ प्राचीन समय में नदी की पूर्वस्रोत धारा बहती थी। अब यह धारा पाँच मील उत्तर को बहती है। दूसरों की अपेक्षा इस टीले में प्राचीन वस्तुएँ और भग्नावशेष प्रचुर संख्या में मिले थे। यही कारण था कि यहाँ खुदाई अधिक मात्रा में की गई। इसमें छः बड़े और कुछ छोटे खात खुदे हैं जिनका संक्षिप्त विवरण नीचे दिया गया है।

खात न १—यह खात टीले के पूर्व-दक्षिणी भाग में एक चतुर्भुज के आकार में खुदा है। इसकी गहराई दक्षिण में छः फुट से लेकर उत्तरी भाग में १२ फुट तक है। इसके उत्तरी किनारे पर खड़े होकर देखने से उत्तरोत्तर आठ स्तरों की इमारतों के खंड स्पष्ट रूप से दिखाई देते हैं जिससे सिद्ध होता है कि इस टीले पर क्रमश आठ आबादियाँ हो चुकी हैं (फलक २)। ऊपर के तीन स्तरों की इमारतें बनावट में बढ़िया पुख्ता और खंडित हैं परन्तु उनके नीचे के तीन स्तरों के वास्तु खंड दृढ़ और उत्कृष्ट रचना के हैं। सातवें और आठवें स्तरों के केवल थोड़े ही अवशेष मिले थे।

इस खात से उपलब्ध पुरातत्व वस्तुओं में निम्नलिखित मुख्य हैं—काँसे का ढेपचा (नं २७७) जिसमें एक सौ के लगभग ताँबे के सस्त्रोपकरण तथा अन्य वस्तुएँ ठसा ठस भरी थीं। पाषाण मुद्राओं तथा अन्य विविध वस्तुओं का एक बृहद् समुदाय

1 वत्स—एक्सकेवेशन्स एट हड़प्पा भाग २ फलक ७२ ११।

डी' प्रदेश

हड़प्पा के खंडहर का यह भाग 'माना-टीला' के दक्षिण में 'करबीवाली' सड़क के पार स्थित है। हड़प्पा में अब तक जिन स्थानों में खुदाई हुई उनमें यह सबसे नीचा है। पूर्वी और दक्षिणी सीमाओं पर इसकी भूमि धीरे-धीरे पास के गढ़ों में लीन हो जाती है।

यहाँ तीन खात खोदे गये थे। एक खाते में कुएँ के सिवाय इनमें से किसी में भी अन्य कोई वर्णनीय वास्तुखंड नहीं मिले। उपलब्ध वस्तुओं में निम्नलिखित वर्णनीय हैं—(१) मिट्टी की चार आयताकार ११ मुद्राछापें जिनके एक ओर चित्राक्षर हैं और दूसरी ओर एकशृंग पशु, (२) फियांस की बनी हुई मुद्राछाप जिस पर एक देवमूर्ति मन्दिर के अन्दर ध्यानमुद्रा में खड़ी दिखाई गई है। इस देवता के सामने एक उपासक घुटना टेके बैठा है और उसके पीछे बकरा खड़ा है (फलक ११ च) (३) मिट्टी के बर्तनों के दो बड़े समुदाय जो सिन्धु-सभ्यता की प्राचीन कुम्भकला के उदाहरण हैं।

मानव पिंजर—सबसे अधिक महत्त्व की उपलब्धि जो इस खुदाई में हुई वह एक बहुत बड़ा मानव-अस्थि-समुदाय था जिसमें मिट्टी के बर्तन और पशुओं की हड्डियाँ भी मिश्रित थीं। यह समुदाय कुएँ से १४ फुट उत्तर में ४ फुट से लेकर ५ फुट १ इंच की गहराई तक भूमि में दबा पड़ा था। इसमें बीस मानव खोपड़ियाँ एवं मानव धड़ मनुष्य तथा पशुओं की विभिन्न हड्डियाँ और मिट्टी के बर्तन सम्मिलित थे। यह दूसरी हड्डियाँ से पाँच फुट दूर पड़ा था और मिट्टी के बर्तन प्राय खोपड़ियों के साथ रखे हुए थे। हड्डियों के साथ या पास पास कोई भूषण न थे। डाक्टर बी एस गुहा जिन्होंने इन हड्डियों का परीक्षण किया लिखते हैं कि इस समुदाय में नौ युवा पुरुषों या युवतियों और पाँच बच्चों की खोपड़ियाँ थीं।

ये मानव-पिंजर किसी प्रकार हत्याकांड महामारी आदि भयानक दुर्घटना के स्मारक थे। यह कहना कठिन है कि क्या इन शवों का ढेर गाड़ा गया था अथवा पहले इन्हें खुले स्थान में फेंककर बची-खुची हड्डियों को पशुअस्थि तथा बर्तनों के साथ दफनाया गया था। शवों को इस प्रकार गाड़ने की दोनों विधियाँ कब्रिस्तान 'एच' के दफीनों में पाई गई हैं। उपलब्ध प्रमाणों के आधार पर यह सिद्ध नहीं होता कि इनमें मनुष्यों का वध किसी महान् व्यक्ति की मृत्यु के उपलक्ष्य में किया गया था। इस प्रकार की सामूहिक नरबलि का उदाहरण केवल सर लियोनार्ड वूली को ईराक में 'उर' नामक खंडहर की 'राजकीय-कब्रों' (King's Graves) में मिला था। इस अस्थि समुदाय के मिले हुए बर्तनों की बनावट के आधार पर वत्स महाशय ने इसका काल

ई पू १२ से ई पू २७ तक निश्चित किया था।

प्रागैतिहासिक कब्रिस्तान

हड़प्पा की खुदाई में दो प्रागैतिहासिक कब्रिस्तान उपलब्ध हुए थे। ये दोनों कब्रिस्तान मजहर के उस पिछले भाग में स्थित हैं जो पुरातत्त्व-संग्रहालय और टीला 'एबी' के बीच पड़ता है (फलक १)। इस क्षेत्र की सर्वसाधारण ऊँचाई समुद्रतल से ५८ फुट और आस-पास के खेतों से ८ फुट के लगभग है। दोनों कब्रिस्तानों में जो खनन हुआ उसका संक्षिप्त विवरण आगे 'शव-विसर्जन' नाम अध्याय में दिया जायगा।

२

सिंधु-सभ्यता के अन्य केन्द्र

हड़प्पा के अतिरिक्त मोहेंजो-दड़ो और चन्हुदड़ो सिन्धु-सभ्यता के दो और प्रधान केन्द्र थे। इस पुस्तक में इन दोनों स्थानों से प्राप्त साक्ष्य का भी प्रकरणवश स्थान-स्थान पर उल्लेख किया गया है। अतः पाठकों के परिचय के लिये इनका भी संक्षिप्त विवरण नीचे दिया जाता है।

मोहेंजो-दड़ो

मोहेंजो-दड़ो जिसका शब्दार्थ 'मुर्दों का टीला' है सिंध के लारकाना जिले में कराची-लाहौर रेलवे लाइन पर डोकरी स्टेशन से सात मील की दूरी पर स्थित है। यहाँ दूर में कई टीले हैं। इनमें सबसे ऊँचा टीला जिसे 'स्तूप-टीला' (Stupa Mound) नाम से निर्दिष्ट किया गया है ७० फुट ऊँचा होने के कारण दर्शक का दूर से ही अपनी ओर आकृष्ट करता है। बाकी टीले इसके पूर्व हैं, और इनकी ऊँचाई आस-पास के खेतों से ४ से ५ फुट तक ऊपर उठी है। टीलों से घिरा हुआ सारा क्षेत्र २४० एकड़ के लगभग है परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि प्राचीन काल में नगर टीलों की आधुनिक सीमाओं के बाहर भी बहुत दूर तक फैला हुआ था (फलक २)।

'स्तूप टीला' की चोटी पर कुषाण काल के एक बौद्ध-स्तूप और मठ के भग्नावशेष हैं। टीले का उत्तरी भाग 'एस-डी' क्षेत्र और दक्षिणी भाग 'एल' क्षेत्र के नामों से निर्दिष्ट है। ऐसा प्रतीत होता है कि प्रारम्भ में इस टीले के चारों ओर एक प्राकार था जिसके प्रमाण डाक्टर ह्वीलर को सन् १९५० की खुदाई में स्थान-स्थान पर दृष्टिगोचर हुए। सम्भवतः मोहेंजो-दड़ो के खंडहर का यह भाग जो अब 'स्तूप टीला' के रूप में उभार पाता है नगर का राजगढ़ था जिसमें देश का सबसे बड़ा शासक रहता था। इसमें सन्देह नहीं कि सुमेरियन शासकों की तरह यह शासक भी धर्म और शासनसत्ता का एकमात्र सर्वोच्च अधिकारी था। इसकी पुष्टि में काफी प्रमाण हैं कि यह गढ़ शासक के रहने का केवल सुदृढ़ निवास-स्थान ही नहीं किन्तु एक प्रकार का प्राकार-वेष्टित गढ़ मंदिर भी था जिसमें सिन्धु देश का सर्वोच्च देवता और मनुष्य-रूप में उसका प्रतिनिधि अर्थात् राजा एकत्र निवास करते थे।

बाकी तीन टीले जिनका क्षेत्रफल 'स्तूप-टीला' के क्षेत्रफल से कई गुणा अधिक है पूर्व की ओर फैले हैं। इनको यथाक्रम टीला 'डी-के' टीला 'एच-आर' और टीला 'वी-एस' के नामों से निर्दिष्ट किया गया है। ये भाग नागरिक वैयक्तिक एवं सार्वजनिक

कारणों से उस समय इस प्रान्त की रमणीकता भी उसका विशद वर्णन हड़प्पा की जलवायु के वर्णन-प्रसंग में ऊपर कर दिया है। मालूम होता है कि जलवायु में जो इस प्रकार का दारुण परिवर्तन हुआ वह चौथी शती ई० पू० के पहले ही हो चुका था। इसका प्रमाण इस बात से मिलता है कि इस शती में भारत से लौटते समय जब सिकन्दर की सेना मकरान में से गुजरी तो यह इलाका पहले ही मरुस्थल बन चुका था क्योंकि इसे पार करने में यूनानी सेना का बहुत-सा भाग नष्ट हो गया।

नद और नदियाँ—इस समय सिंध प्रान्त को केवल सिन्धुनद ही सींचता है। परन्तु बारह सौ वर्ष पहले जब अरब लोगों ने यहाँ पहला आक्रमण किया तो इस भूमि में दो प्रतिद्वन्द्वी नद बहते थे। पश्चिम में सिन्धु था और पूर्व में महामिहरान जिसका दूसरा नाम हकड़ा या नहियाह भी था। सातवीं से चौदहवीं शती ईसवी तक ये दोनों नद भिन्न भिन्न प्रवाहों में बहते रहे। वह समाज जल जो उत्तर से पंजाब के पाँचों दरिया और पूर्व से घग्गर (प्राचीन सरस्वती) और चिटांग (प्राचीन दृषद्वती) नदियाँ लाती थी पूर्वोक्त दोनों नदों में बँट जाता था। एक दूसरे के समानान्तर बहते हुए ये दोनों नद अपनी-अपनी धाराओं को स्वतंत्र रूप से अरब सागर में विसर्जन करते थे। पता नहीं कि ताम्रयुग से लेकर अरब आक्रमण तक के अन्तराल में इन नदों के प्रवाहों में क्या-क्या परिवर्तन हुए। ऐसा जान पड़ता है कि मोहेंजो-दड़ो के अधिनिवासी सिन्धुनद की वार्षिक बाढ़ों के आतंक से अतीव भयभीत रहते थे क्योंकि इससे बचने के लिए उन्होंने मकानों के नीचे कच्ची मिट्टी के बड़े-बड़े मराव डाले थे जिससे बाढ़ का पानी ऊपर न आ जाए।

सिन्धुनद के पाट का उभार—वार्षिक बाढ़ों के कारण सिन्धुनद में कीच की जो अनन्त राशि बहकर आती थी वह नदी के पाट तथा आस पास के तटवर्ती भूभाग में जमती गई। कई शताब्दियों की निरवच्छिन्न प्राकृतिक प्रतिक्रिया के फलस्वरूप नदी का पाट और किनारों के साथ का प्रांत ऊपर को उठ गया। प्रकृति का यह खेल धीमा होने पर भी निठुरता से काम कर रहा था। जैसे-जैसे शताब्दियाँ बीतती गई भूगर्भस्थ पानी की तह ऊपर को उठती गई और प्राचीन स्तरों के मकान जो पहले पानी की तह के ऊपर थे धीरे धीरे पानी की उठती हुई तह के नीचे डूबते गये। यही कारण है कि मोहेंजो-दड़ो और चन्हुदड़ो के टीलों के नीचे जो प्राचीनतम आबादियों के मकान हैं वे अब सभी जलमग्न हैं। इस समय भूगर्भस्थ पानी की तह पाँच हजार वर्ष पहले की तह से १ से २ फुट तक ऊपर उठ गई है।

खण्डहर और उनकी खुदाई—यद्यपि मोहेंजो-दड़ो के खण्डहर सिंध के अधिकारियों और पुरातत्त्व विभाग के अध्यक्षों को चिरकाल से मालूम थे उनकी यथार्थ प्राचीनता का ज्ञान उस समय हुआ जब पूना सर्कल के सुपरिंटेंडेंट श्री राखलदास बनर्जी

ने सन् १९२२-२३ में यहाँ खुदाई का सूत्रपात किया। तदनन्तर श्री माधोस्वरूप वत्स और श्री काशीनाथ दीक्षित ने १९२३-२४ और १९२४-२५ में यहाँ खनन कराया। जब इसकी प्रागैतिहासिक प्राचीनता का पूर्ण ज्ञान हो गया तो भारत-पुरातत्त्व विभाग के तत्कालीन डायरेक्टर जनरल सर जान मार्शल ने १९२५-२६ के शीतकाल में मर्केन-मजिस्ट्रेटों के सहयोग से बड़े पैमाने पर काम शुरू कराया। इन सहयोगियों में हार्ग्रीव्स, क. न. दीक्षित, वत्स, सनाउल्लाह आदि पुरातत्त्वज्ञ सम्मिलित थे। इस खुदाई का विशद वर्णन मार्शल-सम्पादित "मोहेंजो-दड़ो एण्ड दि इंडस वैली सिविलिजेशन" नाम की पुस्तक में दिया हुआ है। सन् १९२६-२७ में डाक्टर ई. मैके की निदेशक के रूप में नियुक्ति हुई। उन्होंने १९३१ तक मार्शल के काम को चालू रखा। इस परिशिष्ट खनन का विस्तृत वर्णन "फर्दर एक्सकेवेशन्स एट मोहेंजो-दड़ो" नामक उनकी पुस्तक में सन्निहित है।

मोहेंजो-दड़ो के टीलों में भिन्न-भिन्न काल की सात आबादियों के अवशेष मिले हैं, जो टीलों की चोटी से लेकर पानी की सतह तक व्याप्त हैं। उत्खननकर्ताओं ने इन सात आबादियों को 'प्रारम्भिक युग', 'मध्ययुग' और 'अन्तिम-युग' नामक तीन कालों में विभक्त किया है। इनमें से हर काल के तीन अवान्तर भाग हैं। सात स्तरों में से ऊपर के तीन स्तरों के भवनादिक बहुत घटिया हैं और इस बात का समर्थन करते हैं कि इस अन्तिम काल में नगर तीव्र गति से अवनति की ओर अग्रसर हो रहा था। पूर्वोक्त तीनों कालों का सविस्तर वर्णन नीचे 'सिन्धु-सभ्यता का काल-निर्णय' नाम अध्याय में किया गया है।

चन्हुदड़ो

मोहेंजो-दड़ो और हड़प्पा के उपरान्त चन्हुदड़ो सिन्धु-सभ्यता का तीसरा केन्द्र था। इसके खण्डहर मोहेंजो-दड़ो से मील दक्षिणपूर्व सिन्ध के नवाबशाह जिले में विद्यमान हैं (फलक ४)। स्थानीय दन्तकथा के अनुसार इसका यह नाम चन्हुओं और दोरियों नाम की दो जातियों के नाम पर पड़ा था। परन्तु इन जातियों के सम्बन्ध में इससे अधिक और कुछ ज्ञात नहीं है। ईसा पूर्व तीसरी सहस्राब्दी में सिन्धुनद जो अब चन्हुदड़ो से बारह कोस पश्चिम में है नगर के दामन में बहता था। वहाँ से १७ मील दूर बलूचिस्तान की सीमा पर कीर्थर पर्वतश्रेणी है। इसमें जो दर्रा है उसमें से होकर सिन्ध के लोग स्थल-मार्ग से ईरान आदि देशों से व्यापार करते थे। आज भी यह दर्रा पहले की तरह इसी काम में आता है। इस प्रकार जल तथा स्थल मार्गों के द्वारा अन्य देशों से सम्बद्ध होने के कारण प्राचीन चन्हुदड़ो अवश्य ही एक प्रसिद्ध वाणिज्य केन्द्र था।

(फलक ४)। सन् १९२८ में जब श्री मजूमदार ने यहाँ खुदाई कराई तो उन्हें तीन संस्कृतियों के अवशेष मिले। नीचे की तह में हड़प्पा की संस्कृति थी अनन्तर झूकर की और सबसे ऊपर इण्डो-ससानियन संस्कृति के चिह्न थे। झूकर के लोग यद्यपि निर्धन थे तथापि अपनी वैयक्तिक सभ्यता के स्वामी थे। उनकी कुम्भकला उनकी मुद्राएँ और अन्य वस्तुएँ हड़प्पा-संस्कृति की वस्तुओं से नितान्त भिन्न थीं। डा० मैके के विचार में चन्हुदड़ो के टीला में झूकर-संस्कृति के लोग १० ई० पू० के लगभग निवास करते थे। इस समय यह अनुमान लगाना कठिन है कि इन लोगों का मूल स्थान कहाँ था जहाँ से ये चन्हुदड़ो आए।

झांगर-संस्कृति—इसे झांगर-संस्कृति इसलिये कहते हैं कि यह सर्वप्रथम सिंध में झांगर नाम के खंडहर की खुदाई में श्री मजूमदार को उपलब्ध हुई थी। यह स्थान चन्हुदड़ो के पश्चिमोत्तर में ४१ मील की दूरी पर है।

चन्हुदड़ो का महत्त्व—डा० मैके की अध्यक्षता में अमेरिकन एक्सपेडीशन ने चन्हुदड़ो में जो खुदाई कराई उससे पुरातत्त्व सम्बन्धी अनन्त सामग्री मिली। इसमें सिन्धु-युग की मुद्राएँ, मुद्रा-छाप, पशु और मनुष्यों की पार्थिव मूर्तियाँ, मिट्टी के खिलौने आदि विविध वस्तुएँ सम्मिलित थीं। इनके अतिरिक्त ताँबे और काँसे के अस्त्रोपकरण और बर्तन तथा पत्थर, शंख, हाथीदाँत आदि के नानाविध पदार्थ थे। परन्तु सबसे अधिक रोचक उपलब्धि जो यहाँ हुई वह रंगीन चित्रित बर्तनों के खंड थे जिन पर कई भाँति के विलक्षण चित्र जो हड़प्पा और मोहेंजो-दड़ो में नहीं मिले अंकित थे।

डा० मेके की खुदाई से टीला नं० २ में तीन भिन्न-भिन्न संस्कृतियों के अवशेष दृष्टिगोचर हुए। सबसे नीचे के स्तर में हड़प्पा की सभ्यता के अवशेष मिले जो तीन कालों से सम्बन्ध रखते थे। इसके ऊपर झुकर संस्कृति और तदनन्तर झांगर संस्कृति के अवशेष थे। एक छोटा भाग जो टीले की दक्षिण-पश्चिमी ढलान में २८.२ फुट की गहराई तक खोदा गया उससे पता चला कि हड़प्पा संस्कृति के प्रारम्भिक और प्राचीन अवशेष भूगर्भस्थ पानी की तह के नीचे भी व्याप्त थे। इस तह के नीचे खुदाई कराना असम्भव था। मोहेंजो-दड़ो के टीलों में भी प्राचीन स्तर के नीचे के अवशेष इसी प्रकार असम्भव थे।

टीला नं० २ में डा० मेके को कई बाढ़ों के चिह्न मिले जो भिन्न-भिन्न स्तरों से सम्बन्ध रखते थे। मोहेंजो-दड़ो के टीलों में भी दो प्रबल बाढ़ों के निशान पाए गये थे। ये दोनों प्राचीन नगर एक ही नद के तट पर परस्पर [illegible] मील के अन्तर पर स्थित थे। परन्तु यह कहना कठिन है कि जिन बाढ़ों से एक नगर को हानि हुई उनसे ही दूसरे को भी हुई होगी।

चन्हुदड़ो में हड़प्पा संस्कृति काल को डा० मेके ने ऊपर से नीचे की ओर (अर्थात् विलोम विधि से) तीन अवान्तर कालों में बाँटा है। इनमें काल १ और २ के मध्य में चार फुट का अन्तर है, जिससे मालूम होता है कि इन दोनों आबादियों के बीच बहुत काल बीत चुका था। हड़प्पा—२ काल की संस्कृति के अवशेषों से पता लगता था कि इस समय के लोगों को नगर-योजना का कुछ ज्ञान था जो कि परवर्ती हड़प्पा—१ के लोगों को नहीं रहा।

मोहेंजो-दड़ो और हड़प्पा की अपेक्षा चन्हुदड़ो यद्यपि बहुत छोटा शहर था तथापि यह नाना प्रकार की शिल्प कलाओं का केन्द्र था। यहाँ पत्थर के मनके, मुद्राएँ, तोल और, हड्डी, घोंघा, हाथीदाँत आदि की भाँति-भाँति की वस्तुएँ तथा सीप के बटन, काँच के फूल, बटन, काँटे आदि बनते थे। पत्थर, घोंघा, हाथीदाँत आदि पदार्थों के अवस्थित होने और अधबनी अनेक वस्तुएँ जो इन टीलों में मिली बतलाती हैं कि चन्हुदड़ो व्यापार का केन्द्र था और वाणिज्य वस्तुएँ यहीं से बाहर भेजी जाती थीं।

चन्हुदड़ो के टीलों में सिन्धु-सभ्यता की ही प्रधानता पाई गई थी। डा० मेके के अनुसार इस सभ्यता के निर्माता यहाँ तीन सौ वर्ष (ई० पू० २९ ०–२६) तक आबाद रहे। इनकी पक्की ईंटों की इमारतें २ फुट की गहराई के नीचे अब भी पानी की तह के अन्दर छिपी हैं। तत्पश्चात् यहाँ झुकर और झांगर नाम की दो विलक्षण संस्कृतियाँ अस्तित्व में आईं। उनका कथन है कि ये दोनों संस्कृतियाँ सिन्धु-सभ्यता के पतन और आर्य-सभ्यता के प्रारम्भ के मध्यवर्ती अन्तःकाल से सम्बन्ध रखती हैं।

झुकर-संस्कृति—झुकर का खंडहर लाड़काना शहर से ८ मील पश्चिम में है

पुस्तक के पाँचवें अध्याय में पर्याप्त प्रकाश डाला गया है।

सिन्ध और बलूचिस्तान में सिन्धु-सभ्यता के अतिरिक्त और भी कतिपय संस्कृतियों के चिह्न मिले हैं। सिन्ध की संस्कृतियों में आम्री, झुकर और झांगर और बलूची संस्कृतियों में क्वेटा, ज़ोब, कुल्ली-मेही, नाल और शाहीटुम्प वर्णनीय हैं।

मनुष्य की ताम्रयुग तक प्रगति—उचित होगा कि यहाँ संक्षेपतः इस बात का उल्लेख भी किया जाए कि वन-मानस दशा से प्रगति करता हुआ मनुष्य किस प्रकार सभ्यता के द्वारभूत ताम्रयुग तक पहुँचा। ताम्रयुगीन उन संस्कृतियों का वर्णन करना भी प्रासंगिक होगा जो पश्चिमी एशिया में सिन्धु-सभ्यता की समकालीन थीं।

इस भूगोल पर मनुष्य के अस्तित्व का प्रमाण उसके बनाए हुए पत्थर के उपकरण हैं। इनके अतिरिक्त पाषाण युग के मनुष्य की खोपड़ियाँ तथा शरीर के इतर अंग भी मिले हैं। प्रारम्भिक पाषाण युग जो दस लाख वर्ष के लगभग लम्बा था असभ्य मनुष्य की सामूहिक आयु में सबसे लम्बा विकासकाल था। इसमें मनुष्य असभ्यता की दशा से आगे नहीं बढ़ा। इस दशा में उसकी कृतियाँ केवल कतिपय बेडौल और बेडौल पत्थर के उपकरण थे जिनसे वह शिकार करता, पशुओं से लड़ता और खाने के लिये कन्द-मूल उखाड़ता था। आदि-पाषाण युग में वह वन-मानस की दशा में ही रहा। इसके नीचे का जबड़ा गोरिला की तरह बाहर निकला हुआ और मस्तिष्क अविकसित एवं विचारशक्तिहीन था। घर बनाकर स्थायी रूप से रहने का उसे ज्ञान नहीं था न ही उसे पशुपालन व मिट्टी के बर्तन बनाने का ज्ञान था। पशुवत् असभ्य दशा के इस लम्बे काल में वह केवल आखेट तथा कन्दमूल से ही जीवन निर्वाह करता रहा। कृषि ज्ञान उसके उत्तराधिकारी नव-पाषाण युग के मनुष्य का दीर्घ काल-व्यापी अनुभव-जन्य मन्द आविष्कार था।

पुराण-पाषाण युग के अन्त पर ईसा पूर्व १ वर्ष के लगभग असभ्य मनुष्य के मस्तिष्क में एक विचित्र विकास हुआ जिससे उसने पुराण युग से नवीन पाषाण युग में प्रवेश किया। अब वह जो पाषाण के उपकरण बनाने लगा वे न केवल पहले से उत्कृष्ट ही थे किन्तु नाना विध भी। ये हथियार सुघड़ और घटे हुए होने के कारण चमकदार भी थे। इस समय से लेकर सभ्यता के शिखर पर आरूढ़ होकर वह तीव्र गति से उन्नति करने लगा। नव-पाषाण युग के पश्चात् अर्थात् धातु सहस्राब्दी के मध्य में इसने कृषि करना सीखा और आखेट के घुमक्कड़ जीवन को छोड़ कर स्थायी ग्राम जीवन को अपनाया। कृषि-ज्ञान के चमत्कार ही नवीन जीवन की नव स्थापना ने उसे पशुपालन और मिट्टी के बर्तन बनाना सिखाया। पशुपालन और कुम्भ कला कृषि-जीवन के अपरिहार्य अंग थे।

कपास की खेती और गेहूँ के पौधों की उपलब्धि और अधिक मात्रा में इनके उत्पा

सिन्धु प्रान्त से सिन्धु-सभ्यता का प्रसार पश्चिमोत्तर की ओर ही नहीं अपितु पूर्व दक्षिण की ओर भी हुआ। इस तथ्य का प्रमाण कोटला-निहंग, रोपड़, रंगपुर और लोथल आदि प्रागैतिहासिक स्थानों की उपलब्धियों से होता है जो इस सीमा के बाहर पाए गये हैं। इनमें प्रथम दो स्थान पूर्वी पंजाब में और दूसरे दो काठियावाड़ में हैं। कुछ समय हुआ पुरातत्त्व विभाग के अनुसन्धान से सतलज और घग्गर (प्राचीन सरस्वती) नदियों के तटों पर कई ताम्रयुगीन भग्नावशेष मिले थे। परन्तु अभी तक इस विभाग की ओर से इस उपलब्धि पर कोई विस्तृत विवरण प्रकाशित नहीं हुआ। आशा की जा सकती है कि गंगा के मैदान तथा उत्तरी भारत में विस्तीर्ण प्राचीन टीलों का यदि वैज्ञानिक विधि से अनुसन्धान किया जाए तो इस भूखण्ड में भी सिन्धु-सभ्यता के अवशेष अवश्य मिलेंगे। सम्भव है कि इस अन्वेषण से उस मध्यकाल पर प्रकाश पड़े जो सिन्धुयुग तथा मौर्यकाल के अन्तराल में पड़ता है।

स्मरण रहे कि रंगपुर और रोपड़ में सिन्धु-सभ्यता का जो रूप मिला है वह इस सभ्यता की अवनति का प्रतीक है। इसमें इसके यौवन काल की कला विलक्षणताओं और उन्नत-रुचिमा का सर्वथा अभाव है। मालूम होता है कि उस समय जो लोग यहाँ रहते थे वे हड़प्पा और मोहेंजो-दड़ो की उत्कृष्ट शिल्पकला को बिलकुल भूल चुके थे। रंगपुर और रोपड़ में जो प्राचीन वस्तु सामग्री मिली है उसमें न तो सिन्धु-मुद्राएँ हैं और न ही स्त्री पुरुषों तथा पशुओं की मूर्तियाँ। उत्तम शैली की चित्रित मृण्मयभाण्ड, चित्तीदार मनके और हाथीदाँत के विविध भूषणों और अलंकरणों का भी एकदम लोप है। ऐसा प्रतीत होता है कि जब ये लोग यहाँ आकर बसे तो उनका सम्बन्ध इस सभ्यता के केन्द्रों (हड़प्पा और मोहेंजो-दड़ो) से चिरकाल से टूट चुका था और वे अपनी संस्कृति की उत्कृष्ट बातों को सर्वथा भूल चुके थे। सम्भवतः वे उन लोगों की सन्तान थे जिनके पूर्व-पुरुष कई पीढ़ियाँ पहले सिन्धु साम्राज्य के पतन पर जन्मभूमि छोड़ गये [illegible] की तलाश में इधर आ गए थे। पूर्व-पुरुषों के सिन्धु देश त्यागने और उनके वंशजों के रंगपुर और रोपड़ पहुँचने में लम्बा समय लगा होगा जिसमें वे अपनी सभ्यता की उत्कृष्ट कला-शैलियों और रुचियों को भूल गये।

इसमें सन्देह नहीं कि सिन्धु सभ्यता की कई रूढ़ियाँ और कला-परम्पराएँ देश की भौगोलिक सीमाओं को लाँघ कर मेसोपोटेमिया, ईरान और भूमध्य-सागर के द्वीप-द्वीप तक भी जा पहुँचीं। मेसोपोटेमिया में प्राप्त ३१ सिन्धु मुद्राएँ और अन्य विविध भारतीय वस्तुएँ इस बात की साक्षी हैं कि सारगनी-काल से लेकर बाबिल प्रभुत्व के आगमन और उसके बाद तक भी सिन्धु देश का मेसोपोटेमिया से सम्पर्क रहा। यही निष्कर्ष उन भारतीय वस्तुओं और अभिप्रायों से निकल सकता है जो तूना हिसार, सियालक आदि ईरानी टीलों से उपलब्ध हुई हैं। इस विषय पर

पुस्तक के पाँचवें अध्याय में पर्याप्त प्रकाश डाला गया है।

सिन्ध और बलूचिस्तान में सिन्धु-सभ्यता के अतिरिक्त और भी कतिपय संस्कृतियों के चिह्न मिले हैं। सिन्ध की संस्कृतियों में आम्री, झूकर और झाँगर और बलूची संस्कृतियों में क्वेटा, कोयटा, कुल्ली-मेही, नाल और आहीदुम्ब वर्णनीय हैं।

मनुष्य की ताम्रयुग तक प्रगति—उचित होगा कि यहाँ संक्षेपतः इस बात का उल्लेख भी किया जाए कि वन-मानस दशा से प्रगति करता हुआ मनुष्य किस प्रकार सभ्यता के द्वारभूत ताम्रयुग तक पहुँचा। ताम्रयुगीन उन संस्कृतियों का वर्णन करना भी प्रासंगिक होगा जो पश्चिमी एशिया में सिन्धु-सभ्यता की समकालीन थी।

इस भूतल पर मनुष्य के अस्तित्व का प्रमाण उसके बनाए हुए पत्थर के अस्त्रोपकरण हैं। इनके अतिरिक्त पाषाण युग के मनुष्य की खोपड़ियाँ तथा शरीर के इतर अंग भी मिले हैं। प्रारम्भिक पाषाण युग जो दस लाख वर्ष के लगभग लम्बा था असभ्य मनुष्य की सामूहिक आयु में सबसे लम्बा विकासकाल था। इसमें मनुष्य असभ्यता की दशा से आगे नहीं बढ़ा। इस दशा में उसकी कृतियाँ केवल कतिपय बेडंग और नुकीले पत्थर के अस्त्रोपकरण थे जिनसे वह शिकार करता, पशुओं से लड़ता और खाने के लिये कन्द-मूल उखाड़ता था। आदि-पाषाण युग में वह वन-मानस की दशा में ही रहा। इसके नीचे का जबड़ा गोरिला की तरह बाहर निकला हुआ और मस्तिष्क अविकसित एवं विचारशक्तिहीन था। घर बनाकर स्थायी रूप से रहने का उसे ज्ञान नहीं था, न ही उसे पशुपालन व मिट्टी के बर्तन बनाने का ज्ञान था। पशुवत् असभ्य दशा के इस लम्बे काल में वह केवल आखेट तथा कन्दमूल से ही जीवन निर्वाह करता रहा। कृषि-ज्ञान उसके उत्तराधिकारी नव-पाषाण युग के मनुष्य का दीर्घ काल-व्यापी अनुभव-जन्य नया आविष्कार था।

पुराण-पाषाण युग के अन्त पर ईसा पूर्व १ ... वर्ष के लगभग असभ्य मनुष्य के मस्तिष्क में एक विचित्र विकास हुआ जिससे उसने अपने बुद्धिबल से नवीन पाषाण युग में प्रवेश किया। अब वह जो पाषाण के अस्त्रोपकरण बनाने लगा वे न केवल पहले से उत्कृष्ट ही थे किन्तु नानाविध भी। ये हथियार सुघड़ और घुटे हुए होने के कारण चमकदार भी थे। इस समय से लेकर सभ्यता के राजपथ पर आरूढ़ होकर वह तीव्र गति से उन्नति करने लगा। नव-पाषाण युग के पश्चात् अर्थात् छठी सहस्राब्दी के मध्य में इसने कृषि करना सीखा और आखेट के पुरुष जीवन को छोड़कर स्थायी ग्राम जीवन को अपनाया। कृषि ज्ञान के अनन्तर ही नवीन जीवन की दाम स्थायी ने उसे पशुपालन और मिट्टी के बर्तन बनाना सिखाया। पशु-पालन और कुम्भकला कृषि-जीवन के अपरिहार्य अंग थे।

पश्चिम की आदिम ... के पौधों की उपलब्धि और अधिक मात्रा में इनके उगने

कठिन है। क्या वे भारत की मूल जातियों में से थे अथवा विदेशीय इसका निर्णय तभी हो सकेगा जब इनमें से किसी एक पक्ष के सम्बन्ध में कोई अकाट्य प्रमाण उपलब्ध होगा। कई भारतीय विद्वान् इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि ये लोग आर्य थे। वाडल महोदय ने तो यह भी कह दिया है कि प्रागैतिहासिक काल में सिन्धु देश सुमेरियन लोगों का उपनिवेश था। मार्शल महोदय के मत में पूर्वोक्त दोनों मत निराधार हैं क्योंकि अब तक कोई ऐसा प्रमाण नहीं मिला जो इनमें से किसी पक्ष का समर्थन कर सके। इस विषय में जो थोड़ा-बहुत ज्ञान हमें प्राप्त होता है वह निम्न लिखित दो प्रमाणों के आधार पर आश्रित है—(१) हड़प्पा और मोहेंजो-दड़ो से प्राप्त ताम्रयुगीन मनुष्य के शरीर-पंजर और खोपड़ियाँ (२) मोहेंजो-दड़ो में उपलब्ध पत्थर की मानव मूर्तियाँ।

नर वंश शास्त्रियों का निर्णय है कि मोहेंजो-दड़ो की खुदाई में जो मानव अस्थि शेष मिले उनमें चार जातियों का मिश्रण था जैसे प्रोटो-आस्ट्रोलायड (आस्ट्रेलिया की मूल जाति के समान) एल्पाईन (आल्पस पर्वतावली की मूल जाति के समान) भूमध्यसागर-तट-निवासी (मेडिटेरेनियन) और मंगोलियन जाति के समान अवयव। इस विषय में मार्शल महोदय लिखते हैं—"आर्यजाति की अपेक्षा सिन्धु सभ्यता के लोग नाटे कद, स्याह चमड़ी और चपटी नाक के थे और सम्भवतः भारत की मूलजातियों में से किसी एक के थे। हड़प्पा के मानव-कपालों की पड़ताल से डा० गुहा को कब्रिस्तान 'एच' में दो प्रधान मानव-जातियों के अस्तित्व के प्रमाण मिले। इनमें एक जाति के लोग दीर्घ-कपाल थे। इनके अस्थिशेष कब्रिस्तान 'एच' में दूसरे स्तर की मटकों तथा खेत के सामूहिक दफीने में मिले थे। दूसरी जाति के अवशेष कब्रिस्तान एच के कलमीड़ों में पाए गये। ये लोग भारत की मूलजातियों में से किसी एक से सम्बन्ध रखते थे। इनके सिर छोटे तथा गोल थे और इनकी मस्तिष्क शक्ति निकृष्ट थी। डा० गुहा का पूर्वोक्त निर्णय केवल कब्रिस्तान 'एच' के लोगों की खोपड़ियों की जाँच पर ही आश्रित है जो सिन्धु-सभ्यता के अवनति-काल में हड़प्पा आकर बस गये थे। इनसे पहले लोगों की जातीयता के विषय में अभी तक कुछ पता न लग सका। सन् १९१७ में हड़प्पा-संस्कृति के निर्माताओं का जो कब्रिस्तान (आर ३७) मिला उसमें साठ के लगभग मानव अस्थि-पंजर और उनके साथ गड़े हुए मिट्टी के बर्तन तथा अन्य अवशेष पाए गये थे। इन अस्थियों का वैज्ञानिक अध्ययन करके जब तक विशेषज्ञ अपना निर्णय प्रकट नहीं करते इन मृतकों की जातीयता के विषय में क्या

१ वत्स—एक्सकेवेशन्स एट हड़प्पा भा १ पृ १८७-२ २ और भा २, फलक ४ ।

पोह करना व्यर्थ है। इसमें सन्देह नहीं कि 'मार १७ कब्रिस्तान में मिले हुए अस्थिशेष उन लोगों के हैं जो सिन्धु-सभ्यता के निर्माता थे।

मोहेंजो-दड़ो के नागरिकों में कई जातियों का मिश्रण था। इसका समर्थन वहाँ से उपलब्ध पत्थर तथा मिट्टी की मनुष्य-मूर्तियों से भी होता है। इन मूर्तियों में दो मामठ-कपाल एक दीर्घ-कपाल और एक ही मध्य-कपाल मान का है। मक्षि की नर्मदा में मध्यमान की मूलगति के मागा की मुख-मुद्रा की झलक है। स्मरण रहे कि पाषाण-मूर्तियाँ जिनका ऊपर उल्लेख किया गया है उत्तम शिल्पकला के उदाहरण नहीं हैं इसलिये उनके कपालों के साक्ष्य को विशेष महत्त्व देना अनुचित है। इस प्रसंग में मार्शल लिखते हैं कि "स्त्रीय पाषाण-मूर्तियां तथा कपालों के साक्ष्य को बहुत सावधानी से स्वीकार करना चाहिए।

ऊपर निर्देश किया गया है कि मोहेंजो-दड़ो की आबादी में चार जाति के लोगों का मिश्रण था। परन्तु पता नहीं कि इनमें से किस जाति के लोगों का प्राधान्य था और कौन लोग *सिन्धु-सभ्यता के मूल कर्ता थे। मार्शल की सम्मति में यह सभ्यता* किसी एक जाति का आविष्कार नहीं था किन्तु कई जातियों के सहयोग का फल था। जहाँ तक सिन्ध और पंजाब की जनसंख्या का प्रश्न है यह सदा से संकीर्ण चली आई है और सम्भवतः प्रागैतिहासिक काल में भी यह इसी प्रकार की थी।

सिन्धु-सभ्यता की उपलब्धि के कुछ वर्ष पहले डा० हाल ने लिखा था कि सुमेरियन जाति का मूलस्थान मेसोपोटेमिया के पूर्व में था। उनके मत में यह जाति सम्भवतः भारत की द्रविड़ जाति की ही शाखा थी। द्रविड़ जाति अब दक्षिण-भारत में ही सीमित है। परन्तु एक समय यह सारे भारत पर जिसमें पंजाब सिन्ध और बलूचिस्तान भी सम्मिलित थे फैली थी। इस बात की पुष्टि में वे यह प्रमाण देते हैं कि बलूचिस्तान के एक प्रदेश में अब भी द्रविड़ भाषा की वंशज 'ब्राहुई' नामक भाषा बोली जाती है। सन् १९२२ २३ में जब सिन्धु-सभ्यता की उपलब्धि हुई तो डा० हाल *के इस सिद्धान्त को और पुष्टि मिली।*

मार्शल के विचार में डा० हाल का सिद्धान्त रोचक होने पर भी सन्तोषजनक नहीं माना जा सकता। इसमें प्रथम आपत्ति तो यह है कि सुमेरियन और द्रविड़ जातियों के शारीरिक लक्षणों के विषय में भिन्न-भिन्न मत हैं। सर आर्थर कीथ के मत में सुमेरियन दीर्घ-कपाल और उन्नत मस्तिष्क के लोग थे। इस कारण से वे प्राक्पाषाणकाल के निर्माता लोगों अथवा प्रायद्वीप के मेसोपोटेमियन लोगों के समान रूप थे। वे लिखते हैं कि "इन लोगों के सिर बड़े और लम्बे थे। इनकी तुलना मोहेंजो-दड़ो और यूरोप के लोगों से की जा सकती है और उनका मूलस्थान दक्षिण-पश्चिमी एशिया था। सर फ्लिण्डर्स पेट्री भी लिखते हैं कि मूर्तियों के लक्षणों से अनुमान लगाया

४

सिंधु-सभ्यता का काल निर्णय

(स्तर-रचना के आधार पर)

अधिकांश प्रमुख पुरातत्त्ववेत्ताओं का इस विषय में ऐकमत्य है कि सिन्धु-सभ्यता का जीवनकाल ईसापूर्व चौथी सहस्राब्दी से लेकर तीसरी सहस्राब्दी के मध्य तक अर्थात् पन्द्रह सौ वर्ष के लगभग रहा। उनका यह निर्णय प्रधान स्तर-परीक्षा के आधार पर और प्रधान सिन्धु-सुमेरियन सभ्यताओं की परस्पर तुलना पर आश्रित है। उनके विचार में मोहेंजो-दड़ो की अपेक्षा हड़प्पा न केवल प्राचीन ही किन्तु दीर्घजीवी भी था। मोहेंजो-दड़ो के उजाड़ हो जाने पर भी हड़प्पा कुछ शताब्दियों तक जीवित रहा। इस अन्तिम काल में यहाँ एक अज्ञात जाति के लोग आकर बस गये जिनके अवशेष 'कब्रिस्तान-एच' में पाए गये थे।

परन्तु डा० ह्वीलर और प्रो० पिगट मार्शल के पूर्वोक्त काल निर्णय को स्वीकार नहीं करते। उनके विचार में इस सभ्यता का अस्तित्वकाल २५०० से १५०० ईसा पूर्व तक ही हो सकता है। डा० ह्वीलर ने सन् १९४६ में हड़प्पा के टीला 'ए-बी' में स्थित दुर्ग प्राकार की खुदाई कराई थी उसके साक्ष्य पर वे न केवल इसकी आयु को ही कम बतलाते हैं अपितु इस निष्कर्ष पर भी पहुँच जाते हैं कि हड़प्पा का ध्वंस आर्य जाति के हाथ से हुआ था। प्रसंगवश मैं पहले यहाँ दुर्ग-प्राकार की आलोचना करूँगा और तदनन्तर उन बिन्दुओं पर प्रकाश डालूँगा जिनके आधार पर डा० ह्वीलर और प्रो० पिगट सिन्धु-सभ्यता के आरम्भ-काल को ईसा पूर्व तीसरी सहस्राब्दी के मध्य तक ही सीमित रखते हैं।

टीला 'ए-बी' और दुर्ग-प्राकार—प्राकार की उपलब्धि के पहले मार्शल और उनके सहयोगी उत्खननकर्ताओं का विश्वास था कि सिन्धु-सभ्यता का जीवन-काल शान्तिमय रहा। हड़प्पा की खुदाई से प्रायः बीस वर्ष तक लगातार सम्बन्ध रहने के कारण मुझे इन खण्डहरों की भौतिक परिस्थिति के अध्ययन का विशेष अवसर मिला। सन् १९२१ के लगभग टीला 'ए-बी' के चतुर्दिक किनारों की गहरी जाँच से पता लगा कि इसकी ढलानों में कहीं-कहीं बिखरे कच्ची मिट्टी के रोड़े टीले की सतह के ऊपर उठे थे। अधिक ढके रहने के कारण साधारण दर्शक के लिये यह कठिन था कि वह इन रोड़ों को देखकर इस बात का पता लगा लेता कि वे किसी अर्धविहित प्राकार-शृङ्खला के अङ्ग

इस प्राकार के अस्तित्व का आभास हड़प्पा पहुँचते ही ऐसी सुगमता से हो गया था जैसा कि उन्होंने लिखा है अथवा इसका मूल कारण वह सूचना थी जो उनके हड़प्पा पहुँचने ही मैंने उनके सामने उपस्थित की थी।

इस सूचना के आधार पर उन्होंने सन् १९४६ म टीला ए-बी के चारों ओर जो थोड़ी-सी खुदाई कराई उसके फलस्वरूप यह अभेद्य दीवार मीन तक प्रकाश म आई। इसी उपलब्धि की सहायता से उन्होंने मोहेंजो-दड़ो मे 'स्तूप-टीला' के इर्द-गिर्द ऐसे ही प्राकार की खोज की थी।

डा व्हीलर की खुदाई और उसके पहले की बारह वर्ष की खुदाई की परस्पर तुलना करने से हड़प्पा के टीलो की स्तर रचना और उनके काम म महान् विरोध एव अन्तर प्रतीत होता है जैसा कि अधोलिखित समालोचना से स्पष्ट है

दुर्ग प्राकार—डा व्हीलर लिखते हैं कि प्रारम्भ मे कुछ समय तक यहाँ बसने के बाद हड़प्पा क आदि निवासियो न जब इस स्थान को बाढ़िक बाढ़ो का शिकार पाया तो उन्होंने प्राकार बना कर टीला 'ए बी' को दुर्ग के रूप मे बदल दिया । यह प्राकार ? से २ फुट तक ऊँचे पीठ पर प्रतिष्ठित है। पीठ के नीचे १ फुट मोटा चिकनी मिट्टी का तोदा बतलाता है कि उस समय नदी म प्रचड बाढ़ आती थी। उनके मत मे यह प्राकार प्रौढ सिन्धु सभ्यता क आविष्कर्ताओ की पहली कृति थी। पीठ की नींव के नीचे स्तर म १९ म डा व्हीलर को कुछ असाधारण कुम्भकाण्ड मिले थे। उनके विचार म वे उन लोगो की कुम्भकला के अवशेष थे जो इन नवागन्तुको के पहले यहाँ आबाद थे। वे लिखते हैं कि उनकी खुदाई के बाद म 'एच-पी ३' मे न केवल दुर्ग प्राकार का पूर्व इतिहास ही छिपा है किन्तु टीला 'ए-बी' का आद्योपान्त इतिवृत्त भी अन्तर्निहित है।

हम देखना है कि डा व्हीलर का यह दावा परीक्षा की कसौटी पर कहाँ तक सत्य उतरता है। चित्र (फलक ७) म 'ए बी' और 'एफ' दो पड़ोसी टीलो की स्तर रचना का तुलनात्मक विवरण दिया गया है। पुरातत्त्व विभाग ने हड़प्पा मे जो खुदाई कराई थी उसका अधिकाश इन्हीं दो टीलो पर है। आश्चर्य का विषय है कि अपनी रिपोर्ट में डा व्हीलर ने इन टीला पर किय गये पहले अनुसन्धान की सर्वथा उपेक्षा कर दी है। पहली खुदाई श्री दयाराम साहनी की और श्री माधोस्वरूप वत्स की कराई हुई है। इसका विवरण वत्स महोदय की 'एक्सकेवेशन्स एट हड़प्पा' नामक पुस्तक म प्रकाशित है।

---

१ एनशट इण्डिया न ३ पृ ६४।

२ एनशट इण्डिया न ३ पृ ६६।

हड़प्पा टीला ए-बी

दुर्गाकार पीठमंदिर

थे। ऐसा सन्देह उन उत्खननकर्ताओं को भी कभी नहीं हुआ जिन्होंने इस टीले पर कई वर्ष लगातार खुदाई कराई थी। उन्नीसवीं सदी के प्रारम्भ में मेसन और बर्न्स नाम के अंग्रेज यात्रियों ने हड़प्पा के खंडहर देखे। तदनन्तर सदी के मध्य में पुरातत्त्व के अनुभवी पंडित सर अलेक्जेंडर कनिंघम ने वैज्ञानिक रूप से इसका निरीक्षण और खनन किया। सन् १९२६-२७ में मार्शल महोदय ने इन टीलों का परीक्षण किया जब श्री माधोस्वरूप वत्स की अध्यक्षता में खुदाई का काम चल रहा था। सन् १९३१ में जब वत्स महोदय ने दक्षिणी ढाल में इस प्राकार का एक अंश उद्घाटित किया तो इसका यथार्थ स्वरूप एक रहस्य ही बना रहा। अपनी रिपोर्ट में उन्होंने इसे केवल "कच्ची ईंटों का भराव" मान कर ही छोड़ दिया। इस घटना के कई वर्षों के अनन्तर भी किसी को इसके वास्तविक रूप का पता नहीं लगा। सन् १९३७ में इंग्लैंड के प्रसिद्ध पुरातत्त्ववेत्ता सर लियोनार्ड वूली ने जब इन टीलों का निरीक्षण किया तब तक भी यह प्राकार अज्ञात ही था। यद्यपि टीले की उत्तरी सीमा पर कच्ची ईंटों के दो बुर्ज (फलक ६) खड़े थे फिर भी इनके विषय में कभी किसी को सन्देह नहीं हुआ कि ये किसी प्राकार शृंखला के अंश थे। लोग इन्हें टीला 'ए-बी' के उत्तर में केवल असम्बद्ध बुर्जों के रूप में ही देखते रहे।

प्राकार की उपलब्धि—सन् १९३७ में टीला 'ए-बी' की पश्चिमी ढलान में मैंने एक खात खुदाया जिसमें एक मोटी कच्ची दीवार प्रकट हुई जो टीले के साथ-साथ चलती हुई पूर्वोक्त 'ईंटों के भराव' के साथ सम्बद्ध मालूम होती थी। इस उपलब्धि से मुझे सन्देह हुआ कि सम्भवतः प्रारम्भ में यह टीला प्राकार से वेष्टित था। नवीन अनुभव के प्रकाश में टीला 'ए-बी' का सूक्ष्म दृष्टि से परीक्षण करने के अनन्तर मैं इस निश्चय पर पहुँचा कि प्रारम्भ में इस टीले के चारों ओर अवश्य एक प्राकार था।

सन् १९४४ के मई महीने में जब डा० व्हीलर पहली बार हड़प्पा आए तो मैंने उन्हें खंडहर पर के सब प्रकट प्रमाण दिखाए जिनसे प्राकार के अस्तित्व का आभास होता था। दो दिन तक मेरे साथ टीला 'ए-बी' का परीक्षण करने के अनन्तर उन्हें मेरी उपलब्धि पर पूर्ण विश्वास हो गया। मुझे खेद से लिखना पड़ता है कि अपनी रिपोर्ट में उन्होंने इस उपलब्धि के सम्बन्ध में मेरे सहयोग की चर्चा तक नहीं की। वे लिखते हैं—"सन् १९४४ में जब मैं पहली बार हड़प्पा गया तो मुझे यह देखकर आश्चर्य नहीं हुआ कि कई शताब्दियों के अपरिमित प्रयोग से बना वह टीला 'ए-बी' अब भी पीतवर्ण कच्ची ईंटों की मेखला से घिरा हुआ था"[1]। क्या उन्हें

---

१ व्हीलर-एन्शेंट इंडिया न० ३ पृ० ६२।

फलक ६. टीला-एफ खात १ में उत्तरोत्तर आठ स्तरों की बस्तियों के स्तर

फलक १ दुर्ग प्राकार से सटा हुआ पुश्ता दीवार का अंश

आबादियो मे से किसी के भी समकालीन कोई आबादी नही थी क्योंकि टीला 'एफ' की सतह जमीन स रेखा १४१ से ऊँची नही है। विशेषत इस टीले के मुख्य मुख्य स्मारक यथा विशाल धान्यशाला शिल्पियो क निवास गृह गोल चौतरे आदि जो स रेखा १४ के नीचे स्थित है टीला ए-बी' पर दुर्ग-प्राकार बनने के बहुत पहले नष्ट हो चुके थे।

इस अनुसन्धान से केवल एक ही न्याय्य निष्कर्ष निकल सकता है और वह यह कि टीला 'एफ' के उजड जाने पर उत्तर-काल मे दुर्ग-प्राकार की नींव डाली गई थी। जब इसका निर्माण हुआ तो न तो टीला 'एफ' और न ही किसी अन्य निम्नतल प्रदेश पर कोई बस्ती थी। केवल टीला 'ई' ही खण्डहर का दूसरा ऐसा क्षेत्र है जो टीला 'ए-बी के समकालीन हो सकता है क्योंकि इसकी ऊँचाई भी १७१ और १९ स रेखाओ के बीच पडती है।

पूर्वोक्त समालोचना के प्रकाश मे आ व्हीलर की यह कल्पना कि 'दुर्ग प्राकार हडप्पा के आदि निवासियो की परली कृति और इन खण्डहरो के आद्योपान्त इतिहास का प्रतीक है' परीक्षा की कसौटी पर ठीक नही उतरती। वास 'एन्शी १ हडप्पा के न केवल सारे इतिहास का ही प्रतीक नही अपितु इसमे टीला 'ए-बी' के पूरे जीवन की कहानी की भी झलक नही पाई जाती। इस तथ्य का समर्थन प्राकार की रचना तथा अन्य कारणो से जिनका उल्लेख नीचे किया गया है, पुष्ट होता है।

दुर्ग प्राकार जैसे कि ऊपर निर्देश किया गया है १ से २ फुट तक ऊँचे सुदृढ कच्चे पीठ पर स्थित है। मूल मे इसकी चौडाई ४ फुट और आरम्भ मे पूरी ऊँच ई ३१ के लगभग थी। प्राकार और पीठ दुर्ग रक्षा के प्रधान साधन थे। पीठ की साधारण ऊँचाई १ फुट है परन्तु एक स्थान पर जहाँ बाढ के कारण १ फुट गहरा गढा पड गया था इसकी ऊँचाई २ फुट तक है। नींव के प्रसार म बाढ के कारण बना हुआ यह २ फुट गहरा गढा इस बात का साक्षी है कि तत्कालीन बाढे कितनी प्रबल थी। इस पीठ की चोटी पर प्राकार के मूल मे पकी ईटो की उस पुस्ता दीवार का खड है जो कभी प्राकार के कच्चे शरीर पर आवरण-रूप से बनाई गई थी (फलक १)। पुस्ता दीवार का यह खड बतलाता है कि जब दुर्ग बना तो इसकी बाहरी सितह जमीन इस खड क समतल थी। बाढो के आक्रम से बचने के लिये यही सितह सुरक्षा रेखा समझी गई थी।

पीठ और प्राकार दोनो कच्ची ईटो के बने है। प्राकार और चौतरे के सगम स्थान पर टेढी दरार स्पष्ट बतलाती है कि दोनो भिन्न भिन्न काल के है। चौतरा प्राकार की ओर झुका है और अपने सारे भार को उस पर फैंक रहा है। प्रतीत होता

फलक ११ टीला 'एबी'—दुर्ग-प्राकार के नीचे पकी ईंटों के प्राचीनतर वास्तु

है कि यह तथा-कथित 'चौतरा' भरवनी इमारतों को उठाने के लिये नहीं किन्तु प्राकार को थामने के लिये एक पुश्ते के रूप मे बनाया गया था। पीठ के मूल मे तह २६ मे डा व्हीलर को एक विलक्षण कुम्भकला के पात्र मिले थे जिन्हे वे उन लोगो की कृति बतलाते हैं जो सिन्धु-सभ्यता के निर्माताओ के आने से पहले यहाँ आबाद थे। ऊपर दिखाया गया है कि प्राकार के निर्माता हड़प्पा के आदि निवासी नही थे। हड़प्पा-सभ्यता प्राकार निर्माण-काल से एक हजार वर्ष पुरानी है। अब जो पीछे से असाधारण कुम्भ तह उन्हे इस तह मे मिले थे भी उन्हीं लोगो के थे जो प्राकार बनने के पहले यहाँ आबाद थे। इस तथ्य के समर्थक कुछ प्रमाण डा व्हीलर को टीले के पश्चिमोत्तरी कोने पर अपनी खुदाई मे मिले थे। जब उन्होने यहाँ प्राकार के मूल मे खुदाई कराई तो उन्हे कुछ कच्चित इमारतें बुर्ज की नीव के नीचे दबी मिली (फलक ११)। ये इमारतें निस्सन्देह प्राकार के पहले काल की थी। मैंने ऊपर लिखा है कि पकी ईंटो की पुश्ता दीवार १४८ उ रेखा पर प्रतिष्ठित है और किले के बाहर की पिछड़ जमीन उ रेखा १५ की पहुँच मे है। इसलिये दुर्ग निर्माण के समय टीला 'एफ' तथा कछहर के मध्य निचले प्रदेशो पर कहीं आबादी नहीं थी क्योकि ये सब स्थान इन रेखाओ से बहुत नीचे स्थित होने के कारण बाढो के उपद्रवो से आक्रान्त थे। फीके रंग के जो थोड़े से असाधारण ठीकरे डा व्हीलर को तह न २६ मे मिले वैसे ही कुम्भ तह पहली खुदाइयो मे खास कुम्भकला के ठीकरो से मिश्रित बहुत पाए गए थे।

तथा-कथित चौतरा (प्लेटफार्म)—चौतरे के वर्णन प्रसग मे डा व्हीलर लिखते हैं—"पीठ तथा प्राकार से सुसम्बद्ध ११ फुट ऊँचा एक समकालीन कच्चा चौतरा है जो किसी भी भरवनी इमारतो की नीव के लिये बनाया गया था।" उनका यह कथन भ्रान्तिमूलक है। चौतरा प्राकार मे सम्बद्ध नहीं है, किन्तु पृथक् बना है क्योकि दोनो के बीच एक मोटी विभाजक रेखा स्पष्ट दिखाई देती है (फलक ७)। न ही यह चौतरा किसी भी इमारतो की नीव का काम देने के लिये बनाया गया था। किले के भीतर ४ गज लंबे और २ गज चौड़े विस्तृत क्षेत्र पर ११ फुट ऊँचे पर्वताकार प्लेटफार्म के बनाने का क्या तात्पर्य था। बजाय इसके चार पाँच फुट ऊँचा चौतरा काम दे सकता था। और फिर इसकी नीव उ० रेखा १४ पर क्यो रखी गई जब कि बाहर से यह एक महान् पीठ से जिसकी नीव इससे १२ फुट अधिक गहरी है चारो ओर घिरा हुआ था। दूसरी बात यह है कि इसकी चोटी

---

१ एन्शेंट इंडिया न १ पृ ६७।
२ एन्शेंट इंडिया न १ पृ ६५।

उ रेखा १९२६ अर्थात् बाढ़ की पहुँच से ऊपर की रेखा से भी १४ फुट ऊँचे तक पाई गई थी। इस परिस्थिति में चार अथवा पाँच फुट ऊँचा चौतरा सुरक्षा के दृष्टिकोण से पर्याप्त था।

पूर्वोक्त समालोचना के आधार पर मैं समझता हूँ कि व्हीलर महोदय का तथाकथित प्लेटफार्म (चौतरा) किन्हीं इमारतों का उठाने का पीठ नहीं था। यदि ऐसा होता तो टीला 'ए-बी' की पहली खुदाई में इस तह पर कहीं न कहीं यह अवश्य प्रकट होता क्योंकि मध्यवर्ती तथा दक्षिणी ढलवान के भागों में कई स्थान पर खुदाई चौतरे की चोटी से बहुत गहरी हुई है। न ही इसका कोई भाग उन गहरी दरारों में कहीं देखने में आया था जो वर्षा की बौछारों के कारण भी बना करते हैं पास टीले की पूर्वी ढलवान में बनी पड़ी हैं। मेरा अपना अनुमान है कि यह तथाकथित प्लेटफार्म एक महान् पुश्ता था जो प्राकार तथा पीठ को अपने स्थान पर अवश्य रखने के लिये उस समय बनाया गया था जब किले की दीवार बाहरी दबाव से बाहर की ओर झुक रही थी। इस विकट परिस्थिति से बचने के लिये प्राकार के पूर्वी भाग का कुछ भाग जो बाहर की ओर झुका था उतार कर फिर भर दिया गया था जिससे दबाव बाहर की ओर न पड़े और प्राकार को सुदृढ़ करने के लिये यह तथाकथित चौतरा पुश्ते के रूप में उतारे हुए भाग के साथ बना दिया गया था।

यह पर्वताकार पुश्ता प्राकार तथा पीठ का समकालीन नहीं किन्तु उत्तर कालीन है। आवासियों के इस स्तर को डा० व्हीलर को इस पुश्ते की चोटी पर मिले दुर्ग की आयु के अन्तिम काल के अवशेष थे। वे उस समय अस्तित्व में आए जब दुर्ग-आकार ग्राम ध्वस्त हो चुका था। ये दुर्बल और अस्थिर इमारतें इस प्रकार के विशाल और सुदृढ़ दुर्ग के सम्बन्ध में नहीं बनाई गई थीं। इन छः तहों में एक दूसरी के बीच इतना थोड़ा व्यवधान है कि इन चारों तहों की आबादियों की आयु दो या तीन सौ वर्ष से अधिक नहीं हो सकती। इतने ऊँचे टीले की आयु के लिये यह समय बहुत थोड़ा है।

प्राकार की आयु में तीन काल—डा० व्हीलर के मतानुसार प्राकार की बाहरी रचना में तीन भिन्न-भिन्न कालों का आभास होता है। प्रथम वह काल जब सिन्धु-सभ्यता के लोग हड़प्पा आए और कुछ काल तक यहाँ बसने के अनन्तर उन्होंने प्राकार बनाकर इसकी दृढ़ता के लिए कच्ची ईंटों के बाहरी की पुश्ता दीवार से इसे सबल कर दिया। द्वितीय-काल में इस प्राकार में उन्होंने कुछ परिवर्तन किये। इस प्रसंग में डा० व्हीलर लिखते हैं—"चिरकाल तक बर्षाऋतु के थपेड़ों की निरन्तर मार सह कर जब यह प्राकार दुर्बल हो गया तो पहली पुश्ता दीवार का पुनर्निर्माण हुआ और विशेषकर पश्चिमोत्तरी कोने पर इसे सुदृढ़ बनाया गया। इस समय पक्की ईंटों के बाहरी

की बजाय साबुत ईंटें लगा कर इसे उत्तम कोटि की इमारत का रूप दिया गया। यह हड़प्पा की सभ्यता का उत्कर्ष-काल था।" तृतीय-काल में प्राकार के पश्चिमोत्तरी कोण में एक नवीन बुर्ज बना कर इसे दृढ़ किया गया। डा० व्हीलर के विचार में इस समय हड़प्पा के निवासी शत्रुभय के कारण किले को अभेद्य बनाने में व्यस्त थे। पूर्वोक्त तीन कालों के अतिरिक्त उन्होंने एक चौथे काल का भी अनुमान लगाया है। इस काल के स्मारकों में निकृष्ट कोटि के कुछ वास्तु खण्ड उनको पश्चिमी द्वार के पास मिले थे। और इनके आस-पास बिखरे हुए 'कब्रिस्तान एच' की कुम्भकला के अवशेष भी पाए गये थे।

प्राकार के इतिहास में पूर्वोक्त चार काल विभाग जहाँ तक युक्ति संगत हैं अब इस विषय पर आलोचना की जाती है। डा० व्हीलर के मत में सिन्धु-सभ्यता के निर्माताओं का हड़प्पा में प्रथम आगमन और प्राकार के निर्माण का सूत्रपात ये दोनों घटनाएँ प्रायः एक ही समय हुईं। क्योंकि हड़प्पा की पुरानी ईंटें सिन्धु-सभ्यता के लोगों का ही आविष्कार था इसलिये इसमें सन्देह नहीं कि ये लोग जब यहाँ आए तो इससे पहले ईंटों का बनाना उन्होंने ही आरम्भ किया। ऐसी स्थिति में प्रश्न उठता है कि उन्होंने पुश्ता दीवार जो प्राकार का प्रधान अंग था ईंटों के टुकड़ों से क्यों बनाई। साधारणतः ईंटों के खण्ड उस समय प्रयोग में लाए जाते हैं जब वे प्राचीन ध्वंसावशेषों से प्रचुर-संख्या में सुलभ हों। इस प्रश्न का केवल एक ही उत्तर हो सकता है और वह यह कि जब नवागन्तुकों ने प्राकार बनाना आरम्भ किया तो टूटी फूटी ईंटें वहाँ प्रचुर मात्रा में सुलभ थीं। इससे यही निष्कर्ष निकलता है कि इस काम के आरम्भ करने के समय सिन्धु सभ्यता यहाँ कई शताब्दियाँ पहले ही विद्यमान थी और असंख्य वास्तुखण्ड इस स्थान पर बिखरे पड़े थे जिनका तत्कालीन लोगों ने दुर्ग बनाने में खुले दिल से उपयोग किया। सारांश यह है कि दुर्ग-निर्माता लोग नवागन्तुक नहीं थे। वे एक हजार वर्ष पहले से यहाँ आबाद थे। प्रतीत होता है कि प्रलयकारक सामयिक बाढ़ जब असह्य हो गई तो उन्होंने जलपूर के निचले भागों को त्याग कर टीला 'ए-बी' और 'ई' जैसे ऊँचे स्थानों पर जा बसना ही उचित समझा और जब वे इन टीलों पर जा बसे तो उन्होंने उजाड़ स्थानों की टूटी इमारतों की ईंटों को पुश्ता दीवार बनाने में व्यवहृत किया।

उत्कर्ष काल—द्वितीय काल के विषय में डा० व्हीलर से मेरा मतैक्य ऐकमत्य है। मैं मानता हूँ कि यह हड़प्पा का उत्कर्ष काल था और यह स्वाभाविक ही था कि इस समय नई पुश्ता दीवार के निर्माण में साबुत ईंटें लगाई जातीं। परन्तु मतभेद इस बात में है कि दीर्घजीवी सिन्धु-सभ्यता के जीवन में केवल यही एक उत्कर्ष काल नहीं था किन्तु कम से कम एक और भी था जब विशाल धान्यशाला निर्मित

गृह, पक्के चौतरे आदि लोक-हितकर सार्वजनिक वास्तुओं का निर्माण हुआ। ये वास्तु तत्कालीन उन्नत नागरिक जीवन के भव्य उदाहरण हैं। पहले निर्देश किया गया है कि टीला 'एफ़' तथा अन्य निम्नतम प्रदेश 'ए-बी' और 'ई' टीलों से बहुत प्राचीन हैं। यहाँ की नाली व्यवस्था और उससे सम्बद्ध कुएँ, स्नानागार, चौतरे आदि नगर के सुन्दर स्वास्थ्य प्रबन्ध के ज्वलन्त उदाहरण हैं। वत्स महोदय ने इस बात का स्पष्ट रूप में निर्दिष्ट किया है। इसका विशेष लक्षण यह है कि इस समय की इमारतें साधारण ईंटों की और सुदृढ़ बनी हैं।

अब इस बात पर विचार करना है कि क्या डा० व्हीलर के कथनानुसार तृतीय काल के लोग वस्तुतः अभय में दुर्ग रक्षा के उपायों में संलग्न थे। इसकी पुष्टि में जो प्रमाण उन्होंने उपस्थित किया है वह पर्याप्त नहीं है। प्राकार के पश्चिमोत्तरी कोने को दृढ़ बनाना और किले की पश्चिमी दीवार में एक छोटे से द्वार को बन्द कर देना ये इस कथन की पुष्टि में बलिष्ठ प्रमाण नहीं हो सकते। ये सुधार परिवर्तन अन्य कारणों से भी हो सकते थे। स्मरण रहे कि किले का सिंह द्वार पूर्वी या पश्चिमी दीवार में नहीं किन्तु उत्तरी दीवार में था (फलक ८)। यहाँ कोनों पर खड़े दो बुर्ज प्रहरियों की तरह अब भी इसका संरक्षण कर रहे हैं (फलक ९)। इन बुर्जों के बीच टीले के उत्तरी भाग में एक गहरी दरार किनारे को काटकर दूर तक अन्दर चली गई है जिससे एक अर्धचन्द्राकार मैदान सा बन गया है। इसी प्रकार का एक बड़ा द्वार सम्भवतः किले की दक्षिणी दीवार में था जिसके संरक्षक दो बुर्जों के चिह्न अभी तक वहाँ विद्यमान हैं। इसमें सन्देह नहीं कि किले की पूर्वी व पश्चिमी दीवारों में भी कई एक छोटे द्वार अवश्य होंगे। डा० व्हीलर ने पश्चिमी दीवार में जो द्वार खोदा वह इनमें से ही एक था। इस द्वार की चौड़ाई बाहर आठ फुट परन्तु दीवार के पास आकर पाँच फुट ही रह जाती है। प्राकार में पाँच फुट चौड़ा द्वार अवश्य ही एक तंग मार्ग था और किसी विशेष अवसर के लिये ही बनाया गया होगा। इस द्वार के बाहर प्रधान इमारतों से दो समानान्तर लम्बे चौतरे (प्लेट फार्म) और उनके साथ सम्बद्ध एक टेढ़ा मार्ग था। इसकी बनावट और योजना से प्रतीत होता था कि दुर्ग के जीवनकाल में यह एक गुप्त सुरक्षामार्ग था जिसके द्वारा संकट के समय दुर्ग निवासी भागकर अपने प्राण बचा सकते थे। जैसे ही यह संकुचित मार्ग प्राकार से बाहर निकलता था उस तंग गली में जा मिलता था जो चौतरों के बीच बनी थी और वहाँ से यह टेढ़े मार्ग में प्रवेश करता था। पूर्वोक्त तंग गली और टेढ़े मार्ग पर छत डाल देने से यह एक अत्यन्त गुप्त सुरंग मार्ग बन जाता था जहाँ से मनुष्य प्राकार के मोड़ पर बने हुए मकान और सुरक्षित स्थान पर पहुँच कर वहाँ से पास के जंगल में भाग सकता था। सम्भव है कि पश्चिमी द्वार के पास बने हुए ये वास्तुखण्ड दुर्ग की एक बड़ी आवश्यकता को पूर्ण करते थे।

डा० ह्वीलर का यह कथन कि पूर्वोक्त चौतरे और उनके साथ का टेढ़ा मार्ग किन्हीं धार्मिक समारोहों के लिए थे एक विशिष्ट-कल्पना है। ऐसे समारोहों के लिये दुर्ग का पिछवाड़ा उपयुक्त स्थान नहीं हो सकता। यह बात भी ध्यान देने योग्य है कि इस प्रकार के विशाल दुर्ग की रक्षा के लिए अत्यावश्यक था कि इसके चारों ओर एक गहरी खाई भी होती। अभी तक इसकी खोज में कोई खुदाई नहीं की गई और ऐसी दशा में इसका होना या न होना संदिग्ध है। परन्तु यदि मान लें कि दुर्ग परिखावेष्टित था तो प्लेटफार्मों के सामने धार्मिक समारोहों के लिये कोई रिक्त स्थान नहीं रह जाता। इसके विपरीत यदि इसे सुरक्षाकाम मान लें तो यह दुर्गरक्षा-योजना के बहुत अनुकूल सिद्ध होता है।

अन्तिम-काल—प्राकार की आयु के अन्तिम काल की समालोचना करते में डा० ह्वीलर ऐसे निर्णय पर पहुँचता है जो अतीव विवादास्पद है। उनकी अपनी खुदाई में जो निकृष्ट कोटि के वास्तुखंड और कब्रिस्तान 'एच' की कुम्भकला के ठीकरे किले की पश्चिमी दीवार के साथ मिले थे उनके विचार में एक बड़ी क्रान्ति के प्रमाण हैं। उनका सुझाव है कि अन्तिम काल की हड़प्पा-सभ्यता में इन विजातीय वस्तुओं के मिश्रण का तात्पर्य यह हो सकता है कि ईसापूर्व १५ के लगभग आर्य जाति के लोगों ने यहाँ आक्रमण किया था। इस सुझाव के प्रस्तुत करने में यद्यपि पहले वे कुछ संकोच प्रकट करते हैं तथापि अन्त में वे इस सुझाव को निश्चित सिद्धान्त का रूप ही दे देते हैं। वे लिखते हैं कि "वे आर्य लोग थे जिन्होंने सिंधु देश के दुर्गों का ध्वंस किया। सिन्धु-सभ्यता तथा उसके निर्माताओं का समूल विनाश करके सप्त सिंधु देश पर आधिपत्य जमाया। उनका यह भी कथन है कि मोहेंजो-दड़ो में जो उत्तरकालीन मुर्दे पाए गये थे वे आर्यजाति के अत्याचारों के ही उदाहरण थे। अन्त में वे इस निर्णय पर पहुँचते हैं कि आर्यजाति का रणदेवता इन्द्र सिन्धु सभ्यता की हत्या के अपराध में अभियुक्त सा प्रतीत होता है। अर्थात् यह आर्यजाति थी जिसने सिन्धु-सभ्यता और उसके निर्माताओं का समूलोच्छेद किया।

उचित होगा कि इस प्रसंग में कब्रिस्तान 'एच' और सिन्धु-सभ्यता में जो परस्पर सम्बन्ध है पहले उस पर विचार किया जाए। कब्रिस्तान 'एच' में मृतकों के साथ गड़े हुए बर्तनों के सिवाय अन्य कोई वस्तुएँ उपलब्ध नहीं हुई थीं। अतः डा० ह्वीलर के इस निर्णय से सहमत होना कठिन है कि चौतरों के ऊपर बने हुए निकृष्ट

---

१ स्मरण रहे कि मोहेंजो-दड़ो में कब्रिस्तान 'एच' की कुम्भकला के कोई अवशेष नहीं मिले जिससे वहाँ आर्यजाति के आक्रमण का अनुमान लगाया जाता। अतः यह कहना अनुचित है कि मोहेंजो-दड़ो का ध्वंस भी आर्यजाति ने ही किया था।

आस्ट्रिक भाषा भाषी जाति के निवासगृह थे[1]।

इस मतान्तर की खुदाई से यह ऐतिहासिक अनुभव था कि कब्रिस्तान की शैली के कुम्भकला प्रायः हड़प्पा के अन्तिम तीन स्तरों से सम्बद्ध पाए जाते थे। इस साक्ष्य के आधार पर निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि कब्रिस्तान 'एच' के लोग सिन्धु-सभ्यता के ह्रासकाल में हड़प्पा आए और दो तीन शताब्दियों तक इस स्थान पर आदि-निवासियों के साथ मिलकर इकट्ठे रहे। प्रतीत होता है कि इन लोगों ने समूची सिन्धु-सभ्यता को अपना लिया था क्योंकि उनकी पृथक् संस्कृति का केवल एक ही चिह्न जो अब हमें मिलता है वह उनकी विलक्षण कुम्भकला है (फलक २९ ३२)। इसलिये यह अनुमान लगाना अनुचित होगा कि उनकी कोई अपनी स्वतन्त्र सभ्यता थी। इस बात की पुष्टि में अणुमात्र भी प्रमाण नहीं है कि कब्रिस्तान 'एच' की कुम्भकला आक्रमणकारी आर्यजाति की कृति थी। यदि ऐसा होता तो इसके साथ आर्य सभ्यता की अन्य विविध वस्तुएँ भी अवश्य दृष्टिगोचर होतीं। यह सर्वसम्मत है कि आर्यजाति की अपनी स्वतन्त्र तथा विलक्षण सभ्यता थी जिसे वे पराजित जाति की सभ्यता से नितान्त उत्कृष्ट समझते थे। समझ में नहीं आता कि उन्होंने अपनी स्वतन्त्र सत्ता को पराजित विजातीय जाति में सर्वथा डुबो दिया। और इसके विपरीत अपनी उत्कृष्ट सभ्यता को पराजितों पर क्यों नहीं ठूँसा। दूसरी विचित्र बात यह है कि दो तीन शताब्दियों तक हड़प्पा में रहकर कब्रिस्तान 'एच' के लोग अकस्मात् कहीं और क्योंकर अदृश्य हो गये।

जब से आर्यों ने भारत के पश्चिमोत्तर में पदार्पण किया तभी से वे स्थायी रूप से यहीं बस गये और कालान्तर में यहीं से प्रगति करते हुए गंगा-यमुना के मैदानों तथा देश के अन्य भागों में फैल गये। ऐसी दशा में यह बात बुद्धिगम्य नहीं कि कब्रिस्तान 'एच' की कुम्भकला केवल हड़प्पा में ही क्योंकर सीमित रही, अन्य स्थानों में क्यों नहीं पाई गई। आर्य लोग हड़प्पा में आकाश से नहीं उतरे थे। पश्चिमोत्तर से यहाँ तक पहुँचने के लिए जिस मार्ग का उन्होंने अनुसरण किया वहाँ से कई स्थानों पर बस गये थे जहाँ इस विलक्षण कुम्भकला के अवशेष मिलने चाहिए थे। परन्तु अभी तक नहीं मिले यद्यपि पश्चिमोत्तरी भारत में पुरातत्त्व अनुसन्धान कार्य विस्तृत रूप से हो चुका है। यह बात भी विचारणीय है कि भारतीय आर्य अपने मृतकों का दाह-संस्कार करते थे, उनको कब्रों में नहीं गाड़ते थे, जैसा कि कब्रिस्तान 'एच' में पाया गया है। अच्छा होगा कि हम किसी निष्कर्ष पर पहुँचने से पहले कि कब्रिस्तान 'एच' का नाता आर्यों से था अन्य प्रमाणों की प्रतीक्षा कर लें।

१ एन्शेन्ट इण्डिया नं० ३ पृष्ठ ७२।

५

सिन्धु-सभ्यता का काल निर्णय

(भौतिक प्रमाणों के आधार पर)

टीलों की अन्तवर्ती स्तर रचना के अतिरिक्त बहुत से भौतिक प्रमाण भी हैं जिनसे सिद्ध होता है कि सिन्धु-सभ्यता की प्राचीनता चौथी सहस्त्राब्दी ईसा पूर्व तक जाती है। इसमें सन्देह नहीं कि इस सभ्यता का जीवन-काल १५ वर्ष पर्यन्त रहा और इस अन्तर में इसने उन्नति और अवनति के अनेक चढ़ाव उतार देखे। पश्चिमी एशिया की ताम्रयुगीन संस्कृतियाँ प्रायः इसकी सजातीय और समान धर्म हैं, इसलिए सिन्धु-सभ्यता की बहुत सी प्राचीन कला-कृतियों की मेसोपोटेमिया की समान कृतियों से तुलना करने से उनके काल का पता लगाना कठिन नहीं। कालभेद से भौतिक प्रमाणों को तीन भागों में विभक्त कर दिया है जिससे उनकी तुलना मेसोपोटेमिया के प्राक्-अक्कादकी काल अक्कादकी काल और उत्तर-अक्कादकी काल की विविध पुरातत्त्व वस्तुओं से सुगमतया हो सके। इनमें प्राक्-अक्कादकी काल ३ ई पू से १ ई पू तक प्राय दो हजार वर्ष-व्यापी है और इसमें पाँच के लगभग संस्कृतियाँ समाविष्ट हैं जैसे प्राक्-इलाफ, इलाफ अल-उबैद उरुक और जमेदत-नसर। अक्कादकी काल १ ई पू से २४ ई पू तक और उत्तर-अक्कादकी काल २४ ई पू से २ ई पू तक।

प्राक्-अक्कादकी काल के प्रमाण

मुखमुद्रा और केशवेश (फलक १२)—प्राचीन सुमेरियन और सिन्धुदेश निवासियों की मुखमुद्राओं की परस्पर तुलना महत्वपूर्ण है। लम्बी दाढ़ी रखना मूँछें सफाचट मुड़ाना सिर पर लम्बे बाल रखना और उन्हें स्त्रियों की तरह जूड़ा बनाकर बाँधना—ये ऊँची श्रेणी के तत्कालीन सुमेरियन लोगों के प्रचलित फैशन थे। कभी कभी वे चेहरे को सफाचट मुँडवा भी देते थे। मोहेंजो-दड़ो में जो कई एक पुरुष मूर्तियाँ मिली उनकी मुखमुद्रा और केश रचना भी इसी प्रकार की है (फलक १२ क-ख)। ये मूर्तियाँ उन पुरुषों की हैं जो सिन्धु समाज में उच्च कोटि के लोग थे। सम्भवतः सुमेरियन पड़ोसियों की तरह ये व्यक्ति राज्य-शासन और धार्मिक संस्थाओं के सर्वोच्च

फलक ११ ताम्रपाषाणी-काल के भौतिक प्रमाण

अधिकारी थे। दृष्टान्ततः खड़िया पत्थर के बने हुए दो नरमुड[1] जो इस समय की मूर्तिकला के विलक्षण उदाहरण हैं अति प्राचीन सुमेरियन लोगों की मुखमुद्रा से घनिष्ठ समानता रखते हैं। अल-उबेद काल में भी मार्शल महोदय को इसी प्रकार के केशवेश और आकृतियो वाली नर मूर्तियाँ मिली थीं। फ्रैंकफर्ट के मतानुसार पूर्वोक्त लक्षणोपेत मूर्तियाँ सुमेरियन लोगों की थीं। वे सुमेर के प्राचीनतम निवासी थे। उनके वर्णन प्रसंग में वे लिखते हैं—'यह तथ्य अत्यन्त रहस्यपूर्ण है कि मोहेंजो-दड़ो की मूर्तियाँ जो सिन्धु देश के तत्कालीन महापुरुषों का चित्रण करती हैं उसी वेश और मुखमुद्रा में हैं जो मेसोपोटेमिया में उरुक अथवा सम्भवतः उसके भी पहले अल-उबेद काल में प्रचलित थे। पुरुष कभी कभी लम्बे केशों को शिर के पीछे जूड़ा बनाकर बाँधते थे। जैसे कि ऍ-एनटम राजा के मूर्ति फलक पर स्पष्टरूप से चित्रित है। सुमेरियन लोगों के अपने अनुश्रवणों के अनुसार उन्होंने पूर्वी समुद्र (अरब-सागर) की ओर से मेसोपोटेमिया में प्रवेश किया और एरिदु नाम नगर को अपनी राजधानी बनाकर देश के दक्षिणी भाग को पहले बसाया (फलक ३)[3]। सुमेरियन और सिन्धु काल की सभ्यताओं में इस घनिष्ठ सम्बन्ध से प्रभावित होकर प्रो॰ चाईल्ड को ऐसी ही विचारधारा का अवलम्बन करना पड़ा था। वे लिखते हैं—'क्या सुमेरियन सभ्यता की विलक्षणताएँ भारत से ली गई थीं और क्या अल्पसंख्यक सुमेरियन जाति ने मेसोपोटेमिया में विजेता के रूप में प्रवेश करके इन विलक्षणताओं का वहाँ प्रचार किया था?

लिपि का प्रमाण—सिन्धु-सभ्यता की प्राचीनता के विषय में अन्य अजेय प्रमाण सिन्धु-लिपि की चित्रात्मक रचना है जो इस सभ्यता के आरम्भ-काल से लेकर अन्त तक एक ही रूप में मिलती है। लिपि शास्त्रियों की सम्मति में सिन्धु-लिपि अपने अन्तिम काल में भी जमदेत-नस्र की लिपि से सादृश्य रखती है (फलक १४ क-म)। इसी प्रकार इलम और सिन्धु देश की प्राचीन लिपियों में न केवल बहुत से अक्षर ही किन्तु अक्षर-योग भी परस्पर समान हैं। इससे निर्विवाद सिद्ध होता है कि सिन्धु सभ्यता अपनी प्रौढ़ दशा में भी इलम और सुमेर की तत्कालीन सभ्यताओं के सम

---

१ मार्शल—मोहेंजो दड़ो एंड दि इंडस सिविलाइजेशन ग्रन्थ १ फलक ९९, न॰ ४, ६ और ७-९।

२ फ्रैंकफर्ट—सिलिंडर सील्स।

३ वर्तमान समय में 'एरिदु' जो अब 'आबू-सहरीन' नाम के खण्डहर से प्रसिद्ध है समुद्र तट से १२५ मील के लगभग दूर है।

४ चाईल्ड—न्यू लाईट आन मोस्ट एन्शेंट ईस्ट पृष्ठ २।

५ हटर—स्क्रिप्ट ऑफ हड़प्पा एण्ड मोहेंजो-दड़ो पृष्ठ ४७-४८।

फलक ११ प्राग्हड़प्पावली-काल के भौतिक प्रमाण

कालीन थी जब मेसोपोटेमिया की लिपियाँ अभी चित्रमय तथा न ही थीं। कालान्तर में जब इन चित्रलिपियों का स्थान कीलाकार लिपि (Cuneiform Writing) ने ले लिया तो मेसोपोटेमिया और सिन्धु सभ्यता के बीच सम्बन्ध का विच्छेद हो गया। लिपि सम्बन्धी यह साक्ष्य स्पष्ट प्रमाण है कि चौथी सहस्राब्दी ई पू मे सिन्धु प्रान्त का मेसोपोटेमिया से घनिष्ठ सम्बन्ध था।

सिन्धुलिपि की प्राचीनता—डा हण्टर का कथन है कि सुमेरियन चित्रलिपि से सिन्धुलिपि का सादृश्य तब तक दृष्टिगोचर नहीं होता जब तक हम जमदेत नसर काल मे प्रवेश न करते। उस काल (१२ ई पू) की लिपि मौलिक इलम लिपि के इतनी अनुरूप है कि प्रो लैंग्डन के विचार मे दोनो लिपियो का एक ही प्रभव होना चाहिए (फलक १४ क-म)। डा हण्टर के अपने शब्दो मे "सिन्धुलिपि आरम्भ दशा मे प्रभावत ध्वन्यात्मक और चित्रात्मक भी थी। यह आरम्भकाल १ ई पू से कई शताब्दियाँ पहले था क्योंकि इस काल मे इसके अधिकांश अक्षर पहले ही चित्रमय रूप त्याग रेखात्मक रूप धारण कर चुके थे। सिन्धु सुमेर और इलम की लिपियो की उत्पत्ति ४ ई पू से भी पहले की है चाहे वे एक ही प्रभव से उत्पन्न हुई हों अथवा एक दूसरी से।

जमदेत-नसर काल की मुद्रा—जमदेत-नसर काल की एक शलाका मुद्रा पर एक विचित्र कथानक का दृश्य खुदा है (फलक १३ घ)। इसमे एक देवद्रुम दिखाया गया है जिसके आस-पास कुछ पशु खड़े हैं। देवद्रुम पर्वत शिखर से उभर रहा है। इसके दाईं ओर घुटनो के बल बैठकर एक बैल वृक्ष की पत्तियाँ चर रहा है और बाईं ओर एक विचित्र सकीर्ण पशु जिसका शरीर बैल का और सिर हाथी का है खड़ा है। इस सकीर्ण प्राणी के सामने गौ जाति के तीन पशु भयभीत से वृक्ष के पत्ते चरने के लिये अवसर की प्रतीक्षा कर रहे हैं। सकीर्ण पशु सरक्षक के रूप मे इस प्रकार डटकर खड़ा है मानो देवद्रुम को पशुओ के आक्रमण तथा अन्य आगन्तुक भयो से बचाने के लिए किसी ने पहरुआ नियुक्त किया हो। यह जन्तु हमे सिन्धु मुद्राओ पर बने हुए उस विचित्र सकीर्ण पशु (फलक ११ घ) का स्मरण दिलाता है जो सिन्धु-सभ्यता के परम पवित्र वस्तु का सरक्षक था। भेद केवल इतना है कि यह विचित्र जीव सुमेरियन जन्तु से अधिक सकीर्ण है क्योंकि इसकी शरीर-रचना म सात-आठ प्राणियो के अवयवो का अपूर्व समावेश है। इन सकीर्ण पशुओ मे साधारण समानता यह है कि दोनो के मुँह हाथी के हैं। मेसोपोटेमिया के पशु मे सम्पूर्ण सिर हाथी का दिखाया गया है परन्तु अन्य पशु का सिर मनुष्य का है केवल सिर के अग्रभाग मे लटकता हुआ गज

१ हण्टर—वही पृष्ठ २ २१।

फलक १४ सुमेर और इलाम की प्राक् वंशावली-काल की लिपियों का सिन्धुलिपि से सादृश्य

क 1

ख 2

ग 3

घ

ङ 5

6

छ 7

ज 8

फलक ११ प्राक्-मंडावली-स्तर के अन्य प्रमाण

हुलाफ और हड़प्पा—रिचर्ड स्टार का मार्शल से इस विषय मे ऐकमत्य है कि हड़प्पा और मोहेंजो-दड़ो के निम्नतम स्तर में सिन्धु-सभ्यता का जो प्रौढ़ रूप प्रकट हुआ है उसकी पृष्ठभूमि में इस सभ्यता का एक लम्बा इतिहास छिपा हुआ है[1]। कब्रिस्तान 'एच' की कुम्भकला पर जो ऊर्ध्वकेश मनुष्य-मूर्तियाँ मिली थी वे 'समारा' की ऊर्ध्वकेश मूर्तियो के बहुत सदृश है (फलक १२ ख, ग)। वक्र-रेखाएँ, मछी के आकार सिग्मा-चिह्न उड़ती हुई 'विहंगावली' आदि सुमा (प्रथम) के अलंकरण हड़प्पा की कुम्भकला पर भी पाए जाते हैं। स्टार महोदय लिखते हैं कि सिन्धुकालीन कुम्भकला ईरान और मेसोपोटेमिया की कुम्भकलाओ से अणुमात्र भी सादृश्य नहीं रखती। उनके मत म सिंध की कुम्भकला म दो प्रकार की विशिष्टताओं का मिश्रण है। इनम एक पाश्चात्य और दूसरी भारतीय है। उनका विचार है कि अन्य कुम्भकलाओं की अपेक्षा हड़प्पा और हुलाफ की कुम्भकलाओ मे बहुत समानता है। बहुत से अलंकरण हुलाफ, सियाल्क और हड़प्पा मे एक समान मिलते हैं। परन्तु इनके अतिरिक्त अन्य बहुत से अभिप्राय केवल हुलाफ और हड़प्पा मे ही पाये जाते हैं विशेषत उलझे हुए और सतत वृत्त (फलक ४१ ख)। उनके मत मे हुलाफ इन अलंकरणो का उत्पत्ति-स्थान था और उनके हड़प्पा पहुँचने के मार्ग मे सियाल्क एक पड़ाव थी। हड़प्पा हुलाफ तथा सियाल्क की कुम्भकलाओं मे परस्पर सादृश्य तथा सजातीयता बतलाती है कि सिन्धु देश और मेसोपोटेमिया के सम्पर्क प्राक्-राजावली काल के हैं।

चिपटी ईंटों का प्रयोग—प्राचीन काल स लेकर अमरेत-नसर काल तक मेसोपोटेमिया की वास्तुकला में चिपटी ईंटों का व्यवहार होता रहा। परन्तु जमदेत-नसर काल मे इसका क्रम बदल गया और तब से उत्कृष्ट चिपटी ईंटो के स्थान निकृष्ट समोन्नतोदर आकार की ईंटें प्रयोग मे आने लगी। सिन्धु-सभ्यता काल मे भी प्रारम्भ से अन्त तक चिपटी ईंटो का ही प्रयोग होता रहा जो प्राचीनतम मेसोपोटेमिया के साथ सिन्धु-सभ्यता का एक और सादृश्य है (फलक १२, क)।

कुन्तल-शीर्षक सूइयाँ—"हड़प्पा की कुछ सूइयाँ और एक बकशिर' नामक अपने लेख मे प्रो० पिगट इन वस्तुओ के आविर्भाव और तिरोभाव पर प्रकाश डालते हैं। सिन्धु-सभ्यता की दो सूइयो में से एक मोहेंजो-दड़ो में १८४ फुट की गहराई पर और दूसरी चन्हुदड़ो की खुदाई में ताँबे की अन्य वस्तुओं के साथ झूकर-संस्कृति के स्तर म पाई गई थी (फलक १२ घ)। चन्हुदड़ो के टीले में झूकर-संस्कृति का स्तर सिन्धु सभ्यता के स्तर पर विद्यमान होने के कारण निस्सन्देह सिन्धु-सभ्यता से अर्वाचीन था। अपने लेख म उन्होंने यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि ये सूइयाँ किसे

---

१ रिचर्ड एफ एस स्टार—इडस वेली पेंटेड पाटरी पृष्ठ ९१।

पीस की ओर २ ई पू के लगभग ईरान की ओर से सिन्धु देश में आई। उनके कथनानुसार इस शैली की सुई का आविर्भाव 'एनेटोलियन इजियन' प्रदेश में २६ ई पू के लगभग हुआ और इसका प्रसार तथा व्यवहार २ ई पू और इसके बाद तक भी रहा। अत वे इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि मोहेंजो-दड़ो की सुई को १ ८ फुट की गहराई पर मिली भारत म २ ई पू के पहले नहीं पहुँच सकती थी और चन्हुदड़ो की सुई तो इससे भी बाद की थी क्योंकि यह ऊपर काल के स्तर में मिली थी।

इस शैली की सुइयाँ ईरान के दो प्रागैतिहासिक टीलों—सियाल्क और हिसार—तथा रूसी तुर्किस्तान के 'अनो टीले' में भी पाई गई थीं। सियाल्क में ये सुइयाँ ईसा पूर्व चौथी सहस्राब्दी के स्तर ४ में मिलती हैं। इसी प्रकार की कुण्डल-शीर्षक सुइयों के चित्र सियाल्क ३ और हिसार—१ (बी) के स्तरों से प्राप्त चित्रित बर्तनों पर भी पाए गए हैं जो और भी पुराने हैं। पिगट महोदय मानते हैं कि इस शैली की सुई का जन्म सर्वप्रथम सियाल्क म हुआ था वहाँ से यह पश्चिम की ओर गई और एजे ट्रोलिया-इजियन (लघु-एशिया) प्रदेश में २६ ई पू के लगभग दृष्टिगोचर हुई। व पुन लिखते हैं कि कुछ शताब्दियों में वहाँ लोकप्रिय हो जाने पर यह ईरान की ओर लौटी और वहाँ से २ ई पू के लगभग सिन्धु घाटी में पहुँची। इन सुइयों के प्रसार के विषय में पिगट की पूर्वोक्त विचारधारा का अनुसरण करना कठिन है। सुई का यह आकार जब २६ ई पू के एक हजार वर्ष पहले सियाल्क के लोगों को सुविदित था और प्रारम्भिक राजाओं काल (१ ई पू) के समय हिसार तथा अनो म भी प्रचलित था तो चौथी सहस्राब्दी के अन्त अथवा तीसरी के प्रारम्भ म सिन्धु प्रान्त में भी सुगमता से आ सकता था। इस कल्पना में कोई युक्ति नहीं है कि पहले यह आकार ईरान से पश्चिम की ओर यूनान तक गया फिर लौटकर ईरान आया और अन्त में २ ई पू के लगभग वहाँ से भारत पहुँचा। सिन्धु-सभ्यता का प्रारम्भ काल वस्तुत चौथी सहस्राब्दी ई पू तक पहुँचता है और आश्चर्य नहीं कि ईरान और भारत के बीच कला-सम्बन्धी विचारों और अभिप्रायों का परस्पर विनिमय चौथी सहस्राब्दी ई पू तक पहुँचता है और आश्चर्य नहीं कि ईरान और भारत के बीच कला सम्बन्धी विचारों और अभिप्रायों का परस्पर विनिमय चौथी सहस्राब्दी ई पू में हुआ हो। मुझे स्मरण है कि वत्स महोदय को खुदाई म सीसे की बनी हुई इस आकार की एक-दो सुइयाँ हड़प्पा में मिली थीं परन्तु अत्यन्त जटिल और भग्नावस्था होने के कारण वे उन्हें अपनी पुस्तक में प्रकाशित नहीं कर सके। सन् १९१२ में तीसे की कुण्डल-शीर्षक एक और सुई मुझे 'टीला-डी' की खुदाई में ६ फुट ६ इंच की

गहराई पर मिली थी[1] (फलक १२ ग)।

'टीला-एफ' की तरह अति प्राचीन 'टीला ई' के गहरे स्तर से इस सुई की उपलब्धि एक स्पष्ट प्रमाण है कि इस प्रकार की सुइयाँ विदेशीय नहीं अपितु देशीय कला-कृतियाँ थीं। डा. मैके ने ठीक ही कहा था कि वत्सजी ने टीले में जो सुई हड़प्पा स्तर के ऊपर कूड़ा-कबाड़ में मिली थी वह मोहेंजो-दड़ो की सुई की वंशज थी। पिगट का यह कहना कि क्योंकि और सिन्धु-सभ्यता का सुमेरियन-सभ्यता से सम्पर्क 'सार्गन' काल में हुआ इसलिए सिन्धु-सभ्यता प्रारम्भिक राजवंशी काल (२८ ई. पू.) से प्राचीन नहीं सर्वथा भ्रममूलक है। हड़प्पा और मोहेंजो-दड़ो के टीलों की स्तर-रचना तथा उपलब्ध वस्तु-सामग्री इस तथ्य का अकाट्य प्रमाण है कि चौथी सहस्राब्दी ई. पू. सिन्धु-सभ्यता का सुमेरियन सभ्यता से निकट सम्पर्क था।

पशु शीर्षक शलाका—सिन्धु-सभ्यता की प्राचीनता की पुष्टि में पिगट का दूसरा प्रमाण 'पशु शीर्षक शलाकाएँ' हैं। इनमें से एक (फलक १२ क) हड़प्पा और दूसरी (फलक १२ ख) मोहेंजो-दड़ो में मिली थी। हड़प्पा की शलाका टीला 'डी' के खात न. १ में एक फुट गहराई पर पाई गई थी। यह टीला जैसा कि वत्स महोदय ने लिखा है हड़प्पा खंडहर के प्राचीनतम क्षेत्रों में से एक है और इस कारण टीला-'एफ' का समकालीन है। यहाँ से खड़िया पत्थर की बहुत सी वर्गाकार मुद्राएँ (फलक ८६ व ३-११) उत्कीर्ण टाँगा वाले पशु, अतिरंजित कला शैली के ताँबे के बर्तन आदि ऐसी वस्तुएँ जो प्राक् मोहेंजो-दड़ो काल की हैं मिली थी। इसलिये यहाँ से प्राप्त शलाका सिन्धु-सभ्यता के अन्तिम काल की वस्तु नहीं हो सकती जैसा कि पिगट का विचार है। मोहेंजो-दड़ो की शलाका १२ फुट की गहराई पर भिन्न भिन्न काल की दो बाढ़ कीचड़ की तहों के बीच पाई गई थी। पिगट का तर्क है कि ये दोनों शलाकाएँ सिन्धु-सभ्यता में बेजोड़ हैं परन्तु भारत के बाहर इनका बहुत प्रसार था। चौथी सहस्राब्दी ई. पू. के प्रारम्भ काल की इसी आकार की प्राचीनतम शलाकाएँ जो मैसोपोटेमिया में मिली थी सुमेरियन सभ्यता से सम्बन्ध रखती हैं। यही आकार सूसा (उत्तर ग्राम) में मिला है और सयाल्क के टीले से प्राप्त प्रसिद्ध सर्प-शलाका भी इसी काल की है। एक और शलाका जो सिन्ध के खंडहर के कब्रिस्तान में उपलब्ध हुई था प्रारम्भिक राजवंशी काल (१ ई. पू.) की है।

पिगट के इस तर्क में भी वही आपत्ति है जो कुल्हाड़-छीपक सुइयों के सम्बन्ध में ऊपर दिखाई गई है। चौथी सहस्राब्दी ई. पू. जब सुमेर में यह शलाका प्रयोग में

---

१ एनुअल रिपोर्ट ऑफ आर्क्योलाजिकल सर्वे ऑफ इंडिया १९३४-३५ पृष्ठ ११२।

है जो अब भी भारत में इसी काम में आता है (फलक १५ च)। सिन्धु-सभ्यता की वस्तुओं पर तिपत्ती का अलंकरण (फलक १५ ग) जो सुमेर के अति प्राचीन 'बिम्ब रूपमों' पर भी बना है। दाँतें के उपकरणों का गुच्छा जिसमें चिमटा, कान की मैल निकालने की सलाका आदि सम्मिलित हैं उर से प्राप्त इसी प्रकार की उपकरण सामग्री के समान है जो प्रथम राजावली काल के कब्रिस्तान में मिली थी[3] असमा क्षेत्र से प्राप्त प्रारम्भिक राजावली काल का एक बर्तन जिस पर सिन्धु शैली का 'बैल-और टोकरा' अभिप्राय बना है (फलक ४ १५ क) अक्षीक के खचित मन के जो किश में उत्थान प्राक्-सार्गान काल की कब्रों के मनकों से मिलते हैं एक विशेष आकार का मिट्टी का बरतन जिसके समान इसने अमवेत नगर में मिले थे घास की मूर्तियाँ[a] चपटी पैदी का बरतन[b] (फलक ४२ ठ) ऊंची पैदी के बलि पात्र (फलक ४२ च छ) पत्थर के-गोल (फलक ४१ ठ) पत्थर की सदूकची आदि में समस्त प्राचीन वस्तुएँ हा मैके की सम्मति में चौथी और तीसरी सहस्राब्दी ई० पू० के मेसोपोटेमिया की वस्तुओं से सादृश्य रखती हैं। इसी प्रकार सीढी और कंघा के अभिप्राय (फलक १५ ख) जो सूसा (प्रथम) की कुम्भकला की विशेषताएँ हैं मोहनजो-दड़ो में खरोंचकर बनाई के ठीकरों और चित्रित कुम्भभाण्डों पर प्रकट होते हैं। ये दोनों अलंकरण सूसा (द्वितीय) में नहीं मिलते और निस्सन्देह सूसा (प्रथम) की सभ्यता के समय प्रचलित थे।

मार्शल महोदय की पुस्तक के फलक में ११८ और ११९ में प्रकाशित कुल्हाड़े (फलक ४ घ ज) सूसा (प्रथम) की संस्कृति में कुल्हाड़ों से मिलते हैं। बलि का धारा (फलक ४ ड) मिस्र के प्राचीनतम भारों के बहुत अनुरूप हैं। अल-उबेद के लोग अपने मुर्दों को पार्श्व के बल लिटाकर कब्र में गाड़ देते थे और उनके साथ खाद्य

१ कार्टिङ—न्यू लाईट आन मोस्ट एन्शेंट ईस्ट।
२ हाल एण्ड वूली—अल-उबेद पृ० ४२।
३ एन्टिक्विटी—जिल्द ८ १९२८।
४ एन्टिक्विटी (कार्टिङ के लेख)।
५ मार्शल—वही फलक १४९ ४ ५।
६ मार्शल—वही फलक ८१ १७।
७ मार्शल—वही फलक ७५, १७ २१।
८ मार्शल—वही फलक १५४ ६ ७।
९ मार्शल—मोहेंजो-दड़ो एण्ड दि इंडस वैली सिविलाइजेशन फलक १११ २६ २७।

पदार्थ भूषण शस्त्र आदि सामग्री रखते थे। मुर्दे की टाँगों को मस्तक की ओर सिकोड़ कर उसके हाथों में पान पात्र (प्याला) देकर हाथों को मुँह के पास ले जाते थे मानो वह मद्य मे मस्त पी रहा हो। मुर्दा गाड़ने की यह प्रथा साङ्गोपाङ्ग रूप से हड़प्पा के कब्रिस्तान (फलक २८ ख) में पाई गई थी। करने के स्टाइल और बाल में बाँधने के मिट्टी के मोसे जो पाय सहरीन और प्रस-ज़्वेह के टीलों में मिले सिन्धु प्रान्त में भी प्रसङ्ग पाए गये हैं (फलक ४१ ज)। दीवारों में प्रयुक्त करने से पाये हुए मृण्मय पशु जो भारत्य को वार्का में मिले थे वैसे ही हजारों पशु हड़प्पा और मोहेंजो-दड़ो के खण्डहरों से खोदे गये हैं। इस प्रसंग में टीला 'ए बी' के पश्चिमी भाग में प्राप्त पशु सी के लगभग चित्रित पशुओं का समन्वय विशेष रूप से वर्णनीय है। पायू सहरीन के मनकों की भित्तियों पर बने हुए चित्राकार प्रतिकाश हड़प्पा के बर्तनों पर चित्रित चित्राकारों से मिलते हैं (फलक १४ क ख)।

चक्र का आविष्कार—सुमेरियन लोगों ने चक्र का आविष्कार करके इसे रथ चलाने तथा बर्तन बनाने के व्यवहारों में प्रयुक्त किया। ईसा पूर्व चौथी सहस्राब्दी में सुमेरियन लोग ताँबे को पिघला तथा साँचों में ढालकर नाना प्रकार की वस्तुएँ प्रस्तुत करते थे। वे काँसे और इसेकट्रम जैसी मिश्रित धातुओं के निर्माण और प्रयोग में भी प्रवीण थे। इन विलक्षण बातों में सिन्धु सभ्यता सुमेरियन सभ्यता की समकक्ष थी। यातायात तथा कुम्भकला में चाक का प्रयोग काँसे और इसेकट्रम का ज्ञान तथा मधूच्छिष्ट विधि से साँचों में कांस्य-मूर्तियाँ ढालना भी सिन्धु-निवासियों को अति प्राचीन काल से मालूम था।

देवत्रुम-कथानक और गिलगमेश—सुमेरियन लोगों के प्राचीन लेखों से पता चलता है कि वे देवत्रुम की पूजा करते थे। इस विषय तक में एक जटिल कथानक को जन्म दिया। उनका प्राचीन महापुरुष गिलगमेश अपने निर्जीव जीवन-सखा ईन्की (एन-किडु) को जिलाने के लिये इस द्रुम की खोज में प्रयत्नशील रहा। सिन्धु मुद्राओं पर बने हुए अनगिन चित्रों से स्पष्ट है कि सिन्धु निवासी भी देवद्रुम में विश्वास रखते थे और गिलगमेश के समान उनका भी एक प्राचीन महापुरुष था जो दो बाघों को गले से पकड़कर पछाड़ सकता था। परस्पर इतना घनिष्ठ सादृश्य होने पर भी यह निर्णय करना कठिन है कि क्या इन दोनों देशों ने इस कथानक को एक दूसरे से लिया अथवा किसी अन्य तीसरे देश से। परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि प्रारम्भिक राजवंशों में ये दोनों देश एक दूसरे से साथ सम्पर्क रखते थे।

प्रस्तर मूर्ति बनाने की कला—हड़प्पा में उपलब्ध दो छोटी पाषाण-मूर्तियाँ (फलक ११ क ग) जो प्रस्तर बनी की कला में राजवंशी काल की मूर्तियों के समान हैं। पर निनीवाई दूनी को 'राजकीय-कला' में जो मैलों की मूर्तियाँ मिली थे

भी सम्बद्ध रही थी। यह कलात्मक शिल्प सार्गोन काल तक प्रचलित रहा। इसका सम-र्थन टेल-अस्मर खफजे की खुदाई से होता है[1]।

प्राचीन पार्थिव मूर्तियाँ—अन्त में यह निर्देश करना आवश्यक है कि सिन्धु काल की मृण्मय मनुष्य-मूर्तियों के पक्षि समान सिर युक्त तथा अन्य लक्षण मेसोपोटे-मिया मिस्र तथा ईरान की प्राचीनतम मनुष्य-मूर्तियों से बहुत समानता रखते हैं।

पूर्वोक्त अनेक प्रमाण इस बात के साक्षी हैं कि सिन्धु-घाटी का मेसोपोटामिया के साथ अल उबेद काल से लेकर राजावली काल अर्थात् ईसा पूर्व चौथी सहस्राब्दी के पूर्वार्ध से २३वीं शती ईसा पूर्व के अन्त तक साक्षात् अथवा किसी माध्यम के द्वारा अवश्य सम्बन्ध रहा होगा। राजा सार्गोन के काल (२४वीं श० ई० पू०) से लेकर तीसरी सहस्राब्दी ई० पू० के अन्त तक यह सम्बन्ध और भी घनिष्ठ हो गया। यह निष्कर्ष केवल भौतिक प्रमाणों के आधार पर ही आश्रित नहीं किन्तु इसका समर्थन हड़प्पा मोहेन्जो-दड़ो तथा चन्हुदड़ो के टीलों की आनुक्रमिक स्तर-परीक्षा से भी होता है।

राजावली काल के बाद के प्रमाण

सिन्धु-सभ्यता राजावली काल के अनन्तर २४ से २ ई० पू० तक भी जीवित थी। इसका प्रमाण उन अनेक भारतीय कला-कृतियों से मिलता है जो उर, किश, टेल अस्मर, गावरा, सूसा आदि मेसोपोटामिया और ईरान के प्राचीन खण्डहरों से सार्गोन तथा उत्तरकाल के स्तरों के सम्बन्ध में प्राप्त हुईं।

उपसंहार

पूर्वोक्त समालोचना से सिद्ध होता है कि सिन्धु-सभ्यता ईसापूर्व चौथी सह-स्राब्दी के पूर्वार्ध से तीसरी सहस्राब्दी के अन्त तक अर्थात् १७ वर्ष के लगभग जीवित रही। मेसोपोटेमिया और सिन्धु देश के बीच का उत्तर राजावली काल के सम्पर्क हैं वे इस दीर्घजीवी सभ्यता के अन्तिम काल के हैं। हड़प्पा की खुदाई से स्पष्ट है कि टीला 'एफ' तथा कब्रिस्तान के अन्य निम्न तल शेष टीला 'एबी' के आधार से प्रायः एक हजार वर्ष अधिक प्राचीन हैं। डा० व्हीलर के सुझाव के अनुसार यदि हम इस आकार की निधि तीसरी सहस्राब्दी का मध्य है तो टीला 'एफ' के पहले स्तर की आबादी का काल ३२ ई० पू० के लगभग तक पहुँच जाता है। मोहन्जो-दड़ो में भूगर्भस्थ जल की तह ऊपर उठ आने के कारण नीचे की आबादियाँ जलमग्न हो गईं। अतः वहाँ सातवें स्तर के नीचे खुदाई नहीं हो सकी। सातवें स्तर के काल का अनुमान लगाना कठिन है। फिर भी २८ १ फुट की गहराई पर पत्थर का खण्डित मद्भाण्डी

---

१ फ्रैंकफर्ट—टेल अस्मर एण्ड खफजे पृ० ७ ।

के मिलने से इस स्तर की आयु का अन्दाजा लगाना कुछ सम्भव हो सकता है। इस प्रकार की सुरकियाँ (फलक १५, च) मूसा प्रस-उबेद एवं मेसोपोटेमिया के अन्य टीलों में प्रारम्भिक राजावली-काल के प्रसंग में मिली हैं। इस सम्बन्ध में डा मैके लिखते हैं कि 'मोहेंजो-दड़ो में निचले स्तरों के काल का अनुमान लगाने में सुरकी की उपलब्धि से बहुत सहायता मिलती है। यह सुरकी कुछ गहरे हरे रंग के पत्थर की बनी है और इस पर 'चटाई-अभिप्राय' बना है (फलक १५, च)। इसी प्रकार का अभिप्राय सूसा (द्वितीय) के एक बर्तन पर मिला था। सूसा (द्वितीय) की तिथि भिन्न-भिन्न विद्वानों ने भिन्न-भिन्न निश्चित की है जैसे ईसा पूर्व ३ से २६ २७ और ३ से २ । इन विविध तिथियों की औसत २८ है। अब यदि हम २८ ई पू को ही मोहेंजो-दड़ो से उत्खात सुरकी की तिथि मान लें तो स्तर न ७ को ३ ई पू की तिथि देना उपयुक्त नहीं होगा। यह कहना कठिन है कि इस स्तर के नीचे की आवासियों को अभी अनमन्न है इसके और कितनी पुरानी होंगी। इन अनमन्न स्तरों में सिन्धु-सभ्यता के शैशव तथा किशोर अवस्था का इतिहास छिपा है। स्तर न ७ में सिन्धु-सभ्यता का जो रूप प्रकाश में आया है वह काफी ही प्रौढ़ है। सर जान मार्शल के मत से क्रमिक विकास सिद्धान्त के अनुसार शैशव से प्रौढ़ अवस्था तक पहुंचने के लिये सिन्धु-सभ्यता को कम से कम एक हजार वर्ष लगे होंगे। इस विकास के लिये यदि हम सात ही शताब्दियाँ भी मान लें तो इस सभ्यता का आरम्भकाल ईसा पूर्व चौथी सहस्राब्दी का प्रथम चरण ही बैठता है। अत सिन्धु सभ्यता का आद्योपान्त जीवन-काल ईसा पूर्व चौथी सहस्राब्दी के पूर्वार्ध से लेकर तीसरी सहस्राब्दी के अन्त तक नियत करना अनुचित नहीं होगा।

---

१ यही 'चटाई अभिप्राय ब्लोब माटी के सुर-अग्रल नाम बलखइर से प्राप्त ठीकरों पर भी मिला है।

देखो स्टाईन—मिमायर्स आफ दि आर्क्योलोजिकल सर्वे ऑफ इण्डिया न १७ फलक ११ स्तर बी १ और फलक २ पृष्ठ के ४१।

६

सिन्धु-सभ्यता का काल निर्णय

(पश्चिमोत्तरी भारत की कुम्भकला के आधार पर)

प्रागैतिहासिक पश्चिमोत्तरी भारत के काल निर्णय की समालोचना में पिगट महोदय लिखते हैं कि इस भूखण्ड की भौगोलिक रचना दो प्रकार की है—(१) बलूचिस्तान का ऊँचा पठार और (२) सिन्धु नद तथा पश्चिमी पंजाब का मैदान। बलूचिस्तान के पठार में बिखरी हुई अनेक छोटी-छोटी प्रागैतिहासिक संस्कृतियाँ पाई गई हैं। इनमें बसने वाले कृषिजीवियों की अलग-अलग जातियाँ परस्पर वियुक्त तंग घाटियों में रहती थीं और इस एकान्तवास में हर एक ने अपनी-अपनी विलक्षण संस्कृति का निर्माण किया था। इसके विपरीत सिन्धु नद के विस्तृत मैदान में एक ऐसी वैवसिक संस्कृति का जन्म हुआ जो बढ़ते-बढ़ते विकास नागरिक सभ्यता के रूप में विकसित हो उठी। यह सभ्यता हड़प्पा और मोहेंजो-दड़ो के केन्द्रीय नगरों में जन्म पाकर धीरे धीरे बढ़ती हुई एक हजार मील लम्बे और चार सौ मील चौड़े विस्तृत क्षेत्र पर छा गई। बलूची पहाड़ियों की स्थानीय विविध संस्कृतियाँ निर्धन लोगों की कृतियाँ थीं। उनमें विषमता है। परन्तु सिन्धु घाटी की समान रूप नागरिक सभ्यता में समृद्धि और ऐश्वर्य की झलक है।

मैक-कौन की विधि का अनुसरण करते हुए पिगट ने सिन्धु सभ्यता के साथ बलूची संस्कृतियों की तुलना विविध दृष्टिकोण से की है। इस तुलना का आरम्भ वह बलूची कुम्भकला के परीक्षण से करता है। पश्चिमी एशिया की कुम्भकलाओं के समान इस कुम्भकला के भी दो प्रसिद्ध भेद हैं—मटियाली और लाल। मटियाली में क्वेटा आमरी कुल्ली शाही-टुम्प नाल झुकर और झाँगर से उपलब्ध बर्तनों के भाण्ड हैं। ये सब प्राचीन खण्डहर दक्षिणी बलूचिस्तान में हैं। लाल कुम्भकला के अवशेष उत्तरी बलूचिस्तान के सुर जंगल, राणा घुंडई, पेरियानो घुंडई नामक स्थानों में तथा हड़प्पा मोहेंजो-दड़ो और सिन्ध की अनेक प्रागैतिहासिक बस्तियों में मिले हैं। पूर्वोक्त दो प्रकार की कुम्भकलाओं के सम्बन्ध में श्री पिगट लिखता है—

लाल कुम्भकला—"लाल कुम्भकला की संस्कृतियों में झोब घाटी की संस्कृति जो राणा-घुण्डई और पेरियानो-घुण्डई नामक स्थानों में केन्द्रित है, सबसे प्राचीन है। इसके भाण्डकरणों में कई एक ज्यामितीय अभिप्राय आम्री के भाण्डकरणों से कुछ कुछ

फलक १६ बलूचिस्तान की मृद्भाण्डों पर चित्रित अलंकरण

मिलते हैं जिससे प्रतीत होता है कि उत्तर काल में आम्री-संस्कृति झोब-संस्कृति से अंशतः प्रभावित हुई थी। परन्तु यह साक्ष्य अधूरा है क्योंकि स्त्रियों और पशुओं की मूर्तियाँ जो झोब और कुल्ली में पाई गई थीं (फलक १७ ए) आम्री और नाल में नाममात्र को भी नहीं मिलीं। झोब और कुल्ली की मूर्तियों में भी परस्पर बहुत अन्तर है क्योंकि इन स्थानों से प्राप्त स्त्री-मूर्तियाँ आकार में एक दूसरी से नितान्त भिन्न हैं[1]।

पिगट के मतानुसार मटियाली कुम्भकलाओं में क्वेटा की कुम्भकला भारत में प्राचीनतम है (फलक १६ ए बी)। आम्री झोब और शाही-टुम्प की कलाओं से इसकी कुछ समानता अवश्य है परन्तु भारतीय कुम्भकलाओं में यह अपनी शैली की निराली ही है और इसके विषय में पुरातत्त्ववेत्ताओं को बहुत कम ज्ञान है। पिगट स्वयं इस बात को मानते हैं कि क्वेटा कुम्भकला से किसी अन्य भारतीय कला की तुलना करना भ्रान्तिकारक है। क्वेटा से उतरकर आम्री की कुम्भकला है जो अपने उत्तरकालीन रूप में नुँडारा की कुम्भकला पर प्रभाव डालती है। नाल की कुम्भकला के दो भेद हैं—एक प्राचीन और दूसरा उत्तरकालीन। प्राचीन रूप की नुँडारा से और उत्तरकालीन की नाल की बहुवर्ण कुम्भकला से जनक मिलती है। पिगट के विचार में क्वेटा आम्री और झोब संस्कृतियाँ हड़प्पा से प्राचीन हैं। आम्री अपने प्राचीन रूप में नुँडारा और कुल्ली की संस्कृतियों को प्रभावित करती है। कुल्ली हड़प्पा से प्राचीनतर है और अन्तिम काल में हड़प्पा सभ्यता पर अपनी छाप डालती है। नाल अंशतः हड़प्पा के समकालीन और अंशतः उत्तरकालीन है।

अपनी समालोचना के प्रसंग में पिगट महोदय पुनः लिखते हैं—

यह सम्भव नहीं कि आम्री को जमदेत-नसर से अधिक प्राचीन माना जाए, क्योंकि आम्री-संस्कृति हड़प्पा संस्कृति के बिलकुल ही नीचे मिली है और हड़प्पा-संस्कृति स्वयं प्रारम्भिक राजावली काल से पहले की नहीं हो सकती। अपने पूर्व-जनक रूप में झोब-संस्कृति हिसार (प्रथम) के अन्तिम काल से सम्बद्ध है और इसका यह रूप आम्री संस्कृति के आरम्भ काल से बहुत वियुक्त नहीं। राजावली काल में भारत और सुमेर के बीच वाणिज्य-सम्बन्ध स्थापना करने में यदि कुल्ली का स्थान प्रधान था तो सिन्धु-सभ्यता और सार्गन के समय के उत्तरकालीन सम्पर्क शायद कुल्ली माध्यम के द्वारा ही सम्पन्न हुए हों। इसका प्रमाण मकरान के समुद्रतट पर स्थित सुतकजडोर नामक सिन्धु-सभ्यता का प्राकार-वेष्टित खण्डहर है[3]।

---

१ एन्शेंट इंडिया न० १ पृ० ८२४।
२ एन्शेंट इंडिया न० १ पृ० ८२४।
३ एन्शेंट इंडिया नं० १ पृ० ८-२४।

पिगट के मत में सिन्धु-सभ्यता सिन्धु घाटी में प्रारम्भिक राजावली काल के समस्त सांस्कृतिक लक्षणों सहित प्रकाश में आती है। इन लक्षणों में नागरिक अनुशासन लिपि मूर्तिकला मुद्राएँ, धातु-विद्या आदि वर्णनीय हैं। उनका सुझाव है कि कुल्ली-संस्कृति वास्तव में सिन्धु-सभ्यता की जननी थी और सिन्धु-सभ्यता से प्रभावित जो वस्तुएँ कब्रों से प्राप्त हुई वे सम्भवतः समाप्ति-काल की थीं।

पिगट का काल-निर्णय दोषयुक्त है—पिगट के द्वारा निर्धारित पश्चिमोत्तर भारत की संस्कृतियों का काल-निर्णय दोष-ग्रस्त है। उनका तर्क कहीं भी प्रौढ़ता की कोटि तक नहीं पहुँचता। अपनी तुलनाओं को अधूरा छोड़कर दोलायित मन से वे एक विषय से दूसरे की ओर भागते हैं। सिन्धु-सभ्यता की अर्वाचीनता में जो प्रमाण उन्होंने दिये हैं वे ऐसे दुर्बल और असम्बद्ध हैं कि उनसे उनके पक्ष की पुष्टि नहीं होती। अपनी प्रौढ़ दशा में जब सिन्धु-सभ्यता मोहेंजो-दड़ो के सातवें स्तर में प्रकट होती है तो वह पहले ही पूर्ण-रूप से विकसित है। इसमें सिन्धु युग के शिल्पियों और कलाकारों की अलौकिक प्रतिभा का प्रतिबिम्ब एवं सामाजिक धार्मिक और कला-विषयक रुचियों का विचित्र समन्वय है जिसकी तुलना अन्यत्र कहीं नहीं मिलती। इसका व्यापक क्षेत्र एक हजार मील लम्बा और चार सौ मील चौड़ा सिन्धुनद का मनोहर काठा था जो संसार की अति प्राचीन मिस्र और बाबुल की सभ्यताओं के संयुक्त क्षेत्र से भी अधिक विस्तृत था। सिन्धुनद की कलकली धारा की तरह इस सभ्यता का ओजस्वी प्रवाह डेढ़ हजार वर्ष तक अपनी विलक्षण रूढ़ियों और विलक्षणताओं को लिये अवि-च्छिन्न रूप से बहता रहा। सिन्धु-सभ्यता की इस गम्भीर अजस्र धारा की तुलना जब हम बलूचिस्तान की झोब कुल्ली आदि क्षुद्र ग्राम-संस्कृतियों से करते हैं तो ये संस्कृतियाँ पंकिल पल्वलों की तरह प्रतीत होती हैं। इस प्रसंग में प्रो० व्हीलर लिखते हैं कि "यह जानना अत्यावश्यक है कि क्या बलूची संस्कृतियाँ सिन्धु-सभ्यता की जननी थीं अथवा उसके उत्तरकालीन अवनति-युग की ग्रामसमाज थीं। प्रमाणों के आधार पर कहा जा सकता है कि पूर्वोक्त दो विकल्पों में से दूसरा अधिक संगत है।

खुदाई का साक्ष्य—मोहेंजो-दड़ो के सातवें स्तर में सिन्धु-सभ्यता की जो प्रौढ़ अवस्था मिलती है वह प्रारम्भिक राजावली काल की सुमेरी सभ्यता के अपेक्षया समान है। प्रश्न उठता है कि ऐसी प्रौढ़ दशा तक पहुँचने के लिये इसे कितना समय लगा होगा। शैशव से किशोरावस्था और किशोरावस्था से प्रौढ़ता प्राप्त करने के लिये मार्शल के विचार में कम से कम एक सहस्र वर्ष का समय चाहिये। वे अपनी समालोचना में इस प्रकार लिखते हैं—

इस सभ्यता के विकास के लिये एक लम्बे समय की कल्पना करनी अनिवार्य है। परिपक्व नागरिक जीवन विन्यास क्रम मन्दिरादि विविध शिल्पकलाएँ, नाना रूप

कुम्भकला, उत्कीर्ण पाषाण-मुद्राएँ, सरल चित्राक्षरों से जटिल सिन्धु लिपि का क्रमिक विकास आदि इस सभ्यता की प्रगति के प्रधान लक्षण हैं। मेरे विचार में इस प्रगति के लिये एक हजार वर्ष भी थोड़ा ही समय होगा। मार्शल महोदय का यह अनुमान मनमानी कल्पना नहीं है किन्तु ठोस आधार पर आधारित पुरातत्ववेत्ताओं का क्रियात्मक अनुभव है। स्मरण रहे कि सिन्धु-सभ्यता इस प्रौढ़ दशा में कहीं विदेश से उखाड़ कर इस भूमि में नहीं लाई गई। यह देश की उपज थी जैसा कि हड़प्पा और मोहेंजो-दड़ो के टीलों की स्तर-परीक्षा से स्पष्ट प्रतीत होता है। यह यहीं पैदा हुई फूली-फली और अन्त में इसी भूमि की गोद में समा गई।

सन् १९२५ के पहले की खुदाई का साक्ष्य—जब हम डा० व्हीलर की खुदाई का पहली खुदाई के आलोक में अध्ययन करते हैं तो स्पष्ट मालूम होता है कि टीला 'ए-बी' पर जब प्राकार बनाया गया तो टीला 'एफ' तथा अन्य निचले क्षेत्रों में मनुष्य जीवन समाप्त हो चुका था। इस समय केवल 'ए-बी' और 'ई' दो ऊँचे टीलों पर ही आबादी थी। इस दशा में डा० व्हीलर के 'दुर्ग-शासन' की कल्पना करना असम्भव है। वत्स महोदय के विचार में टीला 'एफ' में नीचे के पाँच स्तर मोहेंजो-दड़ो से पहले के हैं। उनका यह विचार प्रायः स्तर-रचना और प्रायः क्षुद्राकार मुद्राओं के साक्ष्य पर आश्रित है। इस भाँति की एक भी छोटी मुद्रा अभी तक मोहेंजो-दड़ो में नहीं मिली। सम्भवतः ये छोटी मुद्राएँ सिन्धु-सभ्यता के शैशव-काल की वस्तुएँ थीं और खुदाई करने पर शायद मोहेंजो-दड़ो के उन स्तरों में मिल जाएँ जो अभी जलमग्न हैं।

मार्शल के द्वारा निर्धारित सिन्धु-सभ्यता की तिथि उस अंश में ठीक है जहाँ तक कि इस सभ्यता के आरम्भ काल का प्रश्न है। मोहेंजो-दड़ो के साथ जल्हार स्तरों और हड़प्पा के लिये उन्होंने जो ऊपर की सीमाएँ नियत की हैं वे यथाक्रम ईसा पूर्व ३२५० और चौथी सहस्राब्दी का पूर्वार्ध हैं। हड़प्पा के लिये सीमा बढ़ाने का कारण यह था कि इसके पाँच स्तर, जिनमें छोटी मुद्राएँ मिलीं मोहेंजो-दड़ो से पहले के थे। परन्तु गत वर्षों में मेसोपोटेमिया में जो अनुसन्धान हुआ है उसके आलोक में सिन्धु सभ्यता के अन्तकाल की सीमा में परिवर्तन करना आवश्यक हो गया है। सार्गान के समय की सिन्धु-मुद्राएँ तथा टीला अस्मर से प्राप्त वस्तु समुदाय प्रकट प्रमाण हैं कि तीसरी सहस्राब्दी ई० पू० के अन्त तक सिन्धु देश और मेसोपोटेमिया में परस्पर वाणिज्य सम्बन्ध था। हमें यह भी ज्ञात है कि सिन्धु-सभ्यता के अन्तिम काल में कुछ विजातीय लोग जिनके अस्थि पिंड कब्रिस्तान 'एच' में उपलब्ध हुए, हड़प्पा आकर बस गये थे। मोहेंजो-दड़ो के नष्ट हो जाने के बाद भी ये लोग वहाँ दो सौ वर्ष के लगभग रहे।

---

१ एन्शेंट इंडिया नं० ३ पृ० ७६।

बतलाता है कि पाषाण-शिल्पकला का केन्द्र मकरान नहीं किन्तु सिन्धु प्रान्त था। मोहेंजो-दड़ो की खुदाई में जितना भी खड़िया पत्थर मिला वह राजपूताना की खानों की उपज था क्योंकि यही खानें इस पत्थर का निकटतम उत्पत्ति-स्थान हैं[1]। सिन्धु-सभ्यता के पूर्वोक्त केन्द्र-नगरों से जितनी मुद्राएँ अथवा पत्थर के बर्तन मिले वे प्राय इसी पत्थर के बने थे। निर्जन और दुर्गम पहाड़ी इलाके में स्थित होने के कारण कुल्ली इस कला का केन्द्र नहीं हो सकती। कुल्ली की स्त्री-मूर्तियाँ उतनी भव्य और सजीव नहीं दीखती जितनी कि सिन्धु प्रान्त की। दूसरी बात यह है कि उनकी बनावट में झोब और सिन्धु की कला विशेषताओं का मिश्रण होने से कुल्ली की स्त्री-मूर्तियाँ कला-संकरता का एक रोचक उदाहरण है। सिन्धु-सभ्यता की पशुमूर्तियाँ (खिलौने) कला-दृष्टि से बहुत साधारण और कुरूप हैं। रेखा-चित्रित सुडौल कुल्ली के खिलौनों से उनका बहुत कम सादृश्य है। कुल्ली का कांस्य दर्पण जिसकी मूठ स्त्री की आकृति की है एक उत्कृष्ट कलाकृति है और सिन्धु-सभ्यता के अलंकरणहीन सादे दर्पणों का यह उत्तरकालीन उन्नत रूप है।

सिन्धु-सभ्यता की नाल—नाल निस्सन्देह हड़प्पा के बाद का है। यहाँ सिन्धु-सभ्यता के जो अंश मिले वे इस सभ्यता के ह्रास-काल के थे। इसका समर्थन नाल से प्राप्त उभरे हुए पुष्ट पीपल की पत्तियाँ आदि अभिप्रायों और पत्थर के ठोस गोल मनके आदि वस्तुओं से होता है। नाल में ईरानी शैली की पाषाण-मुद्राएँ बहुतायत से मिली थीं परन्तु सिन्धु-सभ्यता की एक भी मुद्रा हस्तगत नहीं हुई। मालूम होता है कि कुल्ली और नाल की बस्तियों का सिन्धु-सभ्यता से साक्षात् सम्बन्ध नहीं था। हड़प्पा की कला-कृतियाँ कुल्ली में अवश्य किसी माध्यम के द्वारा पहुँची होंगी।

सर ऑरल स्टाइन कुल्ली को झोब से अर्वाचीन और नाल से प्राचीन मानते हैं। इस प्रसंग में यह उल्लेखनीय है कि डबरकोट और सुनकबडोर नामक झोब संस्कृति के टीलों में झोब और सिन्धु संस्कृतियों के अवशेष समकालीन स्तरों में पाए गये थे। इससे स्पष्ट है कि अपने प्राचीनतम-स्तर में सिन्धु सभ्यता झोब की समकालीन और कुल्ली से प्राचीन थी। पिगट का तर्क है कि अभिनाल पीपल की पत्तियाँ पेड़ आदि हड़प्पा की विलक्षणताएँ कुल्ली में उसके ह्रास काल में पहुँची थीं। परन्तु आपत्ति यह है कि पीपल का पेड़ कुल्ली की प्राचीनतम अभिवर्ण कुम्भकला पर भी मिलता है। कुल्ली में उपलब्ध 'पीपल-का पत्ता' अभिप्राय अस्वाभाविक है। निस्सन्देह यह हड़प्पा के अभिप्राय का उत्तरकालीन विकृत रूप है। इसी प्रसंग में पिगट पुनः लिखते हैं कि कब्रिस्तान 'एच' के बर्तनों पर बने हुए पशु निस्सन्देह कुल्ली के बर्तनों पर चित्रित

---

१ मार्शल—मोहेंजो-दड़ो एण्ड दि इण्डस सिविलाइजेशन भाग २ पृ १७९।

पशुओं की अनुकृति है। कुल्ली और बलूचिस्तान 'एच' में यह सादृश्य स्पष्ट बतलाता है कि कुल्ली बलूचिस्तान 'एच' की तरह सिन्धु-सभ्यता के उत्तरकाल की संस्कृति थी।

हिसार और अन्यों के तीसरे स्तर के काल-निर्णय के विषय में पिगट का मैक कौन से जो मतभेद है वह प्रधानतः इस भ्रम पर आधारित है कि सिन्धु-सभ्यता उत्तर कालीन है। परिणामतः उस कारण का साक्ष्य जो उन्होंने अपने भ्रान्त सिद्धान्त के समर्थन में उपस्थित किया है उनकी अपनी सम्मति में भी अधूरा और सन्दिग्ध होने के कारण अग्राह्य है। उदाहरणार्थ कुल्हाड़ा-शीर्षक मुद्राएँ जो हड़प्पा और मोहेंजो-दड़ो में मिलीं भारतीय कलाकृतियाँ थीं न कि विदेशीय। इस प्रकार स्तूपकों की मुद्राएँ जो ऊपर स्तर में उपलब्ध हुईं, निस्सन्देह मोहेंजो-दड़ो की मुद्राओं की अनुकृति थीं। परन्तु पिगट महोदय भ्रम से भारतीय मुद्राओं को विदेशीय कलाकृतियाँ बतलाते हैं। उनका यह भ्रममूलक प्रमाण मैक-कौन के हिसार-विषयक काल-निर्णय पर किसी प्रकार का प्रभाव नहीं डालता। हिसार के टीले के निचले स्तरों में कई एक भारतीय कलाकृतियाँ पाई गई थीं जिनसे भारत और ईरान के बीच राजावली काल और उससे भी पहले का सम्पर्क सिद्ध होता है। इस साक्ष्य का पिगट ने ठीक मूल्य नहीं आँका। उदाहरणार्थ हिसार में एक गोल चपटी-मुद्रा जिस पर बैल की मूर्ति खोदी है जिसको भी पिगट "सन्दिग्ध सिन्धु-सभ्यता की वस्तु" बतलाते हैं।[1] पुनः सिन्धु-सभ्यता की 'सफेद' मणि-मालाएँ जिनमें निकोलस मनके (फलक १ …) लगे हुए हैं हिसार के निचले स्तरों में मिले हैं। हिसार से प्राप्त अनेक भारतीय कलाकृतियाँ पिगट के मत में सिन्धु-सभ्यता के अन्तिम काल की वस्तुएँ हैं। पूर्वोक्त प्रमाणों से प्रतीत होता है कि चौथी सहस्राब्दी ईसा पूर्व ईरान और सिन्धु देश में परस्पर वाणिज्य अथवा आनाजाना सम्बन्ध अवश्य था। इसी प्रकार भारत और मेसोपोटेमिया के बीच इसी काल के प्राचीन सम्पर्क को भी पिगट ने यथार्थ नहीं समझा है। उनका यह कहना कि मेसोपोटेमिया में उपलब्ध राजावली काल की भारतीय वस्तुएँ जैसे कूबड़ वाले बैल आदि की आकृतियाँ सम्भवतः सीधी कुल्ली प्रान्त से आई थीं न कि सिन्धु प्रान्त से नितान्त शंकास्पद है। मैं उनसे यह पूछना चाहता हूँ कि क्या बैल और 'टोकरा' अभिप्राय जो उबैद काल के पात्र … खोदा था पेंच में मिला था और जिसकी तिथि चौथी सहस्राब्दी ई॰ पू॰ है जो कुल्ली से ही लिया गया था? क्या कुल्ली संस्कृति के एक भी भाण्ड पर ऐसा अभिप्राय नहीं मिला है? परन्तु सिन्धु मुद्राओं पर यह बहुत साधारण है। इससे अनुमान की सन्देह नहीं कि सुमेरियन लोगों ने यह अभिप्राय

---

१ पिगट महोदय ने कारण नहीं बतलाया कि यह मुद्रा क्यों सन्दिग्ध सिन्धु-सभ्यता की वस्तु है।

कुल्ली से नहीं किन्तु सिन्धु प्रान्त से प्राप्त किया था।

सिन्धु-सभ्यता से कुल्ली संस्कृति प्राचीन नहीं—कुल्ली को सिन्धु-सभ्यता से प्राचीन बतलाना दुराग्रह मात्र है। कुल्ली में सिन्धु तथा अग्नि वर्ण शैली की कुम्भ-कलाओं पर 'बलि वेदिका' और उसके साथ बँधा हुआ कूबड़वाला बैल पाया जाता है। स्वभावतः प्रश्न उठता है कि कुल्ली-संस्कृति में 'बलि वेदिका' अभिप्राय कहाँ से आया? मेसोपोटेमिया की अग्निवर्ण कुम्भकला से इसे नहीं लिया गया क्योंकि उस पर इसका अवेपन अभाव है। न ही यह कुल्ली की किसी अन्य वस्तु या मुद्रा पर मिलता है। कुल्ली-संस्कृति इस अभिप्राय के प्रादुर्भाव तथा प्रयोजन पर कोई प्रकाश नहीं डालती। इसके विपरीत सिन्धु-सभ्यता में हमें इस अभिप्राय के क्रमिक विकास और इतिहास का सुसम्बद्ध परिचय मिलता है। सिन्धु-सभ्यता के एकशृंग और पशुपति-देवता से इसका घनिष्ठ सम्बन्ध है। क्या सिन्धुकालीन 'बलि-वेदिका' भी कुल्ली से ही ली गई थी? यह सम्भव नहीं। यदि ऐसा होता तो कुल्ली में वेदिका के साथ एक शृंग की बजाय बैल का सम्बन्ध क्यों जोड़ा जाता। कुल्ली तथा कुल्ली-संस्कृति के अन्य खंडहरों में एकशृंग का एक भी चित्र क्यों नहीं मिला। प्रतीत होता है कि यह अभिप्राय कुल्ली के लोगों ने सिन्धु-सभ्यता से प्राप्त किया था और यह आदान-प्रदान उस समय हुआ जब इस चिह्न का सकेतार्थ अवेपन विस्मृत हो चुका था।

पिगट के विचार में क्वेटा की कुम्भकला के सम्बन्ध में इतना थोड़ा ज्ञान है कि उससे पश्चिमोत्तरी भारत की अन्य कुम्भकलाओं की तुलना करना निरर्थक है। इस अज्ञान-दशा में यह कहना कि क्वेटा की कुम्भकला भारत की मटियाली कुम्भकलाओं में प्राचीनतम है भ्रान्तिजनक है। उनका यह कहना कि क्वेटा के अनन्तर आम्री की कुम्भकला का स्थान है जो अपने अन्तिम काल में मुंडारा की प्रारम्भिक कुम्भकला से सम्बद्ध है और भी भ्रान्तिजनक है। वह नाल की कुम्भकला को दो भेदों में विभक्त करते हैं—(१) प्राचीन रूप जो मुंडारा की कुम्भकला में मिलता है, और (२) उत्तरकालीन रूप जिस पर बहुवर्ण चित्र बने हुए हैं। एक ओर तो मुंडारा की कुम्भकला का सादृश्य आम्री से दिखलाया गया है और दूसरी ओर कुल्ली से परन्तु दोनों ओर यह सादृश्य अधूरा ही रह जाता है।

पूर्वोक्त संदिग्ध और अधूरे सादृश्यों के आधार पर पिगट महोदय अत्यन्त महत्त्वपूर्ण निर्णयों पर उतर आते हैं। उनके अनुसार क्वेटा आम्री और झोब संस्कृतियाँ हड़प्पा से पहले की हैं और आम्री अपने अन्तिम काल में मुंडारा और कुल्ली को प्रभावित करती है। वह कुल्ली के प्रारम्भिक काल को हड़प्पा से प्राचीन परन्तु अन्तिम काल को इसका समकालीन बतलाते हैं। नाल को अवश्य हड़प्पा का समकालीन और

अथवा उत्तरकालीन। सिन्धु-सभ्यता और बलूचिस्तान की बस्तियों के बीच विच्छिन्न और खण्डित सादृश्यों की इकाई नींव पर वे गम्भीर सिद्धान्तों की मायापुरी का निर्माण करते हैं। अतः पिगट अथवा डा ह्वीलर के इस निर्णय का मानना कठिन है कि सिन्धु-सभ्यता ताम्रयुगी काल के मध्य (लगभग २८   ई पू) में उत्पन्न हुई और १५   ई पू के आस-पास आर्यजाति के आक्रमणों से नष्ट हो गई।

७

धर्म और धार्मिक कथानक

उपलब्ध प्रमाणों के आधार पर यह निर्विवाद है कि धर्म संस्कृति तथा पारलौ सत्ता के विषय में हड़प्पा और मोहेंजो-दड़ो के लोग एकसमान थे। 'मोहेंजो-दड़ो एण्ड दि इंडस वैली सिविलाइजेशन' नामक अपनी पुस्तक में मार्शल महोदय ने इनके धर्म पर विद्वत्तापूर्ण समालोचना की है। वे प्रमाण जिनके आधार पर सिन्धु-सभ्यता के संक्षिप्त इतिहास का संकलन हो सका है केवल छोटी-छोटी वस्तुएँ हैं, जैसे मुद्राएँ, मुद्रालेखें ताँबे की लेखांकित पट्टियाँ मिट्टी और पत्थर की मूर्तियाँ आदि। इनके अतिरिक्त दो ऐसे वास्तु जो सम्भवतः देवस्थान हो सकते हैं भी सिन्धु के काठे में प्रकाश में आए हैं। ये देवस्थान प्राकार परिवृत पीठ-मन्दिर प्रतीत होते हैं। इनमें से एक हड़प्पा में और दूसरा मोहेंजो-दड़ो में है। दोनों सबसे ऊँचे टीलों के शिखरों पर स्थित हैं। इन टीलों के आधुनिक नाम क्रमशः टीला 'ए-बी' और 'स्तूप-टीला' हैं। दोनों खण्डहरों से उत्खात वस्तु-सामग्री के परस्पर सापेक्ष होने के कारण हड़प्पा के वर्णन प्रसंग में मुझे स्थान-स्थान पर मोहेंजो-दड़ो की उपलब्धियों का भी उल्लेख करना पड़ा है।

मार्शल की सम्मति में सिन्धु काल का सबसे प्रधान देवता मातृदेवी थी जिसकी असंख्य मृण्मय मूर्तियाँ हड़प्पा और मोहेंजो-दड़ो की खुदाई से प्राप्त हुई हैं।[1] अधिकांश वे स्थान-मुद्रा में हैं और कटिवस्त्र के बिना उनका शेष शरीर नग्न है[2]। उनके सिरों पर पंखे अथवा तोरण के आकार का ऊँचा शिरोवेष्टन और गले में कई लड़ी के हार तथा मालाएँ हैं (फलक १७ ग)। उनकी भुजाएँ प्रायः शरीर के समानान्तर घुटनों तक लटकती हैं। परन्तु कई मूर्तियाँ भुजाएँ उठाकर हाथों से शिरोवेष्टन को छू रही हैं मानो अभिवादन कर रही हों (फलक १० ग)। इस देवी की मूर्तियाँ बलूचिस्तान तथा झोब नदी की घाटी में भी मिली हैं और उनको पैरी भी चिपटी है। झोब की मूर्तियों के सिरों पर टोपी की तरह आवरण (फलक १७ घ) और कुल्ली की मूर्तियों

---

१ मार्शल के विचार में सिन्धु-देवताओं में नारी अंश प्रधान था। मेरी अपनी धारणा है कि सिन्धु-काल में नारी अंश नहीं किन्तु पुरुष-अंश प्रधान था।

२ यह कटि वस्त्र 'कौनक' नामक उस कटिवस्त्र से मिलता है जो राजावली काल के सुमेरियन लोग पहनते थे।

के गलो मे हार और मालाएँ हैं (फलक १७ ब) जो आकार म मोहेंजो-दड़ो की मुद्रा म ४२ पर खुदे हुए त्रिमुख शिव के वक्षस्थल पर पहने हुए कवच के समान हैं। इन मूर्तियो के चेहरे घोराकृति धाँखें धँसी हुई और मुख विकराल हैं। मातृदेवी की प्रतिकृतियाँ पश्चिमी एशिया और भूमध्य सागर के पूर्वी तट के पास वाले द्वीपों में सर्वत्र पाई गई हैं। विशेषत इलम मैसोपोटेमिया लघु-एशिया सीरिया और फलिस्तीन के प्रदेशों मे उसकी पूजा भिन्न-भिन्न रूपो तथा नामा से सिन्धुनद से लेकर नीलनद तक प्रचलित थी। परन्तु इनने कहीं भी इतना व्यापक तथा सार्वदेशिक रूप धारण नही किया जितना कि भारत मे जहाँ वह समष्टि-चेतना (पुरुष) की सर्वोपरिणी रूप से ब्रह्माण्डसत्ता (प्रकृति) की पूर्व-रूप थी। उत्तरकालीन शक्ति-पूजा के मूल मे इसी सिन्धुकालीन मातृदेवी की पूजा थी। मार्शल की सम्मति मे धार्मेजनि ने मातृदेवी की उपासना भारत के आदिवासियो से सीखी और इसे अपने धर्म का अंग बना लिया। वे लिखते हैं कि वैदिक काल मे पुरुष-लिंग देवताओं का स्थान प्रधान और स्त्री-लिंग देवताओ का गौण था[1]। इस विचार की पुष्टि मे वह हड़प्पा की मुद्रा न ३ ४ (फलक १७ इ) के साक्ष्य का प्रमाण देते हैं। उसकी व्याख्या के अनुसार इस मुद्रा के एक ओर एक नग्न स्त्री शीर्षासन मुद्रा मे पौधे को जन्म दे रही है। दूसरी ओर भूदेवी के उपहार मे नरबलि का दृश्य है जिसमे एक मनुष्य हाथ मे कटार लिये एक असहाय स्त्री का गला काटने को उद्यत है (फलक १७ इ १)। वह इस दृश्य की तुलना भीटा की मुद्राछाप[2] (फलक १७ च) से करते हैं जिसमे एक देवी टाँगें फैलाए इसी मुद्रा मे बैठी है परन्तु कमल का पौधा उसके गर्भ से नहीं किन्तु गले से निकल रहा है।

हड़प्पा की मुद्रा पर दिए हुए दृश्य की व्याख्या के विषय मे मार्शल से मेरा मतभेद है। मेरे विचार म मुद्रा के दोनो ओर उन भीषण नरक-यातनाओ का चित्रण है जो उस समय के लोगो की धारणा के अनुसार पापी मनुष्य परलोक में भोगते थे।

१ मातृदेवी अथवा भूदेवी की उपासना वैदिक काल म भी थी। ऋग्वेद-काल मे लेकर आज तक इसे सारी सृष्टि की बीज-रूप मौलिक ब्रह्माण्ड सत्ता के रूप में मानते चले आए हैं। पहले वह द्यौ के सहित पृथ्वी (द्यावापृथ्वी) के रूप में फिर अदिति के रूप म और तदनन्तर पुरुष के सह प्रकृति के रूप म प्रकट होती है। उत्तरकालीन धार्म-साहित्य मे वह शक्ति के नाम से प्रसिद्ध है। दुर्गा काली गौरी आदि उसके विविध भावमय रूप हैं।

२ कम्प—एक्सकेवेशन्स ए८ हड़प्पा फलक ९३।

३ भारत पुरातत्त्व विभाग की सन् १९११ १२ की वार्षिक रिपोर्ट फलक २१ ४ ।

फलक १८ महिष-मुंड देवता और उसके व्यंजक अन्य चित्र

चतुर्मुख महेश का पूर्वरूप था। शिव-कल्पना भारत में बहुत पुरानी है और मेसोपोटे-मिया में तो यह इससे भी पुरानी है क्योंकि वहाँ 'अनु' 'एन-लिल' और 'ई' अथवा 'सिन्' 'शमश' और 'इश्तर' नाम शिव की भाव-कल्पना अति प्राचीन काल से विदित थी। मोहेंजो-दड़ो की मुद्राओं पर जो त्रिशिर पशु बने हैं (फलक २ 'क')[1] शायद उनके मूल में भी शिव की ही भाव-कल्पना थी। इस काल्पनिक पशु के तीन सिरों में एक नीलगाय का दूसरा एकशृंग का और तीसरा बकरे का है।"

मार्शल पुनः लिखते हैं—"शिव सर्वोत्तम योगिराज हैं, इसीलिये वह महातपा और महायोगी भी कहलाता है। वह अलौकिक तपस्वी और शरीर-शोषक है।

वैयक्तिक के समान योगक्रिया का आविर्भाव भी भारत की आदिवासी अनार्य जातियों में हुआ ... शिव केवल योगिराज ही नहीं किन्तु पशुपति भी हैं और उनकी इसी स्वाभाविक विलक्षणता के कारण ही इस मुद्रा पर उसे चार पशु घेरे हुए हैं ... 'उत्तरकाल में सिन्धु-सभ्यता के इस त्रिमुख देवता के सिर पर के सींग त्रिशूल के आकार में बदल गये और इस रूप में वे शिव का विशेष लक्षण बन गये ... 'इसलिये इस मुद्रा पर एक ऐसा देवता बना है जिसकी शरीर रचना उसे ऐतिहासिक शिव का पूर्वरूप घोषित करने में हमें बाध्य करती है।'[2]

पूर्वोक्त उदाहरण मुद्रा नं० ४२ पर अंकित देवता के विषय में मार्शल की व्याख्या का सारांश है परन्तु मुद्रा के सूक्ष्म परीक्षण के अनन्तर इस सम्बन्ध में मेरा उनसे बहुत मतभेद है। यह देवता न तो त्रिमुख है और न ही मनुष्य-मुख। इसका शरीर जो प्रकटतः मानुषी दिखाई देता है वस्तुतः कई पशुओं अथवा उनके अवयवों के विलक्षण संयोग से संगठित है। यह मूर्ति भ्रान्ति और प्रतारणा का अच्छा उदाहरण है। पशु मुख के समान लम्बा चेहरा उभरी हुई तिरछी आँखें लम्बे कान आँखों से लेकर ठोडी तक दोनों ओर गहरी झुर्रियाँ रोमरहित अण्डाकार छोटा-सा सिर—ये सब लक्षण निस्सन्देह इस तथ्य के प्रतिपादक हैं कि सिर पशु का है। और फिर सिर पर कुण्डित विशाल सींग जो स्पष्ट रूप से भैंसे के हैं इस बात का और भी समर्थन करते हैं कि देवता महिष-मुख है। पार्श्ववर्ती दो मुखों की भ्रान्ति लम्बे कानों के कारण है जो सरसरी दृष्टि से देखने पर उन्नत नासायुक्त प्रतीत होते हैं। कानों के नीचे दोनों ओर की पड़ी रेखाएँ मोछों का भ्रम पैदा करती हैं। वस्तुतः ये रेखाएँ सर्पेली लिपि के 'यू' वर्ण के आकार के किसी भूषण अथवा यन्त्र जिसे देवता ठोडी के नीचे

१ मार्शल—मोहेंजो-दड़ो एण्ड दि इण्डस सिविलाइजेशन खण्ड १ फलक ११२, चि० २।

२ मार्शल—वही पृष्ठ ५२-५५।

पहने हुए हैं के बढ़े हुए किनारे हैं (फलक १८ क)। देवता के महिष मुख होने का समर्थन उस दृश्य से भी होता है जो मोहेंजो-दड़ो की एक मुद्रा[1] पर उत्कीर्ण है (फलक २० ३)। इसमें प्राकार-वेष्ठित देवद्रुम के सामने एक यूप है जिसके शिखर पर सींगवाला महिषमुंड प्रतिष्ठित है। सींगों के मध्य में शिखण्ड के समान उठती हुई पीपल की शाखा देवत्व का चिह्न है[2]। यूप के शिखर पर महिषमुण्ड के होने का तात्पर्य यह है कि महिषमुण्ड देवता देवद्रुम का अधिष्ठातृ देवता होने के कारण उसका संरक्षक था। यह देवद्रुम जीवन-तरु माना जाता था। वे भाग्यवान् जो इसकी शाखा को अपने सिर पर धारण करते थे अमर और अभय हो जाते थे। पूर्वोक्त चारदीवारी के बाहर और महिषमुण्ड देवता की उपासना में एक पुरोहित मसनूपम कर से घोट रहा है। ध्यानपूर्वक देखने से प्रतीत होगा कि इस देवता का सींगोंवाला मुकुट मुद्रा न० ३८७ पर अंकित पीपलवृक्ष की प्रतिकृति है। महिषमुण्ड-देवता के मुकुट में पत्ते के आकार का शिखण्ड इसी मुद्रा पर अंकित पीपल वृक्ष के छत्राकार आकार का अनुकरण है और भैंसे के सींग एकशृंग के सिरों का यथातथ अनुकरण हैं। हड़प्पा और मोहेंजोदड़ो की कई मुद्राओं पर एक देवता को दो पीपल के मध्य खड़ा दिखाया गया है (फलक १९ क)। और मोहेंजो-दड़ो मुद्रा न० ३८७ पर इसी वृक्ष की रक्षा दो-एक शृंग कर रहे हैं (फलक १८ ड)[1]। इससे स्पष्ट है कि पीपल और एकशृंग अश्वत्थ-देवता के प्रतीक थे। फलतः वह देवता जो अश्वत्थ और एक शृंग-रूपी दो भिन्न अंगों से संघटित मुकुट अपने सिर पर धारण करता था अवश्य ही अश्वत्थ-देवता से निम्न कोटि का देवता था।

मार्शल का विचार है कि देवता की भुजायें कन्धों से कलाई तक कंगनों से सजी हैं। इसमें संशय नहीं कि यद्यपि स्थूल दृष्टि से ये मानुषी भुजायें दिखाई देती हैं,

---

१ मैके—फर्दर एक्सकेवेशन्स एट मोहेंजो-दड़ो भ० २ फलक १ १ मुद्रा ८।

२ प्राक्-वंशावली-काल के सुमेरियन देवताओं के मुकुटों में दन्त-शृंग के सींगों के बीच भी देवद्रुम की पल्लवमय शाखा है। प्रतीत होता है कि शाखा शिखण्ड की यह विलक्षणता सुमेरियन लोगों ने सिन्धु-लोगों से ली थी। मेसोपोटेमिया में यह शाखा-शिखण्ड कुछ समय के लिए अकस्मात् प्रकट होता है परन्तु उत्तर-काल में लुप्त हो जाता है। विपरीत इसके सिन्धु-सभ्यता में यह अपना प्रभाव दीर्घ-जीवन-काल में निरवच्छिन्न बनी रहती है और देवद्रुम-कथानक से इसका प्रादुर्भाव इस तथ्य का साक्षी है कि यह कल्पना प्रथम भारत में उत्पन्न हुई।

१ मार्शल—वही ग्रन्थ ३ फलक ११२, मुद्रा ३८७।

वस्तुतः वे ऐसी नहीं। वे साक्षात् कनखजूरे हैं जो शरीर के दोनों ओर कन्धों से लटक रहे हैं। अपने विचार की पुष्टि में मैं यहाँ हड़प्पा की मुद्रा न० २४९ (फलक १ घ) जिस पर अद्भुत शरीर पशु उत्कीर्ण है का उल्लेख करना चाहता हूँ। इस पशु के विषय में विचित्र बात यह है कि इसकी ठोडी के नीचे हाथी की सूँड की तरह कनखजूरा लटक रहा है। इस प्रकार के मिश्रण योग का तात्पर्य यह था कि शरीर बीच के इस अंग से हाथी के सूँड की अपार शक्ति और कनखजूरे की लोक प्रसिद्ध मार-शक्ति का एक समन्वय किया जाता। यह पशु एक विचित्र रूप था और इसके विषय में लोगों की साधारण धारणा थी कि यह अलौकिक दैवी-शक्तियों का स्वामी होने के कारण देवरूप का बहुत ही उपयुक्त वाहन था। मुद्राओं पर खुदी हुई रूपमूर्तियों का यदि सूक्ष्म दृष्टि से परीक्षण किया जाए तो पता लगेगा कि इन सबकी भुजायें जो देखने में कटीली मालूम होती हैं साक्षात् कनखजूरे हैं। यही कारण है कि नागों को पकड़ने वाले गिलगमेश के समान वीर पुरुष की भुजायें भी साक्षात् कनखजूरे ही हैं (फलक १६, ख)।

अब अद्भुत देवता के शरीर के अंगोपांग को ध्यानपूर्वक देखिए। कलाकार की कला का यह अद्भुत उदाहरण है। इसे देखने से मालूम होता है कि देवता टाँगों को योगासन-मुद्रा में बाँधकर ध्यान-मग्न बैठा है। परन्तु वस्तुतः टाँगों के स्थान को छिपाये हुए नाग योगासन का भ्रम पैदा कर रहे हैं। इन नागों के सिर तो देवता के कटि-प्रदेश में एक दूसरे से सटे हुए हैं और पूँछें देवता के पाँवों के अग्रभागों में समाप्त होती हैं। शरीर के इस भाग का सर्पमय होने का पता लगाना अत्यन्त कठिन है जब तक कि मूर्ति को उलटा करके न देखा जाय (फलक ११ च)। ऐसा देखने से नागों के सटे हुए सिर देवता की कटि है और उनके कुंडलित शरीर उसकी टाँगें हैं। कटि सूत्र से लटकता हुआ डोरा उलटा देखने से नागों के सिरों के बीच की विभाजन रेखा बन जाती है और डोरे के मुड़े हुए छोर सिरे नागों की आँखों का बोध कराते हैं। इस देवता के विचित्र गठन की दूसरी बात इसकी असम्भव आसन-मुद्रा है। यह पीठ पर देवता अपने पाँवों की अंगुलियों से ही छू रहा है, शेष शरीर आकाश में निराधार स्थित है। इसके अतिरिक्त पाँवों की मुद्रा भी असम्भव है। पाँव नीचे नीचे की ओर तने हैं और अंगुलियाँ ९० के कोण पर ऊपर को उठी हैं। यह आसन-मुद्रा स्वभावतः असाध्य है। परन्तु कलाकार ने सम्भवतः यह मुद्रा इसलिए बना दी कि दर्शक को देवता में अलौकिक चमत्कार के सामर्थ्य का बोध कराना था।

---

१ वत्स—एक्सकैवेशन्स एट हड़प्पा ग्रन्थ २ फलक ९१।

२ मैके—फर्दर एक्सकैवेशन्स, ग्रन्थ २, फलक ९१।

मकोमाग के सर्वमय हाल के समर्थन में उस मुद्रा का उल्लेख करना आवश्यक है जिस पर इसी प्रकार का एक और देवता बना है[1] (फलक १८ ब)। यहाँ भी देवता का सिर मकोतरा पशु समान ही है और भुजाओं के सिवाय बने के नीचे सारा शरीर ही दो भागों का अपूर्व समवाय है। साँपों के सिर देवता की छाती में लीन हो जाते हैं परन्तु उनके शरीर देवता की कमर के नीचे दो भागों में विभक्त होकर टाँगों के आकार में बदल जाते हैं। साँपों के सिर घुटनों के ऊपर फिर प्रकट होते हैं और ऐसे दिखाई देते हैं मानो देवता की कानखजूरा-भुजायें इनके जबड़ों से निकल रही हों। इस मुद्रा पर भी देवता निराधार आसन में बैठा है। उसके अनुपातविहीन लम्बे पाँव वस्तुतः नागों की दुमें हैं।

मार्शल का विचार है कि देवता छाती पर एक त्रिभुज के आकार का उरस्त्राण अथवा कवच पहने हुए है। उनके मतानुसार ब्राह्मणों के तान्त्रिक कवच का जन्म भी इसी से हुआ। परन्तु इसे कवच मानने में आपत्ति यह है कि इसका देवता के सकीर्ण शरीर से समन्वय करना कठिन है। सादृश्य के आधार पर यह मानना उचित होगा कि देवता का वक्षस्थल यदि अक्षत बाघ का शरीर नहीं तो कम से कम व्याघ्राकार से आवृत अवश्य है। यह उस बाघ के धारीदार शरीर से बहुत सादृश्य रखता है जो देवता की दाईं ओर उछल रहा है। मोहेंजो-दड़ो की मुद्रा न० १८७ (फलक १६, च) पर एक सकीर्ण देवता जिसका शरीर अक्षत मानुषी और अक्षत बाघ है, अंकित है। इससे पता लगता है कि सिन्धुकालीन देवताओं के शरीर में मनुष्य और बाघ का योग अज्ञात नहीं था। पुनः जब हम देखते हैं कि महिषमुख देवता का बाकी शरीर कई जीवों का समाहार है तो यह अनुमान लगाना असंगत नहीं कि इसका मध्य भाग भी किसी ऐसे ही पशु-अंश का बना होगा।

शायद उस कुशल कलाकार का जिसने इस अद्भुत देवमूर्ति को गढ़ा इसके विचित्र शरीर में एक और भयंकर जीव की कल्पना करना भी उद्देश्य था। यदि हम इस देव-शरीर के ऊपर के भाग को जिसमें सिर, सींग और एक मुद्रा शामिल है ध्यान से देखें तो बिच्छू के आकार का आभास भी होने लगता है (फलक ११ ब) परन्तु यह केवल सम्भावना मात्र ही है।

महिषमुख देवता की एक और विलक्षणता यह है कि इसके पीठ की टाँगें ताकात् कैकड़े हैं। मुद्रा न० २२२ पर खुदे हुए इसी देवता के पीठ की टाँगें बैल की

---

1. मैके—फर्दर एक्सकेवेशन्स ग्रन्थ २ फलक ११।
2. मैके—फर्दर एक्सकेवेशन्स ग्रन्थ २, फलक ८७ २२२।
3. मैके—फर्दर एक्सकेवेशन्स ग्रन्थ २, फलक ८६।

टाँगें हैं। यह अच्छी प्रकार ज्ञात है कि मिस्र और मेसोपोटेमिया की प्रागैतिहासिक कला में प्राप्त पशुओं और पीठों की टाँगें बैल या भैंस की टाँगों के समान थीं।

अपनी विविध मुद्राओं और टाँगों के कारण यह देवता सुमेर और बाबुल के देवताओं से बहुत सादृश्य रखता है। मेसोपोटेमिया में भी देवताओं और विभ्र वीरों की भुजायें और टाँगें पशुओं के आकार की होती थीं। उदाहरणतः राजावली-काल की प्रभाव-मुद्रा पर खुदे हुए एक देवता की टाँगें सिंहाकार (फलक १६, ८) और एक दूसरे देवता का सिर और भुजायें सिंह की हैं (फलक १६, ४)। देवताओं के आयुध भी कभी-कभी भीषण जन्तुओं के आकार के होते थे। इस्टर देवी का शस्त्र साक्षात् भुजग था (फलक १६, ८) और एक दूसरे देवता का आयुध बिच्छू के आकार का था।

यह बात उल्लेखनीय है कि डा० मैके को मोहेंजो-दड़ो में महिषमुख देवता वाली जो चार मुद्राएं मिलीं उनमें से दो मध्यमें ऊपर के और दो निचले स्तरों में पाई गई थीं। इससे स्पष्ट है कि सिंधु के काठे में देवताओं को महिषशृंगों से युक्त चित्रित करना अतिप्राचीन काल से व्यवहार में आता था। इस विषय में सिन्धु-सभ्यता का सुमेरियन सभ्यता से बिल्कुल अन्तर है। सारगन-काल से पहले की देवमूर्तियों और विभ्र वीरों के सिरों पर सर्वत्र वन-वृषभ के सींग हैं (फलक १५, ख)। भैंसे के सींग कहीं भी देखने में नहीं आते। वार्ड महोदय के अनुसार नरमुण्ड-वृषभ और पिनयमेष आदि विविध काल्पनिक आकारों की उत्पत्ति मेसोपोटेमिया के आसपास वनवन्य वाले पहाड़ी प्रान्त में नहीं हुई थी किन्तु वनों से आवृत ऊँची अधित्यकाओं में जो वन-वृषभ का स्वाभाविक घर था[3]। स्मरण रहे कि मेसोपोटेमिया में वन-वृषभ के स्थान भैंसे का चित्रण सारगन के समय (ईसापूर्व २६वीं शती) से हुआ। यही निष्कर्ष निकलता है कि पुरातत्त्वज्ञों का इस बात में ऐकमत्य है कि भैंसे का मूलस्थान भारत था क्योंकि नेपाल की तराई आसाम आदि कई प्रान्तों में यह पशु अब भी जंगली दशा में पाया जाता है। उनके विचार में आज से साढ़े तीन हज़ार वर्ष पहले १८वीं राजावली काल में यह पशु भारत से मिस्र पहुँचा। इसमें सन्देह नहीं कि भैंसा आरम्भ से भारतीय पशु है। इसका समर्थन जैसे कि ऊपर दिखलाया गया है, मोहेंजो-दड़ो के निचले स्तरों से प्राप्त मुद्राओं से होता है। सम्भवतः सारगन के समय में अथवा उससे कुछ पहले यह पशु प्रथम बार भारत से मेसोपोटेमिया गया और वहाँ से

---

१ फ्रैंकफर्ट—सिलिंडर सील्स पृ० १७।
२ फ्रैंकफर्ट—वही फलक ११ मुद्रा ११।
३ वार्ड—सिलिंडर सील्स ऑफ वेस्टर्न एशिया चित्र २८ पृ० १५४।

स्वकमार्ग द्वारा १८वीं अक्षावली काल में मिथ पहुँचा। मोहनजो-दड़ो के ऊपरी स्तरों की सार्गोन के समकालीन सिद्ध करने में यह अकाट्य प्रमाण है।

मेरे विचार में सिन्धुकालीन महिषमुण्ड देवता अपनी विलक्षणताओं के कारण वैदिक देवता 'रुद्र' के बहुत निकट है। ऋग्वेद में रुद्र को घोर, प्रचण्ड और असुर के नाम से निर्दिष्ट किया गया है। ऐतरेय ब्राह्मण में वर्णन आता है कि रुद्र सृष्टि के समस्त भयंकर तथा आसुरी तत्त्वों का समास है। वेदों में रुद्र को जो 'पशुपति' विशेषण दिया गया है उसका तात्पर्य यह है कि वह पशुओं पर घातक आक्रमण करता है इसलिए सब पशु उसी की संरक्षकता में छोड़ दिए गए हैं। वेदों में यह उल्लेख भी मिलता है कि स्वर्ग में नरकरु देवता दिव्य पशुवत् से परिवृत होते हैं[1]। महिषमुण्ड देवता भी कई पशुओं से परिवृत है। उसके दाईं ओर हाथी और बाघ तथा बाईं ओर गैंडा और भैंसा हैं एवं उसके सिंहासन के नीचे दो हिरण अथवा पहाड़ी बकरे खड़े हैं।

इस विषय में विद्वानों का ऐकमत्य है कि सिंधु-सभ्यता अनार्य लोगों की कृति थी। मार्शल ने महिषमुण्ड देवता को ऐतिहासिक काल के पशुपति शिव से एकात्म सिद्ध किया है। परन्तु यह निर्विवाद है कि ऐतिहासिक शिव वैदिक काल के रुद्र का ही रूपान्तर है क्योंकि उसके बहुत से लक्षणों और विशेषणों का यही कारण बनता है। स्मरण रहे कि सिंधुवासियों और आर्यों में जो परस्पर सम्पर्क हुए वे वैदिक काल में ही हुए होंगे। उत्तरकालीन सम्पर्कों का कोई प्रमाण नहीं है कारण कि १२वीं सदी ई० पू० के अनन्तर सिंधु-सभ्यता अशेषतः लुप्त हो गई थी। बहुमत से यही सदी आर्यों के सर्वप्रथम पश्चिमोत्तर भारत में प्रवेश करने की तिथि है। स्वभावतः इन दोनों जातियों में पहले-पहल जो विचार विनिमय अथवा सांस्कृतिक रूढ़ियों का आदान-प्रदान हुआ वह इसी सदी के आस-पास हुआ होगा। अतः यही निष्कर्ष युक्तिसंगत प्रतीत होता है कि सिंधुकालीन महिषमुण्ड देवता बजाय उत्तरकालीन शिव के पूर्वकालीन वैदिक रुद्र का ही पूर्वरूप था।

परन्तु यह भी सत्य है कि महिषमुण्ड देवता कई बातों में वैदिक रुद्र से और कई में ऐतिहासिक शिव से सादृश्य रखता है। सादृश्य के बिंदु ये हैं—(१) देवता का सकीर्ण शरीर जो पशुओं का सवान होने पर भी नरस्थ है (२) उसकी पशुओं के साहचर्य और (३) योगासन मुद्रा। इनमें पहले दो लक्षण रुद्र में पाए जाते हैं

१ ऐतरेय ब्राह्मण ३ ३३।

२ मैकडानेल—वैदिक माईथालोजी पृ० ७२।

३ मैकडानल—वैदिक माईथालोजी पृ० १४८।

और मस्त के दो शिव थे। जैसा कि ऊपर लिखा गया है रुद्र का शरीर भी भयकर तत्त्वों का सघात था और पशुपति रूप में वह पशुओं का स्वामी था। ऐतिहासिक शिव यद्यपि भयकर तत्त्वों का सघात नहीं था तथापि उसका पशुओं से घनिष्ट सम्बन्ध है। अपने घोररूप में वह महाकाल है अर्थात् काल का भी काल। समस्त भूत प्रेत पिशाच आदि गण उसके आदेश मे हैं। विषधर भुजग के समान उसके शरीर से लिपटे रहते हैं। वह व्याघ्राम्बर और कृत्तिवासस् है जिसका तात्पर्य यह है कि वह भयकर से भयकर जीव की खाल अनायास ही उघेड कर उसे वसन के रूप मे ओढने के समर्थ है। भारत के कुछ प्रान्तो मे यह कहावत चली आती है कि दिवाली के दिन अर्थात् शीतकाल के आरम्भ मे शिव बिच्छू, सॉप कनखजूरा आदि समस्त विषैले जन्तुओं को समेटकर अपने थैले मे भर लेता है जहाँ वे छ मास तक बंद रहते हैं और ग्रीष्मकाल के आरम्भ मे शिवरात्रि के दिन पुन उन्हे थैले से बाहर फैंक देता है। ऐसी दन्तकथाओ का जन्म अवश्य भारत के अति प्राचीन सिन्धुयुग मे ही हुआ होगा।

यह असम्भव नहीं कि सिन्धुकाल का महिषमुख देवता किसी प्रकार महिषासुर कथानक से सम्बन्ध रखता था। सम्भव समय के व्यतिक्रम से वैदिक कालोत्तर आर्यों ने इस अनार्य महिषमुख देवता को देवत्व के उच्चासन से हटाकर असुरो की पंक्ति मे बिठा दिया हो। हो सकता है कि कालान्तर मे इसी घटना से महिषासुर कथानक का जन्म हुआ हो उस समय जब कि सिन्धु-सभ्यता का प्रभाव और इसकी विरक्त संस्थाओ की स्मृति भी कालगर्भ मे लीन हो गई थी।

सिन्धु-सभ्यता का परम देवता—हड़प्पा और मोहेंजो-दडो मे जो असख्य मुद्राएँ और मुद्राकायें मिली उनसे स्पष्ट सिद्ध होता है कि सुमेरियन लोगों की तरह सिन्धु-निवासी भी अनेक देव देवियों की पूजा करते थे। उनके देवता भी भौतिक जगत् के विविध विभागों और विभूतियों जैसे अन्तरिक्ष तूफान बिजली पशकुल पशुपक्षी वनस्पति आदि का मूर्तस्वरूप थे। जैसा कि ऊपर निर्देश किया गया है मार्शल के मतानुसार मातृदेवी सिन्धु-सभ्यता का परम देवता थी परन्तु मेरा अपना विचार है कि सिन्धुकालीन देववाद मे नारी-प्रधान नहीं किन्तु नर-प्रधान प्रधान था। अर्थात् मातृदेवी प्रधान देवता नहीं थी अपितु अश्वत्थ-निवासी पुलिग-देवता इस पूज्य पद का अधिकारी था।

कई सिन्धु-मुद्राओं पर एक देवमूर्ति दो कोंप अश्वत्थ-वृक्ष के मध्य खडी दिखाई गई है। यह दो कोंप अश्वत्थ कभी सीधा और कभी तोरणाकार उलटा बना है। सर्वप्रथम मैं यहाँ मोहेंजो-दडो की मुद्रा न ४३ का उल्लेख करता हूँ जिस पर वह चित्र स्पष्ट रूप से अकित है (फलक १६, क)। ऊपर के रिक्त स्थान मे दाएँ

फलक १६ सिन्धुयुग का मज्जरन-निवासी परम-देवता तथा अन्य देवता

किनारे पर एक पीपल का पत्र वृत्ताकार आकार में उभर रहा है। इसके अन्दर देवता बाईं ओर मुँह किए खड़ा है। देवता के सिर पर त्रिशूलाकार शृङ्गमुकुट है जिसके बीच सिर के पीछे कृत्रिम चोटी लटक रही है। यह नारी वनीजाति के देवकुल की शाखा है जो मोहेंजो-दड़ो की मुद्रा नं० २१५ पर खुदी हुई योगमुद्रासीन देवमूर्ति के सिर पर स्पष्ट रूप में दिखाई देती है। कलाई से आकार की भुजाएँ देवता के शरीर के समानान्तर लटक रही हैं। वृक्षमूल में गोल चक्कर जिसमें बीज उभर रहा है या तो बीज-कोष है या केवल चबूतरा। यह बीजकोष मोहेंजो-दड़ो की मुद्रा नं० [illegible] पर बहुत स्पष्ट है। यहाँ वृक्ष के बीज-कोष तने के बाहर की ओर ही दिखाया है जिससे पता चलता है कि वृक्ष दो भागों में फट गया है और उसके अन्तर्गत देवता प्रत्यक्ष हो गया है।

देवता के सामने एक देव-पुरोहित अथवा उपदेवता त्रिशूलाकार मुकुट और लम्बी चोटी धारण नतमस्तक देवता से प्रार्थना कर रहा है। उसकी आसन मुद्रा उस उत्कट बन्ध की सी है जो प्रायः व्याघ्र-मानव की भाँति में वनीजाति के देवद्रुम पर बैठा हुआ पाया जाता है। उसकी धनुषाकार भुजाएँ प्रार्थना मुद्रा में ऊपर को उठी हैं और उसके बाएँ घुटने के पास एक काष्ठपीठ है जिस पर कुछ बलि रखी हुई है। इस प्रार्थक के पीछे घुँघराली दाढ़ी और कुटिल सींगों वाला जम्बुक-मुख बकरा खड़ा है। ऐसा ही पतिमुख बकरा मोहेंजो-दड़ो की मुद्रा नं० १ १ (फलक २४ क) पर खुदा है। उसका शरीर्ष स्वरूप और अनुपातहीन विशाल शरीर बतलाता है कि यह साधारण अजपशु (बलि का बकरा) नहीं अपितु कोई देवयोनि का पशु अथवा मान्य उपदेवता है जिसको नाम पुरोहित अथवा याजक को अश्वत्थ-देवता के समक्ष ले जाना था। समकालीन मेसोपोटेमिया की मुद्राओं पर ऐसे मान्य उपदेवता अक्सर पाए जाते हैं।

सात नर-विहंग—मुद्रा के निचले भाग में सात मनुष्य बाईं ओर को मुँह किये खड़े हैं। इनमें से प्रत्येक का ऊपर का भाग मनुष्य का परन्तु नीचे का भाग पक्षी का है। इनकी दुमें पक्षी सदृश और पाँव सब पक्षियों जैसे हैं। उनकी भुजाएँ और चोटियाँ साक्षात् [illegible] हैं। सिरों पर पीपल अथवा शमी की शाखा के किरीट हैं। ये किन्नरोपम नर-विहग अश्वत्थाधिष्ठातृ-देवता के अनुचर देवदूत थे जो पक्षियों की तरह वायुमण्डल में निर्बाध विचरण कर सकते थे। अपने इस शरीर-रूप में ये सुमेरियन कथानकों के 'यू' अथवा 'एठना' नामक नर-विहंगमों से बहुत साम्य रखते हैं। मुद्रा के ऊपरी किनारे के साथ-साथ रिक्त-स्थान में दो पंक्ति का चित्राक्षर-लेख

---

१ मैके—फर्दर एक्सकेवेशन्स खण्ड २ फलक ८७।

मैना है और मूलमूल के पास एक और चित्ताक्षर है जो सम्भवतः वरवत्स-देवता के मंदिर का प्रतीक है। हड़प्पा की एक खंडित मुद्रा पर यही मान सकीर्ण देवदूत एक उत्कीर्ण मत्र के सामने पंक्तिबद्ध खड़े हैं। इनमें सब से आगे खड़ा मनुष्य हाथ से चित्ताक्षरों की ओर निर्देश कर रहा है (फलक १६ म)।

सर जान मार्शल डॉ मके और कई विद्वानों का विचार है कि पूर्वोक्त सात देवदूत पूर्णांश नरवर है और ऐसे कोट-नुमा वस्त्र पहने हुए हैं जिनका नीचे का किनारा तिरछा कटा है। मोहनजोदड़ो मुद्रा स ४३ के वर्णन प्रसंग में मार्शल महोदय लिखते हैं कि पीपल की शाखाओं में खड़ा देवता बहुत सोम्य और बेडव बना हुआ है। परन्तु पुरुष मसलों से हीन होने के कारण और इसलिये कि भारत में वृक्ष देवता प्राय स्त्रीलिंग हैं और देवदूतों की पंक्तिबद्ध सात मूर्तियाँ भी स्त्रीलिंग प्रतीत होती हैं यही मान लेना ठीक है कि पीपल में प्रकट खड़ा देवता देव नहीं किन्तु देवी है। पंक्तिबद्ध नीचे खड़ी सात मूर्तियाँ भी मेरे विचार में प्रधान देवी की शक्तियाँ अथवा निम्नकोटि की सहायक देवियाँ हैं। उनके सिरों पर पक्ष के समान वस्तुएँ शायद वृक्ष की शाखाएँ हैं जैसा कि देवदार की पूजा के सम्बन्ध में काफिरिस्तान के लोग आज भी ऐसी शाखाओं को अपने सिरों पर पहनते हैं। इस अवसर पर वृक्षदेवता के प्रसाद के लिये शाखाएँ भी बसान है।

इसी प्रसंग में डॉ मेके लिखते हैं—"इसमें संदेह नहीं कि यद्यपि वृक्षाधिष्ठातृ देवता एक देवी है उसके सामने प्रार्थना करने वाली मनुष्याकृति भी देवी ही प्रतीत होती है क्योंकि उसने भी प्रधान देवी के समान ही शिरोवेष्टन पहना है। नीचे के रिक्त-स्थान म अंकित सात मानुषी मूर्तियाँ भी निम्नकोटि की देवियाँ ही हैं। सम्भवतः वे प्रधान देवी की पुत्रियाँ हैं। उनकी संख्या 'सात' रहस्यपूर्ण प्रतीत होती है क्योंकि भारत में 'सात' की संख्या में सदा कुछ तान्त्रिक रहस्य छिपा है जैसा कि संसार के कई अन्य देशों में भी पाया जाता है[३]।

मर व्हीलर कोट नहीं पहने हैं—सिन्धुकालीन बरतनों और विम्ब बोरों की मुद्राएँ साक्षात् कलमजूरे के कम्बों से कसाई तक कमरों में मढ़ी हुई मानुषी मुद्राएँ नहीं थीं। सात देवदूतों के सिरों पर कलगी चोटियाँ न तो पक्ष हैं और न ही वृक्ष की शाखाएँ, अपितु साक्षात् कलमजूरे। इन दोनों की मुद्राओं और चोटियों में कल मजूरे की सोज प्रसिद्ध प्राकृतिक होने से मालूम होता है कि ये सम्पन्न जयकर

---

१ वत्स—एक्सकेवेशन्स एट हड़प्पा प २ फलक ६१ २११।
२ मार्शल—वही प १ पृ ६४ ६५।
३ मेके—वही प १ पृ ३३८।

एकशृङ्ग उसके आयतन का संरक्षक था। इस बात का निर्देश भी पहले किया गया है कि मुद्रा सं० ४३ पर अंकित महिषमुख देवता का मुकुट मुद्रा सं० १०७ पर प्रदर्शित अश्वत्थ चिह्न का केवल अनुकरण मात्र है। उनके मुकुट में बीच के आकार का त्रिशूल उसी आकार के अश्वत्थ के पल्लव की प्रतिकृति है और भैंसे के दो सींग एकशृङ्ग के दो सिरों के अनुरूप हैं (फलक १८ क ख ग)। यह महिषमुख देवता जिसका मुकुट अश्वत्थ निवासी महादेव के पूर्वोक्त दोनों चिह्नों का समन्वय है निस्सन्देह उससे निम्नकोटि का देवता था। इससे यह स्पष्टतया से सिद्ध होता है कि अश्वत्थ निवासी देवता निर्विवाद सिन्धुकालीन देवगण में सर्वोच्च स्थान रखता था। अश्वत्थ निवासी इस देवराज के आदेश में निम्नकोटि के अनेक देवता उपदेवता तथा देवयोनि के प्राणी थे जिनमें कुछ नररूप कुछ पशुरूप और कुछ मनुष्य रूप धारी थे।

चन्हुदड़ो की मुद्रा छाप—सिन्धुकालीन लोग परमदेवता के प्रतीक शृङ्गमय मुकुट को अत्यन्त पूज्य और पवित्र मानते थे। इस तथ्य का समर्थन एक और स्वतन्त्र प्रमाण से भी होता है। डॉ॰ मैके को चन्हुदड़ो की खुदाई में हड़प्पा संस्कृति की एक महत्त्वपूर्ण पकी मिट्टी की मुद्रा छाप उपलब्ध हुई थी (फलक १९, ग)। इस पर दो देव पुरोहित आमने सामने खड़े एक हाथ से शृङ्गमय पीपल के अभिप्राय को थामे हैं जब कि दूसरा हाथ कटि पर रखा हुआ है।

यह 'सींग और-पीपल' का अभिप्राय मोहेंजो-दड़ो की मुद्रा सं० ३८७ पर अंकित अभिप्राय तथा महिषमुख देवता के मुकुट से बहुत सादृश्य रखता है। जिस वस्तु को पुजारी थामे हुए हैं वह परमदेवता के प्रतीक उस दिव्य मुकुट का अनुकरण है जिसे निम्नकोटि के देवता परम श्रद्धा से अपने सिरों पर धारण करते थे। डॉ॰ मैके को न केवल इस अभिप्राय के तात्पर्य का ही पता नहीं लगा किन्तु उन्होंने पीपल की टहनियों के नीचे भैंसे के सींगों को भी नहीं पहचाना।

अश्वत्थ की पवित्रता—भारत में अति प्राचीनकाल से अश्वत्थ परम पवित्र माना जा रहा है। अश्वत्थ उत्तरकाल में पिप्पल (हिन्दी पीपल) भारत के महा विटपों में से एक है। ऋग्वेद में इसके बने पात्रों का वर्णन आता है और उत्तरकालीन साहित्य में इस वृक्ष का निरन्तर उल्लेख मिलता है। यह खदिर आदि दूसरे वृक्षों में अपनी जड़ जमाकर प्ररोहण करता है और उन्हें नष्ट कर देता है। अतएव इसे वैबाध के विशेषण से भी निर्दिष्ट किया गया है। यज्ञाग्नि प्रदीप्त करने की दो अरणियों में से ऊपर की अरणि अश्वत्थ की लकड़ी की बनाई जाती थी और नीचे की अरणि शमी की होती थी। इसके मीठे फलों को पक्षियों का खाद्य कहा गया

---

१ मैके—चन्हुदड़ो एक्सकैवेशन्स पृ॰ २ फलक ५२ मुद्रा ३६।

है। वैदिक साहित्य में यह भी उल्लेख पाया जाता है कि स्वर्गलोक में देवता अश्वत्थ की छाया में विश्राम करते हैं।

अश्वत्थ और न्यग्रोध (वट-वृक्ष) इन दोनों वृक्षों को पिप्पलधारी (शिखण्डि) के विशेषण में भी निर्दिष्ट किया गया है। उत्तरकालीन संहिताओं में वर्णन आता है कि इन वृक्षों में अप्सराओं का निवास है और इस कारण इनमें उनकी बंसियों तथा अन्य बाजों की ध्वनि आती है। अर्वाचीन साहित्य में इसके अतिरिक्त उदुम्बर और प्लक्ष के वृक्षों में भी गन्धर्व और अप्सराओं के निवास की चर्चा है। इसमें त्रिमूर्ति ब्रह्मा के निवास होने के कारण भारत में अश्वत्थ आदिदेव तथा ब्रह्मविद्या का स्थान माना गया है। कोई भी हिन्दू बाल बूढ़ा इस कभी नहीं काटता और न ही इसके नीचे खड़े होकर कभी असत्य बोलता है। भगवद्गीता में कृष्ण भगवान् ने अपनी विभूतियों के वर्णन प्रसंग में कहा है—अश्वत्थः सर्ववृक्षाणाम् अर्थात् वृक्षों में मैं अश्वत्थ हूँ। इस धारणा के अनुसार कि भारतीय आर्यों ने सिन्धु-सभ्यता की बहुत सी धार्मिक विलक्षणताएँ और परम्परागत रूढ़ियाँ आदिवासी जातियों से ग्रहण कीं स्वाभाविक यह निष्कर्ष निकलता है कि सिन्धुकाल में भी अश्वत्थ देवता का प्रायः वैसा ही स्थान रहा होगा जैसा कि वैदिक अथवा पौराणिक काल में प्रजापति अथवा ब्रह्मा का था। इस अश्वत्थ के साथ उसका जो घनिष्ठ सम्बन्ध है वह हमें यह मानने के लिए बाध्य करता है कि वह सिन्धुकालीन ब्रह्मा एवं सब देवताओं में अग्रणी माना जाता था[३]।

मार्शल महोदय का निर्णय है कि अश्वत्थ-देवता स्त्रीलिंग है। उनके कथनानुसार यह देवता तथा इसके अनुचर सात देवदूत स्त्रीरूप दिखाई देते हैं। मेरे विचार में इनकी आकृतियों में ऐसी कोई विलक्षणता नहीं जिससे इनको स्त्रीरूप मान लिया जाय। अपने निर्णय की पुष्टि में उन्होंने दो कारण बतलाए हैं—(१) मूर्तियों के सिरों के पीछे लम्बी चोटियाँ और (२) शरीर के ऊर्ध्व भाग में कोटनुमा वस्त्र का होना। परन्तु इनमें से कोई भी कारण अर्थवत्ता की कोटि तक नहीं पहुँचता। सिर के पीछे लटकती चोटी का होना केवल स्त्री मूर्तियों की ही विशेषता नहीं थी। सिन्धुकाल में देवगण और देव-पुरोहित भी इसे धारण करते थे। दूसरी बात यह है कि

---

१ मेकडानेल—वैदिक माइथालोजी पृ० १३३।

२ वेदों में ब्रह्मा का नाम प्रजापति है। जैसे जैसे इसकी महिमा बढ़ती गई वैसे मात्रा में वरुण जो वैदिक काल का प्रधान देवता था की महिमा घटती गई। (मैकडनेल)।

३ मार्शल—मोहेंजो-दड़ो एण्ड दि इण्डस सिविलाइज़ेशन भा० १ मुद्रा १४।

जिसे निरछा कटा हुआ कोट (जैकट) कहा गया है वह वस्तुतः पक्षि शरीर का अधोभाग है।

मोहेंजो-दड़ो की मुद्राओं पर अश्वत्थ-निवासी देवता के दो और चित्रण हैं। इनमें से एक पर दिए हुए दृश्य में पूर्वोक्त दृश्य से कुछ अन्तर है। इसमें मनुष्याकार उपदेवता पीछे की बजाय उपासक के आगे खड़ा है और देवदूतों की पंक्ति ऊपर के किनारे की बजाय मुद्रा के निचले किनारे पर अंकित है। दूसरी मुद्रा[2] पर भी यह विचित्र बकरा उपासक के आगे ही खड़ा है। उपासक के पीछे एक छोटे से मंच पर बलि रखी है। इन दोनों मुद्राओं पर उत्कीर्ण दृश्य में और विलक्षण बात यह है कि दो-शीर्ष पीपल के पेड़ को सीधा दिखाया गया है। परन्तु हड़प्पा की तीन निम्नलिखित मुद्राओं पर दो-शीर्ष इसी पेड़ को तोरणाकार उलटा दिखलाया गया है। प्रसंगवश यहाँ यह लिख देना उचित है कि मैसोपोटेमिया की मुद्राओं पर जिन देवताओं को तोरणाकार वृक्ष के नीचे दिखलाया गया है उनके सम्बन्ध में धारणा है कि वे अधोलोक के देवता हैं। अन्य मैसोपोटेमिया की एक पत्राकार मुद्रा पर अधोलोक की देवी 'अल्लात्' को तोरणाकार झुके हुए एक वृक्ष के नीचे दिखलाया गया है (फलक १२ अ)। हड़प्पा से उपलब्ध मुद्रा न० ३१६ पर बकरा पूर्वोक्त मोहेंजो-दड़ो की मुद्रा न० 'ए' के समान प्रार्थक के पीछे खड़ा है (फलक १२, ब)। अन्तर केवल यह है कि इसमें सात देवदूतों की पंक्ति नहीं है। हड़प्पा की अन्य दो मुद्राओं पर एक ओर पीपल तोरण के नीचे देवता है और दूसरी ओर विलक्षण लेख है। इनमें से एक (न० ३१७) के पृष्ठ पर अलग से अभिलिखित स्वस्तिक बना है।

पत्ते के आकार का मुकुट—यहाँ यह उल्लेख करना भी आवश्यक है कि सिन्धु के काठे से प्राप्त मृण्मय स्त्री-मूर्तियों के सिरों पर एक प्रकार का पत्ते के आकार का मुकुट है। यह मुकुट सम्भवतः मुद्रा न० ४२ पर खुदे हुए महिषमुकुट देवता के मुकुट से बहुत सादृश्य रखता है। इससे भी सिद्ध होता है कि सिन्धु-सभ्यता का अश्वत्थ देवता तत्कालीन परम देवता था क्योंकि एकशृंग और पीपल के पत्तों से बने हुए मुकुट को ये देवियाँ बड़े आदर से अपने सिरों पर धारण कर रही हैं। इन मूर्तियों के सम्बन्ध में कहा गया है कि ये मातृदेवी की प्रतिकृतियाँ हैं परन्तु प्रधान देवता के अनुशासन में होने के कारण मेरे विचार में ये निम्नकोटि की देवियाँ ही थीं।

१ मार्शल—वही भा० १ फलक ११६ मुद्रा न० १।
२ मैके—फर्दर एक्सकेवेशन्स भा० २ फलक ८२ १ सी।
३ वत्स—हड़प्पा एक्सकेवेशन्स भा० २ फलक ९३।
४ वत्स—एक्सकेवेशन्स एट हड़प्पा भा० २ फलक ९३।

दूसरी उल्लेखनीय बात यह है कि कई सिन्धु-मुद्राओं पर एक उपदेवता अथवा देव-पुरोहित प्रधान देवता के सामने एक दो-सींग वाले अज का उपहार कर रहा है। इसकी आसन मुद्रा ४१ नम्बर की मुद्रा पर अंकित याचक की मुद्रा के समान है जो अश्वत्थ देवता के सामने गिड़गिड़ाकर प्रार्थना कर रहा है। एक और मुद्रा पर उपासक श्रीवत्स रूप 'धर्म' को इसी अज का उपहार कर रहा है और दूसरी मुद्रा पर योगासनस्थ महिषमुख देवता का (फलक १६, अ ड)। इस आकार का अज दो सींग अश्वत्थ-वृक्ष से संयुक्त होने के कारण उस देववृक्ष में निवास करने वाले परम देवता का प्रतीक था। अतः निम्नकोटि के देवता अथवा श्रीवत्सरूप धर्म को इस अज के उपहार करने का तात्पर्य मानो प्रार्थी की यह प्रार्थना थी कि "मैं अमुक नाम वाला परम देवता की कृपादृष्टि प्राप्त करने के लिये आपकी सहायता का प्रार्थी हूँ।

योगासन में विराजमान देवता—हड़प्पा की दो मृण्मय मुद्राओं पर एक ध्यानमग्न देवता अंकित है। इनमें से एक मुद्राखण्ड (नं ३ १) के चारों ओर भिन्न-भिन्न धार्मिक दृश्य बने हैं। सामने की ओर ऊँचे पीठ पर योगमुद्रासीन एक देवता है (फलक १२ अ १)। उसने मस्तकी चोटी तो धारण की है परन्तु सींगों वाला मुकुट सिर पर नहीं है। उसकी धनपत्ताकार भारी भुजाएँ घुटनों तक लटक रही हैं। दाईं ओर व्याघ्र उन्मीकरण दृश्य है और बाईं ओर एक मचान के ऊपर खड़ा एक पशु मुड़ कर पीछे को देख रहा है। सम्भवतः यह पशु व्याघ्र-शावक है जो पकड़ जाने पर इस मचान में बन्द कर दिया गया है। देव पीठ के पास देवता का कृपापात्र हिरण है और मचान की दीवार पर खड़ा छोटा पशु सम्भवतः दूसरा हिरण है जो नीचे मुँह किए अपने साथी की तरफ देख रहा है। छाप के दूसरी ओर वही देवता चारदीवार मन्दिर के बाहर खड़ा है (फलक १२ अ २)। उसके सामने देवस्थान के पास बैल खड़ा है और दाएँ किनारे पर तीन चित्राक्षर भी हैं। दूसरी मुद्राखण्ड (नं ११) तीन पहलू की है। इसके हर पहलू पर एक पौराणिक दृश्य है। पहलू (१) बहुत घिसा हुआ है फिर भी ध्यानपूर्वक देखने से इतना पता अवश्य लगता है कि इस पर योगमुद्रा में एक देवता पीठ पर विराजमान है और पास ही एक उपासक भी है (फलक १३ अ १)। पहलू (२) (फलक १३ अ २) पर एक मनुष्य बैल से द्वन्द्वयुद्ध कर रहा है और तीसरे पहलू (फलक १३ अ ३) पर सींगों वाला एक देवता है जिसकी धनपत्ताकार भुजाएँ घुटनों तक लटक रही हैं।

---

१ मैके—फर्दर एक्सकैवेशन्स एट हड़प्पा भा २, फलक ११६।
२ वत्स—एक्सकैवेशन्स एट हड़प्पा भा २ फलक ९१।
३ वत्स—एक्सकैवेशन्स एट हड़प्पा भा २ फलक ९३।

सिन्धु-मुद्राओं पर प्रदर्शित उपदेवताओं में नर पशुरूप उस संकीर्ण देवता का वर्णन करना आवश्यक है जो मोहेंजो-दड़ो की मुद्रा नं० १४७ पर खुदा है (फलक ११ च)। कटि के ऊपर यह मनुष्याकार है परन्तु भुजाओं के स्थान पर्णसमूह लटक रहे हैं। इसकी पीठ मृगहीन बाघ का शरीर है तथा कटि प्रदेश और टाँगें पशु की हैं। कृत्रिम चोटी से अलंकृत सिर पर बकरे के कुन्तिल सींगों के बीच देवता मं की टहनी ऊपर को उभर रही है। ऊपर के किनारे के पास चार चिह्न हैं। हड़प्पा की ३१८ और ३१९ नंबर की मुद्राछापों में से हर एक के एक ओर शतवक्रमयी भुजाओं वाला नृ-पशुरूप देवता और दूसरी ओर एक चिह्न है।

आकार भेद से सिन्धु-काल के देवता दो प्रकार के हैं अर्थात् मनुष्यरूप या नरपशुरूप। पशुरूप में उनमें ऐसे उत्तम जाति के पशुओं का मिश्रण है जो अपने विलक्षण गुणों के कारण लोक में प्रसिद्ध हैं। इस विषय में वे सुमेर के उन प्राचीन देवताओं के बहुत सदृश हैं जो प्रारम्भ में पशुओं अथवा संकीर्ण जन्तुओं के आकार के थे।

देव और दानव—सुमेरियन बेलनाकार-मुद्राओं के समान सिन्धुमुद्राओं पर भी देव दानव युद्ध का आभास मिलता है। पशुओं अथवा संकीर्ण विचित्र जन्तुओं के रूप में दानव देवताओं पर घातक आक्रमण करते थे। सुमेर में वृष-दानव, सिंह-दानव और मकरीर्षरूप दानव थे। गरुड़ की तरह उनके पंख होते थे (फलक ११ ङ) हिरण के समान द्रुतगति और साँप के समान धूर्त और सजग थे। दृढ़ता से पकड़ने के लिए उनके बाज़ जैसे पंजे थे, क्षत विक्षत करने के लिए सींग और शत्रुओं पर घातक प्रहार करने के लिये सिंह के समान बलिष्ठ भुजाएँ थीं। सिन्धुकाल के संकीर्ण पशु में इन सब विलक्षणताओं का एकाकार में समावेश है। यद्यपि यह संकीर्ण पशु दानव नहीं किन्तु देवयोनि का काल्पनिक जीव है। मेसोपोटेमिया में देवताओं के आयुध भी कभी-कभी हिंस्र जन्तुओं के आकार के होते थे। इश्टर-देवी का आयुध शुक्र के आकार का (फलक ११ ट) था और एक अन्य देवता का आयुध बिच्छू के आकार का था[3]।

लिंग और लिंग पीठ—हड़प्पा और मोहेंजो-दड़ो के खंडहरों में पत्थर, मिट्टी सिलखड़ी, शंख, हाथीदाँत आदि विविध द्रव्यों के बने हुए छोटे-बड़े असंख्य गोलाकार शंकु और छल्ले मिले थे। छल्ले-आधे इंच से लेकर चार फुट तक व्यास के हैं (फलक

---

१ मैके—फर्दर एक्सकेवेशन्स प २ फलक ८९।

२ मैकेंजी के विचार में सुअर, बकरा घोड़ा श्वान सिंह आदि के शरीरों में दानव प्रवेश कर सकते थे।

३ वार्ड—सिलिंडर सील्स ऑफ वेस्टर्न एशिया चित्र २ ८।

१७ क और फलक १६, ख)। बड़े आकार के मनके चिपटी गोल पैंदी के और भारी हैं। परन्तु छोटे आकार के वस्तुओं में बहुत से चित्रित कई एक चक्राकार और वृत्तों के मध्यों में छेद हैं। मार्शल की सम्मति में इनमें से बहुत से धार्मिक अभिप्राय के थे और सम्भवतः लिंग और पीठ के रूप में पूजे जाते थे। उनके विचार में बचपन के महाकाय छल्ले सम्भवतः भूत-प्रेत आदि आसुरी शक्तियों से बचने के लिये एक प्रकार के यंत्र थे। इस प्रकार की वस्तुएँ 'चौटिन' अर्थात् सौभाग्य और समृद्धि लाने वाले यंत्र थे। हड़प्पा की खुदाई में छः सौ से अधिक शुण्डाकार लिंगों का एक समुदाय मिला था। ये धारीदार पट्टियों से चित्रित थे और हर एक की पैंदी में एक छेद था। इनका समान आकार, नाप (१ इंच ऊँचाई) और पैंदियों में रंगीन पट्टियों का होना इस बात का सूचक है कि वे अवश्य ही पासे या खेल की वस्तुएँ थीं। पिछली शती के मध्य में नाफ्टस को बाजों में इसी प्रकार के शंकुओं का एक बड़ा समुदाय मिला था। ये शंकु प्राक् राजगृही काल की एक दीवार में सजावट के लिये लगाए हुए थे। मालूम होता है कि सिन्धु-प्रान्त में भी अधिकांश शंकु जिनकी पैंदियों में छेद हैं आरम्भ में रंगीन थे और सम्भवतः सजावट के काम में ही आते थे तथापि यह निर्विवाद है कि सिन्धु सभ्यता के लोगों को लिंग-पूजा का ज्ञान अवश्य था क्योंकि पत्थर के यथाकार बड़े लिंग जो हड़प्पा और मोहेंजो-दड़ो में मिले निःसन्देह पूजा में व्यवहृत होते थे। परन्तु यह लिखना आवश्यक है कि बड़े आकार के लिंग और योनि खुदाई में मिले न तो परस्पर संयुक्त थे और न ही किसी देवालय अथवा धर्मस्थान में प्रतिष्ठित थे।

दिव्य वीर और उनकी पूजा—कई एक सिन्धु-मुद्राओं पर नरदम्य मूर्तियाँ व्याघ्र भैंस महिष आदि वास्तविक अथवा काल्पनिक पशुओं से द्वन्द्वयुद्ध में प्रवृत्त दिखाई गई हैं। इन अलौकिक बलशाली दिव्य वीरों का सादृश्य प्राक्-राजगृही काल के सुमेरियन दिव्य वीरों से है। मोहेंजो-दड़ो से उपलब्ध दो मुद्राओं पर एक पराक्रमी वीर दो व्याघ्रों के बीच खड़ा घटपदाकार अपनी भुजाओं से उनका गला घोंटकर उन्हें पछाड़ रहा है। हड़प्पा की मुद्रा-छाप न० [illegible] के एक ओर ऊपर के रिक्त स्थान में यही वीर उसी प्रकार व्याघ्रों को पछाड़ रहा है परन्तु नीचे एक हाथी की मूर्ति है। छाप के दूसरी ओर शमी वृक्ष पर बैठे हुए वन-देवता के द्वारा व्याघ्रदमन

---

१ वत्स—एक्सकेवेशन्स एट हड़प्पा भा० १ फलक ११७ ४ ५।
२ मैके—फर्दर एक्सकेवेशन्स एट मोहेंजो-दड़ो भा० २ फलक ४८२।
३ वत्स—एक्सकेवेशन्स एट हड़प्पा भा० २, फलक ९१।

का दृश्य है (फलक ११ ख)। मोहेंजो-दड़ो की मुद्रा न० ३५७ (फलक ११ ग) पर नर-वृषभ सींगोंवाले बाघ पर जिसने देवक्ष में की शाखा चुराने का साहस किया है विकट रूप से झपट रहा है। इसके शरीर का ऊपर का आधा भाग मनुष्य का और नीचे का आधा भाग बैल का है। इस नर-वृषभ के पीछे शमी शाखि या देववृक्ष है। मुद्राछाप न० ३६६[१] पर भी यह नर-वृषभ विजय मुद्रा में एक भुजा ऊपर को उठाए खड़ा है (फलक ११ क)। हड़प्पा से उपलब्ध तीन पहलू की एक मुद्राछाप[३] के प्रत्येक पहलू पर जो नररूप मूर्ति बनी है वह भी सिन्धु-सभ्यता के किसी दिव्य वीर की प्रतीत होती है। इनमें से दो मूर्तियों को कन्धों पर कोई शस्त्र या उपकरण उठाए हुए पुरुष दिखाई देते हैं परन्तु तीसरी मूर्ति शरीर की रूपरेखा से स्त्री दिखाई देती है। इन तीनों मूर्तियों की टाँगें बैल की टाँगों के समान हैं।

गिलगमेश कथानक—ठीक इसी प्रकार के दो वीर पुरुष जो गिलगमेश और 'ईबानी' अथवा 'एन-किडु' के नामों से प्रसिद्ध थे सुमेरियन कथानकों में बहुधा वर्णित हैं। एक कथानक इन दिव्य वीरों के पराक्रम की रोमहर्षण घटनाओं का वर्णन करता है। गिलगमेश जलप्लावन के पूर्वकालीन सुमेर के उन धर्मानुयायी राजाओं में से एक था जिसके सम्बन्ध में यह उल्लेख है कि उसमें से हर एक ने कई हजार वर्ष राज्य किया। वह सुमेरियन लोगों का जातीय महापुरुष था जिसके अलौकिक पराक्रम तथा सामर्थ्य में सब विश्वास करते थे। वह सिंह वृषभ महिष आदि वन्य पशुओं से द्वन्द्व-युद्ध करके उन्हें अपने वश में कर लेता था। इस प्रकार के पराक्रम के कामों में उसकी सहायता के लिए देवताओं ने नर-वृषभ 'एन किडु'[४] की सृष्टि की जो गिलग

---

१ मार्शल—मोहेंजो-दड़ो एण्ड दि इण्डस वैली सिविलाइज़ेशन भ० १ फलक ११२।

२ मार्शल—मोहेंजो-दड़ो एण्ड दि इण्डस वैली सिविलाइज़ेशन भ० १ फलक १११।

३ वत्स—एक्सकेवेशन्स एट हड़प्पा भ० २ फलक ९१ मुद्रा १ ५।

४ सुमेरियन मुद्राओं पर प्रदर्शित नर-वृषभ प्रायः गोजाति के पशुओं का सहचर दिखाया गया है। सुमेरियन कथानकों में इस विचित्र वीर के केश स्त्रियों के केशों की तरह लम्बे पीठ पर लटकते हुए वर्णन किये गये हैं।

फ्रेंकफर्ट—सिलिंडर सील्स फलक १२ ए ४।

यहाँ यह उल्लेख करना आवश्यक है कि मोहेंजो-दड़ो की मुद्रा न० ३५२ (फलक १२ क) का नर-वृषभ कटि से ऊपर मनुष्य और नीचे बैल है। सुमेरियन नर-वृषभ के समान न केवल इसके लम्बे केश ही पीठ पर लटक रहे हैं किन्तु इसके स्तन भी स्त्रियों की तरह उभरे हुए दिखलाए गये हैं।

फलक ९ विद्युत-प्रचालक के आंकर चित्र

को इसके शाखा-चिह्न को अपने सिर पर धारण करते थे यथार्थ काल के अधिकारी बन जाते थे परन्तु यह अधिकार केवल देवताओं तथा देवयोनि के जीवों का ही था जो मनुष्य के भाग्यविधाता थे । अश्वत्थ का समकोटि ही शमी जाति का एक वृक्ष विशेष था जिसे लोग जीवन-तरु अथवा अमृत विटप समझते थे । चित्रों में लिए हुए आकार से यह वृक्ष कटीला दीखता है, परन्तु भारत के वृक्षों में से किसी वृक्ष विशेष से इसकी एकरूपता सिद्ध करना कठिन है । सम्भावना यह है कि यह वृक्ष शमी बबूल नीम बेल और खदिर इन पाँच वृक्षों में से एक हो सकता है । इनमें शमी और बबूल चित्रगत वृक्ष के बहुत समान प्रतीत होते हैं । विविध मुद्राओं से प्राप्त साक्ष्य को यदि हम एक सूत्र में पिरो दें तो सुमेरियन कथानक के समान सिन्धु कालीन देवद्रुम-कथानक का स्वरूप भी स्पष्टतया प्रकट होने लगता है । इन मुद्राओं पर दिए हुए दृश्यों से ऐसा प्रतीत होता है कि मानो इस जीवन तरु अथवा इसकी शाखा को हस्तगत करने के लिए देवताओं और दानवों में अविराम संघर्ष चल रहा था । मनुष्य अथवा पशु के रूप में दानव सदा इस ध्यान में लगे रहते थे कि इस दिव्य तरु की शाखा को किस प्रकार प्राप्त करें । परन्तु यह देवद्रुम एक सरक्षक यक्ष के द्वारा सुरक्षित था जो व्याघ्र-दानव के दमन के लिए वृक्ष पर हरदम सचेत बैठा रहता था । यक्ष के अतिरिक्त इस तरु के और भी कतिपय संरक्षक थे । इन सब में प्रधान एक नरमुंड संकीर्ण पशु था (फलक १८ ५) जिसका सिर तो

---

१ वैदिक काल से लेकर आज तक भारत में निम्नलिखित वृक्ष पवित्र एवं पूज्य माने जाते हैं—

पीपल (अश्वत्थ) बड़ (न्यग्रोध) शमी उदुम्बर बिल्व खदिर तुलसी नीम (निम्ब) बबूल कुशा और कदम्ब।

इनमें उदुम्बर यूप और चमस बनाने के लिये न्यग्रोध चमस (जलपात्र) बनाने के लिये खदिर स्रुव और यज्ञ बनाने के काम में आते थे। बिल्व का महत्त्व इस लिए था कि इसकी लकड़ी के यूप बनते थे और फल खाए जाते थे।

२ अथर्ववेद में शमी के सम्बन्ध में वर्णन मिलता है कि यह वृक्ष चौड़े पत्तों वाला रोमनाशक एवं मादक है। परन्तु इन दो वृक्षों में से जो आजकल शमी के नाम से जाने जाते हैं पूर्वोक्त गुणों का अभाव है। इनमें से एक जड़ है जो हड़प्पा और मोहेंजो-दड़ो के समीपवर्ती जनता में बहुत पाया जाता है। इसी संहिता में यह भी वर्णित है कि शमी की कोमल लकड़ी से नीचे की अरणियाँ बनाई जाती थीं और ऊपर की अरणियाँ अश्वत्थ की कठिन लकड़ी की होती थीं। सिन्धु में लिखा है कि शमी और इसके फल रोमनाशक होते हैं। वैदिक काल के

मुद्रा नं० ५२२[1] और ३३७ तथा हड़प्पा की मुद्राछाप नं० २४८[2]। वे मुद्राएँ जिन पर यह वृक्ष अन्य घटनाओं से सम्बद्ध पाया जाता है निम्ननिर्दिष्ट हैं—मोहेंजो-दड़ो की तीन मुद्राछापें नं० १ ११ और २३। इनमें मुद्राछाप नं० १ तीन पहलू की है (फलक २ ज)[4]। इसके एक पहलू पर बाएँ से दाएँ को सकीर्ण पशु जीवनतरु की ओर पीठ किये पहरा दे रहा है और इसकी दाईं ओर वृक्षारूढ़ यक्ष और व्याघ्र शावक है। इसके बाईं ओर स्वस्तिक और उसके पास एक हाथी जीवनतरु और स्वस्तिक का अभिवादन कर रहा है। यहाँ स्वस्तिक चिह्न का वही मंगलमय अभिप्राय मालूम होता है जो हिन्दू-समाज में आज भी इसका है। देवद्रुम के साथ इसके साहचर्य का तात्पर्य वृक्ष की अतिरिक्त सुरक्षा है। वृक्ष और स्वस्तिक के सन्निधान में हाथी का अभिवादन उन बौद्ध जातक-कथाओं का स्मारक है जिनमें हाथी तथा अन्य उत्तम जाति के पशु बौद्ध स्तूपों पर पुष्पमाला आदि का उपहार चढ़ा रहे हैं। मुद्राछाप के दूसरे माथे पर एकशृंग और वेदिका तथा आठ चित्राक्षरों का लेख है (फलक २ ज १)। तीसरे माथे के बाएँ किनारे पर अश्वत्थ-देवता पीपल के दो फाँक तने के अंदर खड़ा है उसके दाईं ओर विचित्ररूप बकरा और उपासक है। उपासक के पीछे बलिवेदि है (फलक २ ज २)। इसमें सन्देह नहीं कि इस मुद्राछाप के तीन पहलुओं पर अंकित भिन्न भिन्न दृश्य एक ही बृहत् कथानक के भाग हैं। पहले पहलू पर प्रदर्शित अश्वत्थ-देवता स्पष्ट रूप से सिन्धुकालीन देवताओं में सर्वोच्च स्थान रखता था और शेष दो पहलुओं पर चित्रित दृश्य इसी देवताविषयक कथानक की भिन्न-भिन्न घटनाओं के व्यंजक हैं। दूसरे पहलू पर अंकित एकशृंग इस देवता का वाहन अथवा कृपापात्र पशु था जैसे कि हम मुद्रा नं० ३८७ पर पहले देख चुके हैं। यह अनुमान युक्तिसंगत है कि शमीजाति का देवद्रुम (जीवनतरु) जिसकी रक्षा यक्ष और संकीर्ण पशु करते हैं भी इसी परम देवता का प्रिय द्रुम था और विशेष रूप से इसकी शाखाओं को धारण करने का अधिकार केवल देवताओं वैवमोति के वीर पुरुषों तथा देव-पुरोहितों का ही था।

मुद्राछाप नं० ११ के एक माथे पर व्याघ्र-दमन का दृश्य तथा पशाकारी

---

१ मैके—फर्दर एक्सकैवेशन्स भा० २ फलक ६९ मुद्रा ५२२।

२ मार्शल—मोहेंजो-दड़ो एण्ड दि इंडस वैली सिविलाइजेशन भा० ३ फलक १११ मुद्रा नं० ३३७।

३ वत्स—एक्सकैवेशन्स एट हड़प्पा भा० २, फलक ९१।

४ मैके—फर्दर एक्सकैवेशन्स भा० २ फलक ८२।

५ मैके—फर्दर एक्सकैवेशन्स भा० २ फलक ९२।

रेखा है (फलक २ क्र १) और दूसरे माथे पर बैठा हाथी तथा एकशृंग एक दूसरे के पीछे बाएँ से दाएँ को चलते दिखाए गये हैं (फलक २ क्र २)। सम्भवतः ये पशु पहले माथ पर बने हुए देवद्रुम का अभिवादन के लिये प्रस्थान कर रहे हैं ठीक उसी प्रकार जैसे पूर्वोक्त मुद्राछाप पर हाथी पीपलतरु और स्वस्तिक का अभिवादन कर रहा है। तीसरे माथ पर एक विशाल धर्मवृक्ष है जिसके पत्तों को पिछली टांगों के बल खड़े होकर मणिमुख देवता का कृपापात्र वा हिरण आनन्द से चर रहे हैं, और इस दृश्य के बाईं ओर अभिरत एक मनुष्य हाथ में धनुष या डंडा लिये किसी काम में व्यस्त दिखाई देता है और पास खड़ी हुई एक स्त्री उसकी ओर झुककर काम में सहायता कर रही है (फलक २ क्र १)। सम्भव है कि यह मनुष्य जीवन तरु का संरक्षक यक्ष हो जो व्याघ्र दानव को यातना देने के लिये मचान बना रहा हो। यह बात कल्पनीय है कि व्याघ्र के दूसरे माथ पर प्रदर्शित पशुपंक्ति में एकशृंग सबके आगे चल रहा है जिससे सिद्ध होता है कि यह सर्वश्रेष्ठ पशु अथवा एक काल्पनिक दिव्य पशु था न कि 'एक बछड़ा' मुद्रा में बना एक साधारण बैल जैसा कि कई विद्वानों का विचार है।

मोहेंजो-दड़ो की मुद्रा नं २१ (फलक २१ च)[1] के सामने माथे पर बने हुए दृश्य में बाएँ से दाएँ को चित्र इस प्रकार खुदे हैं—पहले माथ पर अमृत घट[1] उसके साथ पीपलतरु पर आरूढ़ यक्ष के द्वारा व्याघ्र-दानव का दमन और मध्य में सर्पाकार भुजाओं वाले एक देवता के द्वारा व्याघ्रमुख दो दानवों का वर्णन। दानवों के हाथों में दोशीर्ष देवद्रुम का शाखा थामा गया है। देवता उनके मध्य में खड़ा है और अपनी सर्पसमदी भुजाओं को फैलाकर देवद्रुम को उखाड़ने के अपराध में दानवों को वश में पकड़कर पछाड़ने का प्रयत्न कर रहा है। ऐसा प्रतीत होता है कि व्याघ्रमुख दानव देवद्रुम को उखाड़ कर अभी ही ले जाने को उद्यत हुए थे फट पड़ा और तदधिष्ठातृ-देवता उन्हें इस अपराध का दंड देने के लिये भयानक प्रकट हो गया[2]।

---

[1] मैके—फर्दर एक्सकेवेशन्स ख २ फलक ९।

[2] मैकेजी महोदय लिखते हैं कि मनुष्यों की तरह देवताओं को भी अन्न और जल की आवश्यकता है। वे इसलिये अमर हैं कि उन्होंने अमृत का पान एवं जीवनतरु के फल का आस्वादन किया है।

[3] सिन्धुकालीन देवताओं उपदेवताओं तथा दिव्य वीरों की मुद्राएँ साक्षात् अनुपम हैं। अनुपम है कलाकी की बाह्याकृति सौन्दर्यसिद्ध है। कलाकारों ने इन्हें साधारण मानुषी भुजाएँ बनाया है और इनकी ऐंठीले स्वरूप का वर्णन करने के लिये लिखा है कि ये कंधे से कलाई तक कमलों से भरी हैं।

फलक २१ देवद्रुम-कथानक के द्योतक चित्र

सिन्धुमुद्राओं पर देवता-उपासक के साथ ओतप्रोत अन्य कई घटनाएँ भी दृष्टिगोचर होती हैं। मुद्रा नं. १०६ पर पशुओं का विचित्र चित्रण है (फलक २१ घ)। मध्य में सर्पीले पशु विषधर-सदृश अपनी पूँछ को ऊँचे उठाकर खड़ा है। उसके सामने एक निर्जीव व्याघ्र पड़ा है। उसके दोनों ओर बिना पूँछ के दो बिच्छू हैं। चित्र बहुत अस्पष्ट है इसलिये इसमें सन्निविष्ट घटनाओं की विशेष व्याख्या करना कठिन है। परन्तु इसमें संदेह नहीं कि चित्रगत घटना की पृष्ठभूमि में जीवनतरु है जिसकी कुबली शाखाएँ सर्पीले पशु के समस्त अंग भी दिखाई देती हैं। पहले हम देख चुके हैं कि यह विचित्र जीव जीवनतरु का पहरुआ है। यदि इसके सामने पड़ा हुआ निर्जीव व्याघ्र नहीं व्याघ्र-मानव है जो जीवनतरु की शाखा चुराने के लिये बार-बार इसके पास आता था तो यह उचित ही था कि अहर्निश जागरूक पहरुए के हाथ से उसे अपने पापों के लिये प्राणदण्ड मिलता। इस प्रसंग में बिच्छू या तो सर्पीले पशु के सहायक थे अथवा यदि वे अपराधी के साथी थे तो शायद व्याघ्र की तरह उन्हें भी पहरुए के हाथ से यह दण्ड ही मिला हो कि उनकी विषैली दुम काट दी गई हों जिससे भविष्य में वे अपने दंश रूपी शस्त्र से वंचित हो जाएँ और किसी को कष्ट न पहुँचा सकें।

एक और मुद्रा जो स्वभावतः जीवनतरु उपासक से सम्बद्ध प्रतीत होती है नं. ४८ (फलक २१ ग) है। इस पर पशुओं के बीच सबसे पहले बाँयें दो वृक्ष और तीन पक्षिमुख मकर हैं जो अपनी चोंचों में एक-एक मछली पकड़े हुए हैं। ऊपर के रिक्त स्थान में तीन पक्षी उड़ रहे हैं। उनमें से एक पक्षी चोंच खोले चिल्लाता सा प्रतीत होता है मानो किसी आकस्मिक भय से संकेत कर रहा हो। पशु-पक्षियों का यह समारोह जाने वे जाने को अवसर हो रहा है। चित्र में दिये हुए जो कुछ धर्मी-जाति के नहीं दीखते और जो पशुओं के यथार्थ स्वरूप का पता लगाना भी कठिन है। उनमें से एक के ग्रीवा पीछे की ओर और दूसरे के आगे की ओर मुड़े हैं। हो सकता

---

१ मैसोपोटैमिया में डॉ. मैके ने टीला 'किश' के कब्रिस्तान 'ए' में बिच्छू के चिह्नवाली मुद्राएँ पाई थीं। उनमें पत्थर की बनी हुई मुद्रा नं. १ (फलक २ ज) पर पहाड़ी बकरे के समान लंबे सींगों वाले पशु और बिच्छू बने हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि बकरे और बिच्छुओं में लड़ाई हो रही है। एक बिच्छू उछल कर बकरे को डसता हुआ दिखाई देता है।

मैके—ए सुमेरियन पैलेस एण्ड दि 'ए' सिमेट्री एट किश भाग २।

२ सम्भव है कि बिच्छुओं की दुमें स्वाभाविक से चित्र में न आ सकी हों।

३ मैके—फर्दर एक्सकेवेशन्स भा. १ फलक ६६।

है कि ये महिषमुंड देवता के कृपापात्र नहीं थे हिरण हों जिन्हे जीवनतरु की टहनियाँ स्वच्छन्द चरने का पूर्ण अधिकार प्राप्त था। पत्तों मे मछली पकड़े हुए मगर का चित्र चिन्हमुद्राओं पर प्राय मिलता है परन्तु यहाँ यह सदा यथार्थ रूप मे दिखाई देता है न कि पक्षिमुख तथा नाना वाले काल्पनिक रूप मे जैसा कि इस मुद्रा पर अंकित है।

मोहेंजो-दड़ो से प्राप्त तीन पहलू की मुद्राछाप न १४ पर भिन्न भिन्न रोचक चित्र हैं (फलक २१ ग) । एक पहलू के बाएँ किनारे पर अभी जाति का जीवनतरु है जिसके दोनो ओर पिछली टाँगो पर खड़े दो हिरण स्वच्छन्द रूप से वृक्ष की टहनियों को चर रहे हैं, जब कि तीन सिर वाला संकीर्ण पशु दूसरी ओर खड़ा पहरा दे रहा है (ग १)। दूसरे दो पहलुओं पर बहुत से पशु देववृक्ष के अभिवादन के लिये बाएँ से दाएँ को पंक्तिबद्ध जा रहे हैं। इनमें हाथी गैंडा चीता बाघ छोटे सींगोवाला बैल वन-वृषभ बकरा मगर कछुआ और मछली आदि सम्मिलित हैं (ग १ २)। ऐसा प्रतीत होता है मानो समस्त पशुजाति ही देववृक्ष की पूजा के समारोह मे भाग ले रही हो और वृक्षाधिष्ठातृ-देवता को भेंट चढ़ाने के लिये मगर अपने मुँह मे बलि रूप से एक मछली भी ले चला हो। मांस और घास खाने वाले विरुद्ध प्रकृति के पशुओं का समारोह मे एक साथ मिलकर चलना इस बात का सूचक है कि देववृक्ष के समस्थल जैसा शान्त वातावरण था जहाँ हिंस्र और सौम्य प्रकृति के पशु मिलकर एक साथ जीवन निर्वाह कर सकते थे।

मोहेंजो-दड़ो से उत्खात मुद्रा म० २ (फलक २१ घ १)[1] के सामने वाले पर अभी जाति का देववृक्ष है जिसकी बाईं ओर स्वस्तिक चिह्न और तीन चित्राक्षर हैं। देववृक्ष और स्वस्तिक का साहचर्य मुद्रा न ११ (फलक २ घ १)[2] पर भी पाया जाता है। मंगलचिह्न होने के कारण स्वस्तिक के इस साहचर्य का तात्पर्य देववृक्ष को नाना प्रकार के आगन्तुक भयों तथा उपद्रवों से बचाना था। इस मुद्रा की पीठ पर मगर के मुँह मे जो मछली है वह सम्भवत वृक्षाधिष्ठातृ-देवता के लिए बलि है। पूर्वोक्त दोनों मुद्राएँ इस तथ्य का अजेय प्रमाण हैं कि वर्तमान काल की तरह प्रागैतिहासिक काल मे भी स्वस्तिक एक परम मंगलमय और विघ्ननाशक चिह्न समझा जाता था।

---

१ मार्शल—मोहेंजो-दड़ो एंड दि इंडस वैली सिविलाइजेशन प्रथ १ फलक ११६।

२ मार्शल—मोहेंजो-दड़ो एंड दि इंडस वैली सिविलाइजेशन प १ फलक ११।

३ मैके—फर्दर एक्सकेवेशन्स ब २, फलक ८२।

फलक १२ सिन्धुयुग तथा सुमेरियन काल की अग्नि-वेदियाँ

यह छत्राकृति वेदि एकशृंग की मुद्राओं पर पशु के मुख के नीचे रखी रहती है। एकशृंग जो इस पर मस्तक ताने खड़ा पाया जाता है प्रायः आवेश में दिखाई देता है। उसका सिर और पूँछ अकड़े और कुछ ऊपर को उठे हुए एवं आँखें फूली तथा उभरी हुई होती हैं। इन संकेतों से विदित होता है कि वेदिका से उठते हुए धूप के गन्ध अथवा देवद्रुम के नन्हे पौधे के दर्शन से एकशृंग धीरे-धीरे आवेश में आ जाता था।

वेदिका की वास्तविक उपयोगिता पर अधिक प्रकाश डालने के लिये मोहेंजो-दड़ो की मुद्रा नं० १८७ का उल्लेख करना नितान्त आवश्यक है। इस मुद्रा पर पीपल का पेड़ एक ऐसे आधार से उभर रहा है जो स्तम्भ-युक्त अंशों में एकशृंग वाली मुद्राओं पर उत्कीर्ण वेदिका के सदृश है। आधार में यह चिह्न फलक ४५ ग के समान है। इसमें यह वेदिका दो अंशों की बनी है—कटाकार मूल भाग और एक छेददार खुले मुँह का पात्र जिसमें से परम देवता का प्रतीक अश्वत्थ वृक्ष उभर रहा है। पीपल के स्कन्ध के दोनों ओर एक-एक अंकुशाकार किसलय अथवा मृणाल है। इसमें महत्त्व की बात यह है कि जिस प्रकार एकशृंग वेदिका पर गर्दन तानकर खड़ा होता है। इसी प्रकार इस चित्र में भी देवद्रुम से लटकते हुए एकशृंग के दोनों सिर वेदिकाकार इस आधार पर भी तने हुए हैं। इसलिये यह बहुत सम्भव है कि यह आधार जिसमें से अश्वत्थ उभर रहा है और जिसके तने के दोनों ओर एकशृंग के मुँह लटक रहे हैं वही वेदिका है जो एकशृंग की मुद्राओं पर प्रायः देखी जाती है। यदि यह अनुमान ठीक है तो मुद्रा नं० चित्र सिन्धुवेदिका के प्रयोजन को बहुत स्पष्ट रूप से व्यक्त करता है। मार्शल महोदय का सुझाव है कि एकशृंग की मुद्राओं पर बनी हुई वेदिका एक प्रकार की धूपदानी थी। नीचे के पात्र (प्याला) में अंगारे और ऊपर के कोष्ठ में गन्धद्रव्य रखे जाते थे। मन्द मन्द जलते हुए गन्धद्रव्य का धुआँ सूँघने से एकशृंग आवेश में आ जाया करता था। परन्तु पूर्वोक्त धारणा के प्रकाश में यह अनुमान लगाना बहुत युक्तिसंगत है कि यह वेदिका गन्धद्रव्य जलाने के लिये नहीं अपितु अश्वत्थ के नन्हे पौधे को पालने के लिये एक पवित्र आधार था। क्योंकि एकशृंग सिन्धुकालीन लोगों के परमेश्वर अश्वत्थ देवता का कृपापात्र पशु और सम्भवतः वाहन था इसलिये यह स्वाभाविक ही था कि वह वेदिकास्थ पौधे को देख अथवा सूँघ कर आवेश में आ जाता।

मोहेंजो-दड़ो की मुद्राओं नं० ७ और ८ पर इस वेदिका को धूप-पूजा के उत्सव-समारोह में प्रदर्शित किया गया है (फलक २२ ड)। उत्सव में चार मनुष्य भाग ले रहे हैं। छाप के दाएँ और बाएँ किनारे वाले मनुष्यों के हाथों में वेदिकाएँ हैं। तीसरा मनुष्य अपने हाथ में एक दण्ड उठाए हुए है और इस दण्ड के शिखर पर दो

फलक २१ सिन्धु-सभ्यता के धार्मिक चिह्न और लांछन

सींगो वाला बैल बना है। चौथे मनुष्य के हाथ मे भी वज्र है परन्तु उसकी चोटी पर है माला अथवा ध्वजा जैसी कोई वस्तु लटक रही है। सिन्धु-मुद्राओं मे इस प्रकार का अभिप्राय केवल इन दो मुद्राओं पर ही मिलता है। इसका आंशिक सादृश्य जमदेत-नसर काल की सुमेरियन मातृदेवी 'इनन्ना' के चिह्न से है (फलक २२ क, ड) जो उक्त देवी के मन्दिरो के सामने अथवा ऊपर बना हुआ देखा जाता है। सम्भवत मोहेंजो-दडो की मुद्राओं पर अंकित चिह्न भी सिन्धुकालीन किसी देवी का चिह्न या लांछन था। हडप्पा की मुद्राछाप न १ १ (फलक २१ क)[1] के दोनो माथो पर एक मनुष्य अपने हाथों मे वेदि को उठाए हुए है और साथ ही चित्राक्षरमय लेख है। इसी प्रकार से उत्खनन मे मिली कई मुद्राओं पर केवल वेदि ही बनी है एकशृङ्ग नही। मुद्रा न २१६[2] के एक माथे पर वेदि और दूसरे पर दो पंक्ति का लेख है। इसी प्रकार मुद्राछाप न १ (फलक २१ ख)[3] के एक ओर वेदि और दूसरी ओर पचाक्षरी लेख है। मुद्राछाप न १२२ (फलक २१ ग)[4] के एक ओर तीन वेदियाँ बिन्दुमध्य वृत्त और पाँच चित्राक्षर है। क्षुद्राकार मुद्रा न ४४ (फलक २१ घ)[5] पर एक ओर वेदि और दूसरी ओर चित्राक्षर है। हडप्पा की मुद्राओं पर वेदि का अकेले पाया जाना सम्भवत इस बात का सूचक है कि सिन्धु-सभ्यता के प्रारम्भकाल म जबकि अभी एकशृङ्ग की कल्पना नही हुई थी यह चिह्न अकेला ही अव्यक्त और तदधिष्ठातृ-परम देवता का प्रतीक था। यदि यह सम्भावना ठीक है तो हडप्पा मोहेंजो-दडो से प्राचीन है क्योंकि वहाँ एक भी मुद्रा ऐसी नहीं मिली जिस पर अकेले वेदिका का ही चित्र बना हो।

धार्मिक चिह्न और लांछन—सिन्धुकाल मे प्रचलित अनेक धार्मिक चिह्नो तथा पवित्र लक्षणो म सबसे प्रधान स्वस्तिक था। हडप्पा व मोहेंजो-दडो की खुदाई मे बहुत-सी मुद्राएँ ऐसी मिली है जिन पर स्वस्तिक अकेला ही अंकित है परन्तु कई ऐसी भी है जिन पर यह किसी दूसरे प्रसग मे भी देखा जाता है। ऊपर कुछ मुद्राओं का वर्णन किया गया है जहाँ यह पीपलतरु के स हचय म मिलता है। मोहेंजो-दडो मुद्रा न १ पर यह एक ऐसे चक्र के साथ प्रदर्शित है जो नौ कोष्ठो मे विभक्त है (फलक २१ छ)। हो सकता है कि नौ कोष्ठो वाला यह सिन्धु-कालीन चक्र

---

१ वत्स—एक्सकेवेशस एट हडप्पा भ २ फलक ९१।
२ वत्स—एक्सकेवेशन्स एट हडप्पा भ २ फलक ९१।
३ वत्स—एक्सकेवेशन्स एट हडप्पा भ २ फलक ९१।
४ वत्स—एक्सकेवेशन्स एट हडप्पा भ २, फलक ९१।
५ वत्स—एक्सकेवेशन्स एट हडप्पा भ २ फलक ९१।

ऐतिहासिक काल के समग्र धर्म का पूर्वरूप हो। हड़प्पा की मुद्राछाप नं० १६ (फलक १३ च)[1] के सामने भाग पर एक मनुष्य हाथ मे टोकरा पकड़े खड़ा है और दूसरी ओर पाँच स्वस्तिकों की पंक्ति है। उन मुद्राओं में जिन पर केवल स्वस्तिक ही पाया जाता है हड़प्पा की मुद्राओं नं० १६७, १६८ और १६२ वर्णनीय हैं। काले चकमक पत्थर की मुद्रा जिस पर चार स्वस्तिक खुदे हैं अच्छा उदाहरण है (फलक २१ भ)। इस मुद्रा की विशेषता यह है कि इस पर बने हुए स्वस्तिकों की भुजाओं के अन्त पर आड़ी रेखाएँ हैं जिससे इनका आकार हिन्दू जाति में प्रचलित आधुनिक स्वस्तिक के बिल्कुल समान है।

सिन्धु-मुद्राओं पर बने हुए कई स्वस्तिकों की भुजाएँ दाएँ को और कई की बाएँ को मुड़ी हैं। परन्तु हिन्दुओं के घरों में प्रायः जो स्वस्तिक लिखा जाता है वह दक्षिणावर्त ही होता है। वामावर्त को हिन्दू लोग अशुभ समझते हैं। तथापि सिन्धु समाज में बिना भेदभाव के दोनों आवर्तों के स्वस्तिक मंगलमय समझे जाते थे। इसमें सन्देह नहीं कि पाँच-छः हजार वर्ष पहले भी यह चिह्न वैसा ही शुभ एवं पवित्र था जैसा कि आज।

पीपल का पत्ता—यह एक और चिह्न है जो सिन्धु-निवासियों में स्वस्तिक के समान सुख-सम्पत्ति का सम्वर्धक एवं कल्याणकारी समझा जाता था। हड़प्पा की मुद्राकार मुद्राओं पर कहीं-कहीं इसका चित्र पाया जाता है। उदाहरणार्थ मुद्रा नं० ४३६ के एक ओर पीपल का पत्ता और दूसरी ओर दो चिह्नाकार हैं (फलक २१ प)। अपनी पवित्रता के कारण ही 'पीपल-का-पत्ता' अभिप्राय सिन्धु-युग की चित्रित कुम्भकला पर प्रायः पाया जाता है।

चतुर्भुज क्रूस—पूर्वोक्त मंगलोत्पादक यन्त्र के अतिरिक्त दो और भी यन्त्र हैं जो किसी प्रकार का धार्मिक अथवा तान्त्रिक महत्त्व रखते थे। उनमें से एक का आकार क्रूस के समान है[3] (फलक २१ ड) और दूसरा एक बहुत जटिल यन्त्र है (फलक २१ ढ)। इकहरे और दोहरे क्रूस का अभिप्राय मोहेंजो-दड़ो एवं हड़प्पा की कई बटन-मुद्राओं पर पाया जाता है। एक बटन-मुद्रा पर तीन-तीन वृत्तों की

---

१ वत्स—एक्सकेवेशन्स एट हड़प्पा भ० २, फलक ९३।
२ वत्स—एक्सकेवेशन्स एट हड़प्पा भ० १, फलक ९१ मु० २७५।
३ वत्स—एक्सकेवेशन्स एट हड़प्पा भ० २ फलक ६६।
४ मैके—फर्दर एक्सकेवेशन्स भ० २ फलक ८३ ४।
५ मार्शल—वही भ० ३ फलक ११६, ५२ और १३१।

तीन पत्तियाँ हैं। जो वृत्तों में विभक्त होने के कारण यह अभिप्राय भी पूर्वोक्त शतपत्राकार यन्त्र के सदृश है (फलक २२, ट)। कई मुद्राओं जैसे मोहेंजो-दड़ो की मुद्रा नं० ५१६ (फलक २१ ठ)[1] और हड़प्पा की मुद्रा नं० १६१[2] पर द्विगुण अथवा त्रिगुण रेखामय वर्ग हैं। मोहेंजो-दड़ो की बटन-मुद्रा नं० ५२५ (फलक २१ ख) पर आड़ी टेढ़ी रेखाओं का जाल-सा बना है और एक दूसरी मुद्रा पर केवल टेढ़ी ही रेखाएँ हैं। हड़प्पा की दो बटन-मुद्राओं में से एक पर खड़ी और पड़ी रेखाओं के समुदाय और दूसरी पर दो दोहरे त्रिभुज बने हैं (फलक २१ फ, त)[3]। पूर्वोक्त विविध यन्त्र और अभिप्राय शरीर पर धारण करने की वस्तुएँ होने के कारण अवश्य ही कुछ न कुछ धार्मिक अथवा तान्त्रिक महत्त्व रखते थे।

पशु-पूजा—वृक्ष-पूजा की तरह पशु-पूजा भी सिन्धुकालीन लोगों के धर्म का अंग था। इसका समर्थन हड़प्पा और मोहेंजो-दड़ो से उपलब्ध मुद्राओं, मुद्राछापों और उन असंख्य पशु-मूर्तियों से होता है जो विविध द्रव्यों की बनी हैं। इन पशुओं में अधिकांश वास्तविक हैं जो उस समय सिन्धु प्रान्त में पाए जाते थे। परन्तु बहुत से काल्पनिक भी हैं। ये वास्तविक पशु जिनके शरीर कई जन्तुओं के अंगों का योग है अलौकिक बलशाली समझे जाते थे और इसलिये लोग इनकी पूजा करते थे। इन विविध पशुओं में सबसे प्रधान वह संकीर्ण पशु है जिसका सिर मनुष्य का है परन्तु शरीर कई पशुओं के अवयवों का संघात है (फलक १८ प और २४ क)। इसकी ठोडी के नीचे शतपद (कनखजूरा) इस प्रकार लटक रहा है मानो हाथी की सूँड़ हो सिर पर ब्राह्मणी बैल के सींग, आगे का धड़ भेड़े का और पीछे का बाघ का है। पूँछ की जगह एक विषधर पीछे की ओर से आक्रमण करने वाले शत्रु पर घातक प्रहार करने के लिये सदा उद्यत खड़ा है। इस विचित्र जीव के सींग, सिर और सूँड़ को यदि ध्यानपूर्वक देखा जाय तो त्रिशूल का आभास भी होता है। इस काल्पनिक जीव का शरीर सात अथवा आठ विविध पशुओं का बना हुआ है जिसका भावार्थ यह है कि यह संकीर्ण जन्तु उन सब विलक्षणताओं और विशेष गुणों का संघात है जिनके लिये इसके अवयवभूत पशु लोक में प्रसिद्ध हैं। उसका मस्तिष्क मनुष्य का है, सिर पर बैल के सींग न केवल अस्त्र का ही काम देते हैं किन्तु इस बात के भी सूचक हैं

---

१ वत्स—वही भा० २ फलक ९५, १८८।
२ मार्शल—वही भा० ३ फलक ११४, ५१६।
३ वत्स—वही भा० २, फलक ९५।
४ मार्शल—वही भा० ३ फलक ११४।
५ वत्स—वही भा० २ फलक ९५।

कि यह देवयोनि का जीव है। अतएवस्थी उसकी सूंड में हाथी की सूंड जैसी प्रहार शक्ति और कमलजूरे की लोकप्रसिद्ध डाह-शक्ति का सुन्दर समन्वय है। उसके मेंहे की गीरता व्याघ्र की हिंसता और पूंछ में सर्पविहर की भावकता है[1]। ऐसा संकीर्ण जन्तु मौनकतर का निस्सन्देह बहुत उपयुक्त संरक्षक था। इसकी तुलना मेसोपो- टेमिया में पसरेत नहर काल की पताका मुद्रा पर खुदे हुए संकीर्ण पशु से है (फलक ११ घ)[2]। इस पशु का सिर हाथी का और शरीर बैल का है। यह भी जीवनवृक्ष के सामने पहरूआ के समान खड़ा आक्रमणकारियों से देवद्रुम की रक्षा कर रहा है जबकि वृक्ष के दूसरी ओर देवता का कृपापात्र वृषभ आनन्द से वृक्ष की टहनियों को खा रहा है। ऐसा प्रतीत होता है कि अति प्राचीन काल में अन्य अभिप्रायों के समान यह अभिप्राय भी सुमेरियन जाति ने सिन्धु-सभ्यता से लिया था। इसका विशेष कारण यह है कि मेसोपोटेमिया में हाथी नहीं होता और क्योंकि यह भारतीय पशु है इसलिये इस अभिप्राय का भारत से वहाँ जाना स्वाभाविक ही था। सिन्धु-सभ्यता के संकीर्ण पशु का सबसे स्पष्ट और सुन्दर चित्र हड़प्पा की मुद्रा नं २४६ (फलक १८ च) और मोहेंजो-दड़ो की मुद्राओं नं ४२ (फलक २४ क) ४११ और १०६ पर है। इनमें से हड़प्पा की मुद्रा पर पशु के विविध अंग बहुत कुशलता से उत्कीर्ण हैं, विशेषत बकरा को अरमुण्ड की ठोडी से हाथी की सूंड की तरह लटक रहा है, बहुत सजीव दिखलाया है। इस संकीर्ण जीव की अतएवस्थी सूंड को ध्यानपूर्वक देखने से सिन्धुकालीन देवताओं की भुजाओं का स्मरण हो उठता है जिसके सम्बन्ध में पुरातत्ववेत्ताओं ने लिखा है कि वे कन्धों से लेकर कलाई तक कंकणों से भरी है। मोहेंजो-दड़ो की मुद्रा नं ४११ पर खुदे हुए इस पशु की पंख स्पष्ट रूप से चक्रित्र है। मुद्रा न १०८ पर बने हुए इस पशु की पूंछ के स्थान भी सांप अथवा कोई और विषैला कीट है[3]।

दूसरे काल्पनिक पशुओं में अजशृंग (बकरे के सींगो वाला) देवता (फलक १६, च) उल्लू के सिर वाला बकरा (फलक २४ च) सींगों वाला बाघ (फलक

---

१ यह बात उल्लेखनीय है कि मेसोपोटेमिया में सुविधा पटेसी के यज्ञ-पात्र पर बने हुए संकीर्ण अजपदों की पूंछें भी सांप ही है।

२ मैक फर्ट—सिलिण्डर सील्स फलक ६ सी।

३ मार्शल—वही जि १ फलक ११२।

४ मार्शल—वही ज ३ फलक १११ ३६७।

५ मैके—फर्दर एक्सकेवेशन्स जि० २ फलक ६७।

क

ख

ग

घ

ङ

च

फलक २४ सिन्धुयुग के काल्पनिक पशु

परन्तु जो टेसियस से पचास वर्ष पीछे हुआ लिखता है कि 'एकशृंग' पशु के दो भेद हैं। इनमें एक तो पूर्वोक्त भारतीय गधा और दूसरा एबसीनिया (हब्श) का 'ओरिक्स' नामक हिरण था। अपने 'प्राकृतिक इतिहास (नेचुरल हिस्टरी)' नामक ग्रन्थ में यूनानी वैज्ञानिक प्लाइनी ने वर्णन किया है कि संसार में तीन जाति के एक-शृंग पशु हैं। इनमें प्रथम भारत का गधा, दूसरा भारत का बैल और तीसरा हब्श का 'ओरिक्स' नाम हिरण। एक और यूनानी इतिहासकार स्ट्रेबो का उल्लेख है कि भारत में बारहसिंगे के समान सिरवाला एकशृंग घोड़ा पाया जाता है[1]। पूर्वोक्त इतिहासकारों के लेखों से पता चलता है कि प्राचीन काल से एकशृंग-सम्बन्धी कथानकों का उत्पत्ति-स्थान भारत ही था और इस केन्द्रीय स्थान से इस कथानक ने पूर्वी तथा पश्चिमी देशों की ओर प्रस्थान किया। पांचवी अथवा चौथी शती ई० पू० यह चीन पहुँचा और लगभग इसी समय यह ईरान में यूनानी इतिहासकार टेसियस के कर्णगोचर हुआ। चीन के प्रसिद्ध धार्मिक नेता कन्फ्यूशस की रची हुई 'लिन-चि' नामक नैतिक पुस्तक में चार अलौकिक पशुओं का वर्णन है जिनमें एक 'लिन' अर्थात् एक-शृंग है। चीनियों का विश्वास है कि यह पशु सृष्टि में सर्वोत्कृष्ट तथा समस्त दिव्य गुणों का स्वामी है। यह ऐसा धीमा पादप्रक्षेप करता है कि न तो भूमि पर उसका चिह्न लगता है और न ही उसके नीचे क्षुद्र से क्षुद्र जीव को भी किसी प्रकार की क्षति पहुँचती है[2]। इस पशु के सम्बन्ध में पुरातत्त्वज्ञों में बहुत मतभेद है। कई विद्वानों का विचार है कि यह केवल बिना कूबड़ के साधारण बैल है जो एकपार्श्व मुद्रा में खड़ा है जिससे पीछे का सींग सामने सींग की ओट में आ जाने से एक ही सींग का भ्रम पैदा करता है। दूसरे पुरातत्त्ववेत्ता इसे ओरिक्स (हिम-पुच्छ का बैल) समझते हैं। परन्तु अन्य कई विलक्षणताओं तथा साहचर्य के आधार पर जिनका पहले निर्देश किया गया है यह निर्णय युक्तिसंगत प्रतीत होता है कि सिन्धु-निवासियों के सर्वोत्कृष्ट परतत्त्वाधिष्ठातृ परमदेवता का वाहन एवं कृपापात्र होने के कारण एकशृंग एक काल्पनिक दिव्य पशु था।

एकशृंग के विषय में कुछ और बातें—मोहेंजो-दड़ो की मुद्रा न० ४ पर एक शृंग के शरीर से लगा हुआ एक रस्सा गले से नीचे की ओर चलकर अगली टांगों के बीच लुप्त हो जाता है। मुद्रा नं० २ पर एकशृंग के गले में माला अथवा पट्टी बंधी है और इसके अतिरिक्त गले के नीचे और ऊपर बाह्य रेखाओं के साथ-साथ एक रस्सा सा दिखाई देता है और ऐसा प्रतीत होता है कि रज्जु का एक सिरा

---

१ एंटिक्विटी—पृ० ११, भाग ७९।

२ एंटिक्विटी—पृ० ११।

कूबड़ी के चारों ओर बँधा हुआ है और दूसरा उसके मुँह में से निकल कर आँख के पास से होता हुआ सींग के पीछे की ओर चला गया है। इसी प्रकार मुद्रा सं. ४ में इस पशु के गले में पट्टी है जिसके निचले सिरे के साथ बँधी हुई एक रज्जु सिर और कूबड़ी की पर्यन्त रेखाओं के साथ-साथ चलती है। पशु के गले के नीचे वेदिका है जिसमें से धूआँ अथवा देवद्रुम का नन्हा पौधा उभरता हुआ प्रतीत होता है। मुद्रा सं. २४[१] पर एकशृंग के गले पर जो आवरण पट है वह धारदार होने के कारण उन साधारण पटों से भिन्न है जो दूसरी मुद्राओं पर पशु के शरीर पर पाए जाते हैं। यहाँ यह बात ध्यान देने योग्य है कि यह पवित्र आवरण हृदयाकार है। यह अभिप्राय सिंधुलिपि का एक चिह्नाक्षर है और सिंधु-कुम्भकला पर चित्रित अलंकरणों में भी पाया जाता है।

मुद्रा सं. ३ पर एकशृंग के गले के नीचे रखी हुई वेदि के निचले भाग से सूक्ष्म अंकुर की तरह कोई चीज उभरती हुई दिखाई देती है (फलक २४ क)। यह या तो सूक्ष्म अग्निज्वाला है अथवा पौधे के नन्हे अंकुर। एक छोटी सी रज्जु जो एकशृंग की कूबड़ी से बँधी हुई मालूम होती है पशु-शरीर की बाह्य सीमारेखा के साथ-साथ चलती प्रतीत होती है[४]। मुद्रा सं. ४ में रज्जु का एक सिरा पशु के गले में बँधा है परन्तु दूसरा उसकी अगली टाँगों के बीच में जाता हुआ दिखाई देता है। रस्सी का एक दूसरा टुकड़ा कूबड़ी में बँधा हुआ है। मुद्रा सं. ६१ पर अंकित एकशृंग के गले में 'पकर-चक्र' चिह्नाकार खुदा है जिसके अभिप्राय का पता लगाना कठिन है[५]।

मुद्रा सं. १११ में एकशृंग की पूँछ मूल से ऊपर को उठी है। ऐसा मालूम होता है कि मानो वेदि से उठते हुए धूम अथवा देवद्रुम के भय से पशु आवेश में आ

---

१ मार्शल—वही भा. ३ फलक ११।

२ मार्शल—वही भा. ३ फलक ११।

३ मेसोपोटेमिया में हृदय अथवा कलेजे को जीवन का आधार और आत्मा का निवास-स्थान समझा जाता था। यह विश्वास इस तथ्य पर आश्रित है कि मानव शरीर के समस्त रुधिर का छठा भाग केवल कलेजे में रहता है। इतना रुधिर शरीर के और किसी अंग में नहीं होता।

४ मार्शल—वही भा. ३ फलक १४।

५ मार्शल—वही भा. ३ फलक १४।

६ मार्शल—वही भा. ३ फलक १६।

७ मार्शल—वही भा. ३ फलक १७।

फलक १५. सिन्धु-युग के वास्तविक पशु

गया हो। यही बात मुद्रा नं० ११४ और ११५ में भी पाई जाती है। मुद्रा नं० ११ में आखापन-पट एकशृंग के कन्धों की बजाय उसकी पीठ पर है। यहाँ भी पशु की थूथनी रज्जु से बँधी हुई मालूम देती है। इसका एक सिरा सिर पर से होता हुआ सींग की जड़ की ओर चला गया है।

वास्तविक पशु—सिन्धुकाल के वास्तविक पशु जिनके चित्र मुद्राओं पर उत्कीर्ण अथवा खिलौनों के रूप में पाए गये हैं निम्नलिखित हैं—ब्राह्मणी बैल (वैदिक महर्षभ) जैसा छोटे सींगों वाला बैल वनवृषभ भैंसा हाथी बाघ मगर, गैंडा बकर और बिलाव। क्षुद्र जन्तुओं और पक्षियों में नेवला गिलहरी मछली कछुआ बिच्छू, वन बकरा साँप केंकड़ा चील मुर्ग कबूतर फाख्ता मोर, बत्तख चमगादड़ आदि वर्ण्य विषय हैं। मोहेंजो-दड़ो से प्राप्त अनेक ताम्रफलकों पर भी पशुमूर्तियाँ बनी हैं जिनमें कई विचित्र आकार की हैं और उनके वास्तविक स्वरूप का पता लगाना कठिन है। ब्राह्मणी बैल भैंसा वन-वृषभ मगर आदि बड़े पशु पूज्य समझे जाते थे परन्तु अधिकांश छोटे पशु यद्यपि पूज्य न भी हों धार्मिक भावना से सम्बद्ध देखे जाते थे। वृक्षों तथा पशुओं में देवता अथवा भूत प्रेतादि के निवास की कल्पना करना और तदनुसार श्रद्धा से उन्हें पूज्य या आदरणीय मानना सभ्यता में निम्न स्तर के मनुष्य का धर्म था। अशिक्षित मनुष्य समाज में हर एक अचम्भे की वस्तु अथवा अगम्य प्राकृतिक रहस्य आसुरी शक्तियों से आक्रान्त समझे जाते थे।

सिन्धुमुद्राओं पर खुदे हुए समस्त पशुओं में ब्राह्मणी बैल (वैदिक महर्षभ और पौराणिक नन्दी बैल) उत्तम है (फलक २५, ग)। सिन्धु-सभ्यता के प्रारम्भिक काल से ही यह पूज्य और पवित्र माना जाता था। यह पौराणिक काल के शिव-वाहन नन्दी का पूर्वरूप है। उससे उतरकर छोटे सींगों वाला बिना कूबड़ के बैल और भैंसा है (फलक २५ घ)। जीवनतत्त्व के संरक्षक होने के अतिरिक्त ये दोनों पशु सिन्धुकालीन धार्मिक समारोहों और उत्सवों में महत्त्वपूर्ण भाग लेते थे। इसका समर्थन मुद्राओं पर खुदे हुए उन चित्रों से होता है जिनमें देव-पुरोहित अथवा मानव इन पशुओं पर से छलांगें लगाकर इन्हें फाँद रहे हैं। मोहेंजो-दड़ो की मुद्राछाप नं० १ पर एक छोटे सींगों वाला बैल टोकरे में चर रहा है (फलक २१ क)। उसके सामने खड़ा मनुष्य बाएँ हाथ से एक संयुक्त चित्राक्षर की ओर संकेत और दाएँ से पशु को मन्त्र-मुग्ध कर रहा है। सम्भवतः वह मन्त्र के द्वारा पशु की भयंकरता को दूर करके इसे सौम्य बनाना चाहता है। इस छाप के दूसरी ओर बाघ और भैंसा एक दूसरे के पीछे खड़े हैं मानो वे मनुष्य के हाथों इसी सम्मोहन-क्रिया के लिये अपनी अपनी बारी का

---

१ मार्शल—वही ब० १ फलक १ ७।

प्रतीकत्व कर रहे हैं। मोहेंजो-दड़ो की मुद्राछाप न० १६ पर सात पशु हैं (फलक १५, ख)। इन के मध्य में एक मगर और उसके दोनों ओर तीन-तीन पशु हैं। उसके दाईं ओर बैल बाघ और एकशृंग हैं और बाईं ओर भैंस गैंडा और हाथी। इस पशु-समुदाय की उल्लेखनीय बात यह है कि मध्यवर्ती मगर के कुछ अंग दोनों ओर के पशुओं के भिन्न-भिन्न अंगों का भी काम देते हैं। घड़ियाल भी कोई कम पूज्य पशु नहीं था (फलक २५, ड)। यह भयंकर जीव जो सिंधुनद और उसकी सहायक नदियों में निवास करता था अवश्य ही लोगों के लिये अकथनीय विपत्ति का कारण था। लोगों को इससे हर समय डर बना रहता था और इसकी शान्ति के लिये वे बलि चढ़ाते और पूजा करते थे। मोहेंजो-दड़ो की मुद्रा न० २ पर एक ओर स्वस्तिक जीवनतरु और लेख हैं और दूसरी ओर अपने मुँह में मछली पकड़े हुए एक मगर है (फलक २१ च)। यह मुद्राछाप अवश्य ही एक रक्षाकरण्ड (तावीज) था जिसमें स्वस्तिक और जीवनतरु को लक्ष्य करके उनसे प्रार्थना की गई है कि मगरों से उत्पन्न संकट का निवारण करें। इसके मुँह में जो मछली है वह सम्भवतः उसे बलिरूप से दी गई है जिस से वह अपने स्वाभाविक भोजन से संतुष्ट होकर मनुष्य और उसके पालतू पशुओं पर आक्रमण न करे। मोहेंजो-दड़ो की एक और मुद्राछाप[1] पर मगर मुँह में मछली पकड़े पशु-यात्रा में सम्मिलित होकर जीवनतरु के अभिवादन के लिये जा रहा है। हड़प्पा की बहुत-सी धनाकाकार मुद्राछापों पर एक ओर मगर और दूसरी ओर व्याघ्र शिकारियों का लेख जो सम्भवतः मगर को शान्त करने का मन्त्र है खुदा है[2]। हड़प्पा में इस प्रकार की मुद्राछापों की प्रचुरता का कारण सम्भवतः इस प्रान्त में मगरजनित उपद्रवों का आधिक्य ही था। आज भी रावी नदी के मगर अपने उपद्रवों के कारण बहुत प्रसिद्ध हैं। मोहेंजो-दड़ो की एक मुद्राछाप पर गैंडा एक कोष्ठ, जिसके अन्दर एक मछली और एक जलचर पक्षी बन्द हैं के बाहर खड़ा है (फलक २१ च)। यह निर्धारण करना कठिन है कि कोष्ठ का तात्पर्य उसके अन्तर्गत जन्तुओं को गैंडे के आक्रमणों से बचाना था अथवा गैंडा इस जलमग्न भूमि का जहाँ मछली और जलचर पक्षी बहुतायत से थे संरक्षक पशु समझा जाता था[3]। हड़प्पा की मुद्रा न० २२५ (फलक २५, प) के एक ओर चमकता हुआ प्रकाश और दूसरी ओर क्रॉस का चिह्न है। सम्भवतः क्रॉस का चिह्न स्वस्तिक का रूपान्तर था

१ मार्शल—वही भा० १ फलक ११६ मु० १४।

२ वत्स—वही भा० २, फलक ९४ मु० ११।

३ मार्शल—वही भा० १ फलक ११६ मु० १।

४ सम्भवतः इस मुद्रा में सूर्य को 'पक्षमय' रूप में चित्रित किया गया है।

और यहाँ यह कल्पना करना अनुचित नहीं कि शायद मेसोपोटेमिया की तरह सिन्धु प्रान्त में भी प्रकाश और उष्ण सूर्य के प्रतीक चिह्न थे ।

टोकरा—बहुत-सी सिन्धु-मुद्राओं पर कई पशुओं के आगे टोकरा रखा है (फलक २५, च) । ऐसे पशुओं में वन-वृषभ, गैंडा और बाघ वर्णनीय हैं । हाथी और भैंसे के आगे कभी टोकरा होता है और कभी नहीं । इसके विपरीत ककुद्मी बैल और छोटे सींगों वाले बैल के आगे टोकरा कभी नहीं देखा जाता । मार्शल का विचार है कि इन टोकरों का पालतू पशुओं के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है, क्योंकि वे पशु जिनके विषय में हम कह सकते हैं कि पालतू थे जैसे ककुद्मी वृषभ और छोटे सींगों वाला बैल बिना टोकरे के हैं । परन्तु बाघ गैंडा और वन-वृषभ जिन्हें मनुष्य ने कभी पालतू नहीं बनाया के आगे टोकरा पाया जाता है । इसी प्रकार हाथी और भैंसा जो पालतू एवं जंगली भी हो सकते हैं कभी टोकरे के सहित और कभी उसके बिना भी देखे जाते हैं । उनका सुझाव है कि पशु के सामने रखे हुए टोकरे में बलिरूप से कुछ चारा डाला जाता था और जंगली पशु जिनके सामने यह बलि रखी जाती थी ठीक उसी प्रकार पूज्य समझे जाते थे जैसे वेदिका वाला एकशृङ्ग । भेद केवल इतना था कि जहाँ वास्तविक पशुओं के आगे बलिरूप से खाद्य वस्तुएँ रखी जाती थीं वहाँ काल्पनिक एकशृङ्ग के सामने उसी भावना से वेदिका में बलिरूप से पेय बनाया जाता था ।

मार्शल महोदय की पूर्वोक्त कल्पना युक्तिसंगत है परन्तु क्योंकि यह बलि केवल जंगली पशुओं के आगे ही रखी जाती थी इसलिए ऐसा करने का वास्तविक अभिप्राय उनकी पूजा करना नहीं था अपितु उनमें आविष्ट भूत-प्रेतादि आसुरी शक्तियों को सन्तुष्ट करके उनकी हिंसता को दूर करना और उन्हें मनुष्य का उपकारक बनाना था । इस प्रसंग में मैं दो सिन्धु-मुद्राओं का प्रमाण प्रस्तुत करता हूँ । इनमें से एक मोहेंजो-दड़ो की मुद्रा संख्या १ है जिसके एक तरफ छोटे सींगों वाला बैल टोकरे पर मुँह डाले खड़ा है[1] । सामने एक मनुष्य उसकी ओर ताक रहा है । मनुष्य ने अपनी दाहिनी भुजा बैल की ओर फैलाई है और बाएँ हाथ से वह एक अनुपम विचाकार की ओर संकेत कर रहा है (फलक ११ म) । बैल टोकरे में मुँह डालने से कुछ हिचकिचा रहा है मानो वह इस बात में किसी षड्यन्त्र अथवा कूट चाल की शंका कर रहा हो । इस ऐन्द्रजालिक मनुष्य के दायें हाथ की मुद्रा ठीक उस मध की हस्तमुद्रा के समान है जो चौतरे पर बैठकर ग्राम-बालक को मन्त्र-मुग्ध करने की चेष्टा में प्रवृत्त दिखाई देता है । मोहेंजो-दड़ो की मुद्रा नं० १७० पर

[1] मैके—फर्दर एक्सकैवेशन्स खं० २, फलक १०१ ।

प्रदर्शित संकीर्ण देवता का हाथ भी इसी मुद्रा मे है?। पूर्वोक्त मुद्राछाप सं १ पर जिस चित्राक्षर की ओर ऐंद्रजालिक निर्देश कर रहा है वह फलक ११ ठ मे निर्दिष्ट दो चित्राक्षरो का योग है। इसमे पहला अक्षर प्रजनन-देवता का प्रतीक और दूसरा समृद्धि का उपहारक बहंगी वाला है (फलक ११ ठ)। संयुक्ताक्षर का तात्पर्य है—"समृद्धि का देने वाला परमदेवता"। एक हाथ से चित्राक्षर को छू कर और दूसरे हाथ को तांत्रिक मुद्रा में बैल की ओर तान कर ऐंद्रजालिक मानो इस मन्त्र का उच्चारण कर रहा है— 'परम देवता की कृपा से तुम सौम्य बन जाओ और साथ ही मेरे लिए सौभाग्य और समृद्धि का कारण बनो। इस चित्र से स्पष्ट प्रतीत होता है कि जङ्गली पशु को सौम्य तथा उपकारक बनाने के लिए पुरोहित परमदेवता की सहायता का आवाहन कर रहा है। इस छाप के दूसरे भाग पर दो और जंगली पशु—भैंसा और बाघ-सम्भवतः ऐंद्रजालिक के हाथ से उसी प्रकार की मन्त्र-क्रिया के लिए अपनी बारी की प्रतीक्षा कर रहे हैं। हड़प्पा की मुद्राछाप सं १ ६ के एक ओर एक मनुष्य टोकरा उठाए बाघ के सामने खड़ा है मानो उसके आगे बलि रखने के लिए जा रहा हो[१]। इसके दूसरी ओर पांच स्वस्तिक और कुछ चित्राक्षर है (फलक ११ ब)। स्वस्तिक का तात्पर्य मुद्राछाप को धारण करने वाले के लिए सौभाग्य और समृद्धि लाना था। यह मुद्राछाप स्पष्टतः एक मन्त्र (तावीज) था जिसका अभिप्राय व्याघ्रभय का निवारण करना था। ऐसे मन्त्र इस बात के प्रतीक है कि मोहजो-दड़ो और हड़प्पा के चारो ओर हिंस्र जन्तुओं से सङ्कुल सघन वन थे। इन जन्तुओं से बचने के लिए लोग अन्ध विश्वास के वशीभूत हो मन्त्र तन्त्र आदि की शरण लेते थे। इन चित्रों से यह निष्कर्ष नही निकालना चाहिए कि जंगली पशुओं को वस्तुतः बन्दी बना कर उनके आगे भोजन की बलि रखी जाती थी। ये चित्र काल्पनिक और प्रयास है और इन पशुओ से सम्भूत भय के निवारण के लिए केवल मन्त्ररूप से प्रयोग मे लाए जाते थे। ऐसे मन्त्रों से यह अनुमान लगाना तो कठिन नहीं कि सिन्धु-निवासियों के हृदय हिंस्र पशुओं के आतंक से कहां तक भयाक्रान्त थे और इसके फलस्वरूप वे अनिष्ट आसुरी शक्तियों के शमन के लिए किस प्रकार यत्नशील रहते थे।

मोहेंजो-दड़ो की कुछ मुद्राओ पर बड़े रोचक दृश्य है जिनका यहां वर्णन करना आवश्यक है। मुद्रा सं २७९ पर एक मनुष्य तथा भैंसे के बीच द्वन्द्व युद्ध हो रहा है (फलक २० ४)[२]। मनुष्य का एक पांव भैंसे की थूथनी पर और दूसरा भूमि पर

१ मैके—फर्दर एक्सकेवेशन्स भ २ फलक ८६, १४० ।
२ वत्स—एक्सकेवेशन्स हड़प्पा भ २, फलक ९१ ।
३ मैके—फर्दर एक्सकेवेशन्स भ २ फलक ८८ ।

जमा है। एक हाथ से सींग पकड़ कर दूसरे हाथ से वह इसकी पीठ में भाला भोंक रहा है। भैंसे के गले के नीचे एक चित्राक्षर है। यह दृश्य या तो जंगली भैंसे के शिकार का है अथवा पशुबलि का। सम्भव है कि महिषमुख देवता से सम्बद्ध होने के कारण भैंसा पशुरूप में कोई देवयोनि का जीव हो जो भरकम आक्रमणकारी दानव से युद्ध कर रहा हो। इस सम्भावना का समर्थन मुद्राछाप सं० ११ की (फलक २८ ख) से होता है जहाँ प्रतिद्वन्द्वी मनुष्य से लड़ने वाले बैल की रक्षा एक नाग कर रहा है। बैल के पीछे नाग के होने का यह भी तात्पर्य हो सकता है कि सम्भवतः बैल पशुरूप में एक नाग उपदेवता हो।

मुद्रा सं० २१ पर एक विचित्र उत्सव-दृश्य है। इसमें कृत्रिम चोटियाँ पहने हुए पाँच मनुष्य जो सम्भवतः देव-पुरोहित हैं एक भैंसे पर से कूदते हुए दिखलाए गए हैं। इनमें से दो मनुष्य सिर के बल भूमि पर गिर पड़े हैं परन्तु शेष तीन अभी आकाश में ही हैं (फलक २७ ख)[1]। ऊपर के बायें कोने पर जो मनुष्य छलांग भर रहा है उसका सिर नीचे की ओर और धड़ दोहरा हो गया है। इसने बैल को लाँघ लिया है और अब भूमि पर गिरने ही वाला है। भैंसे के सींगों में उलझे हुए नटिये की कृत्रिम चोटी पशु की पीठ पर पीछे की ओर उड़ रही है और उस दिशा की ओर संकेत करती है जिधर से नटिये ने छलांग लगाई है। भैंसे पर से कूदने की क्रिया महिषमुख देवता से सम्बद्ध किसी उत्सव का अंग मालूम होती है। मुद्रा सं० १२ (फलक ख)[2] पर भी इसी प्रकार का दृश्य बना है। यहाँ नीचे के बायें कोने पर एक भैंसा बना है। इसके सामने एक खिलाड़ी एक टाँग के बल खड़ा भुजाओं को सामने सीधा ताने हुए है। मनुष्य की विलक्षण मुद्रा से प्रतीत होता है कि वह छलांग लगाकर भैंसे को लाँघने ही वाला है। इसके अतिरिक्त तीन और नटिये पशु को लाँघने के प्रयत्न में आकाश में उड़ते दिखाई दे रहे हैं। मुद्रा के दायें कोने पर 'पेड़मूषम' के आकार का चिह्न है जो कमेरल नगर नाम के सुमेरियन अक्षरों में से एक है। यद्यपि इस मुद्राछाप पर चित्र अस्पष्ट है तथापि प्रतीत होता है कि यह 'नाच का दृश्य' नहीं जैसा मैके महोदय ने इसे समझा है किन्तु भैंसे को लाँघने की धार्मिक क्रीड़ा का दृश्य है। इसी प्रकार का दृश्य मुद्रा सं० ८ (फलक ९ ख) पर पाया जाता है। इसमें एक पुरोहित अथवा बाजार भैंसे के स्थान छोटे सींगों वाले

१ मैके—फर्दर एक्सकैवेशन्स भा० २ फलक ८२।
२ मैके—फर्दर एक्सकैवेशन्स भा० २ फलक ८६ ५१।
३ मैके—फर्दर एक्सकैवेशन्स भा० २ फलक ८१।
४ मैके—फर्दर एक्सकैवेशन्स भा० १, फलक १ १।

सांड को फोड़ रहा है। इस उत्सव का धर्ममय महिषमुख देवता की अध्यक्षता में बीजनगर के सामने सम्पन्न हो रहा है।

इनके अतिरिक्त बहुत से छोटे पशु और पक्षी भी सिंधु-मुद्राओं पर उत्कीर्ण अथवा खिलौनों के रूप में मिले हैं। पशुओं में मेढ़ा, सूअर, कुत्ता, बन्दर, खरगोश, गिलहरी, बिलाव आदि और पक्षियों में सुग्गा, चील, मुर्गे, मोर, कबूतर, उल्लू[1] आदि पाए जाते हैं। मेढ़े और गिलहरियों की मूर्तियों के गलों में छेद हैं जिससे मालूम होता है कि इन्हें भी तावीजों की तरह शरीर पर धारण करते थे।

इस कल्पना की पुष्टि में पर्याप्त प्रमाण हैं कि मेसोपोटेमिया के साथ सिंधु प्रान्त का सम्पर्क 'उरुक' काल के प्रारम्भ से लेकर ईसापूर्व दूसरी सहस्राब्दी के प्रथम चरण तक रहा। इसमें भी सन्देह नहीं कि इस दीर्घकाल में दोनों देशों ने कला और धर्म के विषय में एक दूसरे को प्रभावित किया। गिलगमेश कथानक के विषय में सुमेर तथा सिंधु-सभ्यता में परस्पर सादृश्य की चर्चा पहले की जा चुकी है। मार्शल के मत में 'हम इस सम्भावना की उपेक्षा नहीं कर सकते कि गिलगेमिश और 'ई-बनी' आदि वीरों की प्रथम कल्पना सिंधु के काठे में हुई और उत्तरकाल में सुमेरियन लोगों ने इन्हें अपने कथानकों में समाविष्ट कर लिया। सिंधु-सभ्यता तथा पश्चिमी एशिया में मनुष्य के सिर पर सींगों का होना देवता का लक्षण समझा जाता था। दूसरे प्रमाण जिनसे पता लगता है कि प्राक् राजावली तथा प्रारम्भिक राजावली काल में भी सिंध प्रान्त और मेसोपोटेमिया में परस्पर सम्पर्क था, पहले विस्तारशः वर्णन किए जा चुके हैं।

मार्शल महोदय का सिद्धान्त है कि 'सिंधुकालीन धर्म हिन्दूधर्म का पितृस्थानीय था। उनके मत में उत्तरकालीन हिन्दूधर्म की बहुत-सी विलक्षणताएँ जैसे शिव, मातृदेवी, शक्ति, कृष्ण, नाग, यक्ष आदि की उपासना, पशु, वृक्ष, लिंग आदि की पूजा, योग मार्ग, जीव का आवागमन आदि-आदि बातें वैदिक साहित्य में नहीं पाई जाती। भारत की आदिवासी जातियों के साथ दीर्घकाल तक सम्पर्क रहने के कारण भारतीय आर्य-जाति ने ये सब सांस्कृतिक विशिष्टताएँ उनसे सीखीं और अपने साहित्य एवं धर्म-पद्धति में समाविष्ट कर लीं'।

इस विषय में उनसे मेरा मतभेद है। जब तक भारत में आर्य-जाति के प्रवेशकाल का ठीक पता नहीं लगता उनके पूर्वोक्त सिद्धान्त का अनुमोदन नहीं किया जा सकता। इस प्रश्न पर भारत के पुरातत्त्ववेत्ताओं में इतना मतभेद है कि आर्य

१ मेकेंजी महोदय के अनुसार मेसोपोटेमिया में उल्लू और कबूतर यम के दूत समझे जाते थे।

जाति के प्रथम भारत-प्रवेश का यथार्थ कालनिर्णय करना असम्भव है। हड़प्पा की संक्षिप्त खुदाई के आधार पर डा. व्हीलर का इस निर्णय पर पहुँचना कि आर्य-जाति ईसापूर्व १५   के लगभग भारत में आई भ्रममूलक होने से प्रतीत होते हैं। दूसरी विचारणीय बात यह है कि अभी तक इस सम्बन्ध में यह मालूम नहीं हो सका है कि सिंधु-सभ्यता के निर्माता लोग किस जाति के थे। तत्कालीन साहित्य के अस्तित्वाभाव के कारण हमें यह भी मालूम नहीं कि इन लोगों के दार्शनिक एवं वैज्ञानिक विचार कैसे थे।

८

सिन्धु-सभ्यता और क्रीट द्वीप के बीच प्राचीन सांस्कृतिक सम्बन्ध

वर्तमान सदी के पहले चरण में सिंधु-सभ्यता की उपलब्धि ने पुरातत्त्व जगत् में जिस नए युग का सूत्रपात किया उसने न केवल भारत के प्राचीन इतिहास की रूपरेखा ही बदल दी अपितु प्रागैतिहासिक भारत तथा पश्चिमी एशिया की समकालीन संस्कृतियों के तुलनात्मक अध्ययन की नींव भी रख दी। अब यह निश्शंक कहा जा सकता है कि ईसापूर्व चौथी सहस्राब्दी के मध्य से लेकर दूसरी सहस्राब्दी के पहले पाद तक सिंधु प्रान्त तथा सुमेर एलम और ईरान में परस्पर घनिष्ठ सांस्कृतिक सम्बन्ध रहा। गवेषणापरायण प्रो. चाइल्ड ने अपनी पुस्तक में ठीक ही लिखा है कि मध्यपूर्व की प्रागैतिहासिक सभ्यताओं पर सिंधु-सभ्यता की सांस्कृतिक छाप अपेक्षाकृत बहुत गहरी लगी है। उन देशों में जो भारतीय पुराण वस्तुएँ मिली उनकी संख्या भारत में प्राप्त विदेशीय वस्तुओं की अपेक्षा बहुत बढ़ चढ़ कर है। ईसापूर्व तीसरी सहस्राब्दी के मध्य में लिपि एवं कुम्भकलाओं के विषय में भारत सुमेर तथा एलम से न केवल बहुत उन्नत ही था अपितु अपनी उत्कृष्ट कलाओं की विशिष्टता के कारण पड़ोसी देशों को अपनी कलाकृतियों के मारफत भी लगातार भेजता रहा।

वृष द्वन्द्व-युद्ध की क्रीड़ाएँ—प्रकरण अब यहाँ सिंधु-सभ्यता तथा क्रीट द्वीप की प्रागैतिहासिक मिनोअन सभ्यता के बीच एक महत्त्वपूर्ण सांस्कृतिक सम्बन्ध पर प्रकाश डालना आवश्यक है। इस सम्बन्ध की खोज का श्रेय डाक्टर सी. एल. फाब्री का है जिन्होंने सन् १९३५ में इस विषय पर पहला लेख भारतीय पुरातत्त्व-विभाग की १९३४-३५ की वार्षिक रिपोर्ट में प्रकाशित किया था। उनके इस लेख का शीर्षक है— "क्रीट की वृषद्वन्द्व युद्ध क्रीड़ाएँ और सिंधु-सभ्यता में वृष-बलिदान।" साधारणतः यद्यपि मेरा उनसे ऐकमत्य है तथापि कतिपय-बिन्दुओं तथा महत्त्वपूर्ण अन्तिम निर्णय में मेरा दृष्टिकोण उनसे बहुत भिन्न है। इस समालोचना की आधारभूत दो खड़िया पत्थर की मुद्राएँ और तीन मिट्टी की मुद्राछापें हैं जो २९ वर्ष हुए मोहेंजो-दड़ो की खुदाई में प्राप्त हुई थीं। इन पर अंकित चित्रों तथा मिनोअन सभ्यता के उदाहरणों से परस्पर तुलना के लिए डा. फाब्री मिनोअन महल के कतिपय भित्ति-चित्रों उत्कीर्ण मूर्तियों तथा मुद्राछापों की प्रतिकृतियों का उल्लेख करते हैं।

फलक २६ सिंधु-युग तथा मिनोअन क्रीट द्वीप की वृषोत्सव क्रीड़ाएँ

ईसापूर्व दूसरी सहस्राब्दी अर्थात् आज से प्राय १५ वर्ष पहले मिनोअन काल के क्रीट द्वीप में मातृदेवी के प्रसाद के लिए कुछ धार्मिक क्रीडाएँ खेली जाती थी जिनमें युवक और युवतियाँ भाग लेते थे। अपने प्राणो की बाजी लगाकर ये तरुण खिलाड़ी रगभूमि मे कूदते हुए मदमत्त बलिष्ठ बैल से मुठभेड करते और सीगों को पकड उलटी छलाँग लगाकर उस पर से फाँद जाते थे। अन्त मे खेलो की समाप्ति पर उसे मातृदेवी के सामने बलि चढा देते थे। पूर्वोक्त सिंधु-मुद्राओ का उल्लेख करते हुए डा फाब्री लिखते हैं—

क्रीट द्वीप की वृषोत्सव क्रीडाओं की तरह सिंधु प्रान्त मे भी इन क्रीडाओं के दो भाग थे। प्रथम वृषोत्सव और दूसरा मातृदेवी के आयतन के सामने यज्ञवृषभ का बलिदान।

डा फाब्री ने क्रीट द्वीप की वृषोत्सव क्रीडाओ का जो विवरण दिया है उससे मेरा उनसे ऐकमत्य है। परन्तु जहाँ तक सिंधु-मुद्राओ के विवरण का सम्बन्ध है मेरा उनसे मौलिक मतभेद है। फलक २७ १ मे दिए हुए चित्र के वर्णन प्रसग मे वे लिखते हैं—

"बाएँ हाथ वाली मुद्रा पर अकित चित्र दो भागो म विभक्त किया जा सकता है। चित्र का बायाँ भाग जिसमे बस चौतरा यूप और पत्ती दिखलाए गए हैं बहुत ही महत्त्व रखता है। इससे मेरी तुलना का असदिग्ध समर्थन होता है। मुद्रा के दक्षिणार्ध मे एक बैल सिर नवाए आक्रमण कर रहा है। यद्यपि इस मुद्रा का कुछ अश टूट गया है फिर भी नटिये की भुजा और हाथ बैल के सीगो को ठीक उसी प्रकार पकडने को तैयार है जैसे फलक २९ क मे दिए हुए चित्र मे क्रीट द्वीप की तरुणी पकड रही है। इसी प्रकार एक दूसरा नटिया उलटी छलाँग लगाकर कुशलता से हाथो के सहारे बैल की पीठ पर इसलिए उतर रहा है कि वहाँ क्षण भर विश्राम लेकर दूसरी छलाँग मे रगभूमि मे कूद सके। यह नटिया सब प्रकार से मिनोअन काल के क्रीट के नटिये के समान है।

इस तुलना मे आपत्ति यह है कि पूर्वोक्त सिंधु मुद्रा तथा क्रीट के चित्रो मे जो सादृश्य दिखलाया गया है वह अधूरा-सा है। क्रीट के चित्रो मे एक भी ऐसा उदाहरण नही जहाँ ये धार्मिक बैल देववृक्ष के सामने खेले जा रहे हों। मैंने इस सिंधु मुद्रा (फलक २७ १) का सूक्ष्म दृष्टि से परीक्षण किया है। मुझे इसमे सन्देह है कि बैल के सीगो पर जो वस्तु दिखाई देती है वह मनुष्य का हाथ है। दूसरी आपत्ति यह है कि मिनोअन चित्रो में नटिये स्पष्ट रूप से बैल की पीठ पर उलटे खडे दिखाए गए हैं परन्तु सिंधु मुद्राओं पर इस प्रकार का अभिनय नही पाया जाता। इनमें नटिये पशु के सामने अथवा पिछवाडे से छलाँग भर कर उसकी पीठ को छुए बिना दूसरी ओर

1 2

3

4

5

6

फलक १७

भूमि पर उतरने के प्रयत्न में दिखाई देते हैं। फलक २१ न के दक्षिणार्ध में नटिया बैल के सामने से कूद कर एक समकक्ष छलांग में बैल को फांद रहा है। परन्तु फलक २७ ५ के चित्र में जहाँ बैल के स्थान पर भैंसा बना है नटिये पशु के पिछवाड़े से कूदकर उलटी छलांगें भर रहे हैं। इसका समर्थन पशु के इर्द-गिर्द क्रिया शील निसादियों की गतिविधि तथा पाँचवें नटिये की उछली हुई चोटी की दिशा से होता है, जो भैंस के सींगों में अटक गई है।

डा पार्डी पुन लिखते हैं—

'प्रस्तुत चित्र में अंकित खिलाड़ी स्त्रियाँ प्रतीत होती हैं यद्यपि चित्र न ख (फलक २) में प्रदर्शित खिलाड़ी स्पष्ट रूप से पुरुष हैं।

यथार्थ में पूर्वोक्त सिन्धु-मुद्रा पर अंकित मूर्तियाँ इतनी अस्पष्ट हैं कि इनमें स्त्री अथवा पुरुष की विवेचना करना असम्भव है। भैंस के सींगों में अटका हुआ नटिया वहाँ से छुटकारा पाने के लिए भरसक प्रयत्न कर रहा है। मिनोयन निसादियों की तरह जानबूझ कर पशु के सींगों को नहीं पकड़ रहा। न ही भैंस के आगे भूमि पर गिरे हुए दो नटियों की समानता "वाफियो के सुवर्णपात्र" पर अंकित मानव-मूर्तियों से की जा सकती है क्योंकि वहाँ जो चित्र दिखलाया गया है वह जंगली बैलों को दाम में फाँसने का है जिसका मातृदेवी से कोई सम्बन्ध नहीं है।

क्रीट में वृषभ का बलिदान जैसा पहले निर्देश किया गया है क्रीट में वृषोत्सव क्रीड़ाओं की परिसमाप्ति मातृदेवी के उपलक्ष में बैल के बलिदान से होती थी। इसकी पुष्टि में डाक्टर पार्डी फलक २९ न में चित्र का उल्लेख करते हैं जो कि सर आर्थर ईवान्स की पुस्तक में प्रकाशित मिनोयन महल के भित्तिचित्र की रूपरेखा है। इसमें बलिदान किए हुए बैल के धड़ को एक काष्ठ पीठ पर रखा गया है और एक पुजारिन दो अनुचरों के साथ देवी के आयतन देवगृह के सामने बलि की भेंट कर रही है। देवगृह के सामने एक यूप है जिसकी चोटी पर देवी का प्रतीक दो-मुँहा कुल्हाड़ा और विहग बनाए गये हैं।

डा पार्डी का दृढ़ विश्वास है कि क्रीटद्वीप की तरह सिन्धु प्रान्त में भी पूर्वोक्त वृषोत्सव क्रीड़ा का उपसंहार बैल अथवा भैंसे के बलिदान में ही होता था। इस सम्बन्ध में वे तीन सिन्धुमुद्राओं के साक्ष्य का प्रमाण उपस्थित करते हैं। इन मुद्राओं की प्रतिकृतियाँ फलक म तथा फलक २७ ४ में अंकित हैं। यह ठीक है कि इन मुद्राओं में एक मनुष्य भाले से बैल अथवा भैंसे पर आक्रमण कर रहा है। *परन्तु इसमें ऐसा कोई संकेत नहीं जिससे यह अनुमान लगाया जा सके कि पशु का* वध मातृदेवी के उपलक्ष में किया जा रहा है। हो सकता है कि यह किसी योद्धा और पशु के बीच द्वन्द्वयुद्ध का दृश्य हो। मुद्रा नं ग (फलक २) में एक शमीवृक्ष

अवश्य है परन्तु इसे मातृदेवी का प्रतीक समझना सम्भव नहीं क्योंकि सिन्धु-मुद्राओं पर बने हुए चित्रों में इस वृक्ष का कहीं भी उक्त देवता से सम्बन्ध सिद्ध नहीं होता।

देवद्रुम कथानक—हाँ यह बात सुविदित है कि सुमेरियन कथानक की तरह सिन्धु-सभ्यता में भी एक देवद्रुम कथानक था। प्राचीन सिन्धु-निवासी पीपल और शमी को देवद्रुम मानकर उनकी पूजा करते थे। इनमें शमी 'जीवनतरु' और पीपल 'ज्ञानतरु' अथवा 'सृष्टितरु' समझा जाता था। मुद्राङ्कित चित्रों से यह भी प्रतीत होता है कि देवताओं से जीवनतरु को छीनने के लिए दानव सदा प्रयत्नशील रहते थे। देवताओं के समान वे भी इस देवद्रुम की शाखाओं को अपने सिरों पर धारण करना चाहते थे जिससे वे मृत्यु और पराक्रम पर विजय प्राप्त कर सकें। सिन्धु-मुद्राओं पर ऐसे अनेक दृश्य हैं जिनमें व्याघ्र-दानव जीवनतरु की शाखा चुराने के लिए बार-बार आता है परन्तु देवद्रुम का दिव्य संरक्षक उसकी पाप-वासना को सफल नहीं होने देता। इस संरक्षक के अतिरिक्त देवद्रुम के और भी कई एक पहरए थे। इनमें नर-वृषभ नरमुख अजशीर्ष जन्तु और तीन सिर वाला पशु वर्णनीय हैं। सम्भव है कि पूर्वोक्त दो मुद्राओं (फलक २ घ तथा फलक २७ ४) पर जहाँ बैल अथवा भैंसे पर मनुष्य भाला चला रहा है पशु जीवनतरु का संरक्षक ही हो और प्रतिद्वन्द्वी मनुष्य नररूप में दानव हो।

नागदेवता—इस सम्भावना का आंशिक समर्थन इस बात से भी होता है कि एक सिन्धु-मुद्रा पर अभिनवर मनुष्य से युद्ध करने वाले बैल के पीछे नाग खड़ा है (फलक २ घ)। डा काशी के विचार में यह नाग मातृदेवी का प्रतीक है। परन्तु यह सम्भव नहीं क्योंकि सिन्धु-मुद्राओं पर इस जन्तु का देवी के साथ साहचर्य कहीं दिखाई नहीं देता। इसके विपरीत यह एक स्वतन्त्र नाग देवता है जैसा कि दो सिन्धु-मुद्राओं से प्रतीत होता है (फलक १६, च)। इन मुद्राओं में महिषमुख प्रधान देवता के पार्श्ववर्ती दो नररूप उपदेवताओं के पीछे एक-एक नाग खड़ा है। एक और सिन्धु-मुद्रा पर नाग काष्ठपीठ पर सिर रखे देवद्रुम की रक्षा कर रहा है (फलक २ ड)। पूर्वोक्त साक्ष्य के आधार पर कहा जा सकता है कि चित्र न च (फलक २) में मनुष्य से युद्ध करने वाला बैल सम्भवत पशुरूप में कोई देवता ही है जो देवद्रुम की रक्षा के लिए आक्रमणकारी किसी नररूप दानव से लड़ रहा है। मोहेंजो-दड़ो की मुद्रा न डी के ४६४० (फलक २ ख १) पर जो तीन मनुष्य वृक्ष की ओर मैं खड़े हैं वे डा काशी के मत में तीन स्त्रियाँ हैं, जो फलक २६, च पर बने हुए वृषभ के समान बैल की बलि देने के लिए समय की प्रतीक्षा कर रही हैं। परन्तु उनका यह विचार कल्पनामूलक है। ऐसा कोई लक्षण नहीं जिससे यह सिद्ध हो सके कि वे स्त्रियाँ हैं, और पुरुष नहीं। सम्भव है कि वे नररूप दानव देवद्रुम की शाखाएँ

चुराने आए हों जबकि वृक्ष का संरक्षक बैल एक और दानव से युद्ध में व्यस्त था। डा० मेके की पुस्तक में प्रकाशित इस मुद्राछाप के छाया-चित्र में ऐसा प्रतीत होता है कि तीन मानव प्राकृतियों में से पहली जो वृक्ष के साथ खड़ी है, वृक्ष की ओर हाथ उठाए हुए है। शेष दो मानव-आकृतियाँ शायद शिकारी ही हों।

फलक २ ख की व्याख्या के प्रसंग में डा० प्राणी लिखते हैं कि इसके दक्षिणार्ध में जो दृश्य है उससे उनके इस सिद्धान्त की सुतरां पुष्टि होती है कि क्रीट द्वीप की वृषोत्सव क्रीड़ाएँ सिंधु-सभ्यता की क्रीड़ाओं का पूर्वरूप हैं। इससे वे यह सिद्ध करना चाहते हैं कि आज से ४ वर्ष पहले सिंधु-निवासियों ने इन खेलों को क्रीटद्वीप की मिनोअन सभ्यता से सीखा था। वे लिखते हैं—

"फलक २ ख में प्रदर्शित सिंधु-मुद्रा के चित्र में मिनोअन क्रीड़ाओं का प्रत्येक विवरण स्थिर रूप से प्रतिबिम्बित है। क्रीट के देवगृह की तरह यहाँ भी देवगृह प्राकार-परिवेष्ठित है। प्राकार के बाहर चौखटे से उभरता हुआ एक यूप भी है जिसके शिखर पर दोमुँहा कुल्हाड़ा है जो क्रीट में मातृदेवी के मन्दिरों में प्रायः पाया जाता है। सबसे महत्त्व की बात यह है कि मातृदेवी का प्रिय कपोत उसके प्रतीक रूप देवगृह के सामने यूप के शिखर पर बैठा है।"

यूप शिखर पर महिषमुण्ड—सिंधु-मुद्राओं के सूक्ष्म परीक्षण के अनन्तर मैं इस निर्णय पर पहुँच सका हूँ कि इनमें अंकित दृश्यों के मार्मिक विवरण डा० प्राणी के उक्त सिद्धान्त का समर्थन नहीं करते। यह ठीक है कि देवगृह प्राकार से घिरा है और प्राकार के प्रवेश-द्वार के साथ एक यूप भी है। परन्तु यूप के शिखर पर न तो दिव्य कपोत है और न कोई ऐसा लक्षण ही जो मातृदेवी का सूचक समझा जा सके। वस्तुतः यूप के शिखर पर भैंसे का पार्श्ववर्ती (एकचक्षु) सिर है जिसके सींगों में से अश्वत्थ-निवासी परमदेवता के प्रतीक पीपल का शाखा-शिखर उभर रहा है। शिखर से मण्डित भैंस का सिर उस महिषमुण्ड देवता के सिर का अनुकरण है जिसका सर्वोत्तम रूप मोहनजो-दड़ो की मुद्रा न० ४२ (फलक १८ क) पर प्रदर्शित है। इस महिषमुण्ड देवता की अध्यक्षता में एक पुरोहित वृषोत्सव धार्मिक खेल का अभिनय कर रहा है। चित्र में प्रमुखतम विषय यही देवगृह है जिसकी रक्षा तथा अर्चना करना देवता भी अपना अहोभाग्य समझते थे। परन्तु चित्रगत विषय में ऐसा कोई संकेत नहीं जिससे मान लिया जावे कि क्रीट की तरह सिंधु-सभ्यता में भी देवगृह मातृदेवता का प्रतीक था। इसके विपरीत देवगृह और महिषमुण्ड देवता के साहचर्य से तो यही प्रतीत होता है कि यह यूप इसी देवता से सम्बद्ध था ठीक उसी प्रकार जैसे क्रीट में यूपों के शिखर पर बना हुआ दोमुँहा कुल्हाड़ा और दिव्य कपोत मातृदेवी के प्रतीक थे।

फलक २ सिंधु-युग तथा मिनोयन क्रीट द्वीप की वृषोत्सव क्रीड़ाएँ

उपसंहार—यद्यपि सिन्धु तथा क्रीट के चित्रों में सादृश्य सर्वांगीण नहीं है फिर भी दोनों देशों की वृषात्मक क्रीडाओं में परस्पर बहुत समानता है। इसमें सन्देह नहीं कि ये क्रीडाएँ किसी धार्मिक उद्देश्य से एक ही प्रकार से मनाई जाती थीं पर यह मान लेना कठिन है कि अति दूरस्थ दो देशों में इन समकालीन क्रीडाओं का प्रादुर्भाव स्वतन्त्र रूप से हुआ होगा। वस्तुतः, इनका प्रादुर्भाव चाहे किसी प्रकार से भी हुआ हो प्रश्न यह है कि क्या जैसा कि डा॰ फाबरी समझती हैं इन क्रीडाओं को भारत ने क्रीट से लिया अथवा इसके विपरीत क्रीट ने उन्हें भारत से प्राप्त किया। यदि उनके मत को अपनाया जाए तो इसमें कालमान की विषमता का समन्वय करना अतीव कठिन हो जायगा।

वृषोन्मत्त क्रीडाओं का प्राचीनतम प्रमाण जो क्रीट में मिलता है वह वैसी ही मृण्मय मूर्तियाँ हैं जिनके सींगों में साथ छोटी-छोटी मनुष्य आकृतियाँ चिपकी हैं (फलक २८ क ख)। सर आर्थर ईवान्स के मतानुसार ये उन वृषोन्मत्त क्रीडाओं का पूर्वरूप हैं जो उत्तरकालीन मिनोअन युग में लोकप्रिय हो गई थीं। ये वृषमूर्तियाँ मध्य-मिनोअन युग (२१ ०-१६ ई॰ पू॰) काल की हैं। इन क्रीडाओं के सम्बन्ध में क्रीट में इससे पहले का कोई प्रमाण नहीं मिलता। परन्तु इस युग में ये क्रीडाएँ गोपाल-युवकों की केवल समक्रिया मात्र थी क्योंकि ये युवक खुले मैदानों में जंगली बैलों से मुठभेड़ करके उन्हें पकड़ते थे। अभी वे मातृदेवी के उद्देश्य से धार्मिक खेलों के रूप में विकसित नहीं हुई थीं। ये केवल यही किन्तु मध्य मिनोअन तृतीय युग के पूर्वार्ध तक भी जंगली बैलों से हाथापाई करना गोपाल-युवकों की समक्रिया मात्र ही था। इसका समर्थन ईवान्स की पुस्तक में प्रकाशित चित्र सं॰ २७४ से हो जाता है। परन्तु पूर्वोक्त युग के उत्तरार्ध में इन क्रीडाओं का स्वरूप क्रमशः बदलने लगा और अन्ततः उत्तर मिनोअन युग में रंगभूमि की धार्मिक क्रीडाओं में परिणत हो गया। सर आर्थर ईवान्स की गणना के अनुसार मध्य मिनोअन तृतीय और उत्तर-मिनोअन युगों का कालमान यथाक्रम ईसापूर्व १७५ १५ और १५ १० है। परन्तु डा॰ फाबरी के अनुसार मध्य-मिनोअन और उत्तर-मिनोअन युगों का संयुक्त कालमान २५ ०-१५ ई॰ पू॰ है जो ईवान्स के कालमान से नितान्त भिन्न होने के कारण सर्वथा त्याज्य है। ईवान्स के मत में पूर्वोक्त दोनों युगों का संयुक्त कालमान २१ १२ ई॰ पू॰ है। अब क्योंकि वृषोन्मत्त और वृष-समक्रिया क्रीडाओं का धार्मिक स्वरूप सर्वप्रथम मध्य-मिनोअन तृतीय युग में उपलब्ध होता है और तदनन्तर उत्तर मिनोअन युग के अन्त तक निरन्तर चलता है इसलिए इन खेलों का यथार्थ काल ईसापूर्व १७५ १० है न कि ईसापूर्व २५ १२ जैसा कि डा॰ फाबरी ने दिया है।

वृषोत्सव क्रीडाओं का जन्मस्थान भारत—वृषोत्सव क्रीडाओं के प्रादुर्भाव और प्रचार के विषय में क्रीट और सिन्धु-सभ्यता की तुलना करने के लिए ईवान्स के कालमान का अनुसरण करना आवश्यक है। इन क्रीडाओं के विषय में यदि क्रीट ने सिन्धु देश पर अपना प्रभाव डाला था तो यह ईसापूर्व १७५ १२ की कालसीमा के अन्तर ही हुआ होगा। परन्तु इस काल में सिन्धु-सभ्यता का अन्त हो चुका था। दूसरी आपत्ति यह है कि अपने सिद्धान्त की पुष्टि में डा॰ फ्लावी ने जिन सिन्धु-मुद्राओं का प्रमाण दिया है वे सब बहुत प्राचीन युग से सम्बन्ध रखती हैं और सिद्ध करती हैं कि सिन्धु के काँठे में इन धार्मिक क्रीडाओं का अभिनय मिनोअन काल से पहले भी होता था। उदाहरणतः फलक २७ १ ५ में प्रदर्शित सिन्धु-मुद्राएँ मोहेंजो-दड़ो के निम्नस्तरों से मिलने के कारण ईसापूर्व चौथी सहस्राब्दी के अन्तकाल की हैं। शेष तीन मुद्राएँ (फलक २५ च १ फलक ९ च) जो मोहेंजो-दड़ो के ऊपर के स्तरों से उपलब्ध हुई थी ईसापूर्व तीसरी सहस्राब्दी के मध्यकाल की हैं। वृषोत्सव क्रीडाओं के काल का निर्धारण करने के लिए फलक २७ १ ५ वाली मुद्राएँ बहुत महत्त्वपूर्ण हैं। इन मुद्राओं में पशु पर से कूदते हुए मनुष्य अपने सिर पर लम्बी कृत्रिम चोटियाँ पहन रहे हैं जो केवल देवताओं दिव्य वीरों और देव-पुरोहितों का ही पहनावा था। महिषमुण्ड देवता की नायकत्व अध्यक्षता में देवाङ्गन के सामने पुरोहितों द्वारा इन खेलों के अभिनय से स्पष्ट प्रतीत होता है कि ईसापूर्व चौथी सहस्राब्दी के अन्त में वृषोत्सव क्रीडाएँ सिन्धु-देश में धार्मिक स्वरूप धारण कर चुकी थी। भारत में इन खेलों की इतनी प्राचीनता स्वयं ही इस प्रश्न का स्पष्ट उत्तर है कि इस आदान प्रदान में भारत क्रीट द्वीप का ऋणी था अथवा क्रीट द्वीप भारत का।

दूसरी विचारणीय बात यह है कि मिनोअन-काल का क्रीट इन क्रीडाओं का जन्म-स्थान नहीं था। सर आर्थर ईवान्स ने स्पष्ट लिखा है कि वृषोत्सव क्रीडा का सर्वप्रथम प्रमाण ईसापूर्व २४ वर्ष पुरानी कैपेडोशिया की एक शलाका-मुद्रा पर मिला है और उनका यह भी कथन है कि क्रीट के वृषाकार अर्घपात्रों का जन्म भी मेसोपोटेमिया में हुआ था। इससे पता चलता है कि मिनोअन सभ्यता ने इन क्रीडाओं के आदर्श और उदाहरणों को एशिया महाद्वीप से प्राप्त किया था।

क्रीट की मिनोअन सभ्यता में विदेशीय अंश—क्रीट द्वीप न केवल इन धार्मिक क्रीडाओं के विषय में ही एशिया का ऋणी था अपितु और भी अनेक बातों में। इस द्वीप के आदि-निवासियों में लघु-एशिया की आर्मीनियन जाति के लोगों का प्राधान्य था। दो-मुँहा कुल्हाड़ा मातृदेवी पाषाण-स्तम्भ एवं चोला आदि मिनोअन सभ्यता के अन्य बहुत से अंश भी एशिया से ही इस द्वीप में पहुँचे थे। इसी प्रकार अपनी सभ्यता के विकास के लिए यह द्वीप मिस्र की प्राचीन सभ्यता का भी किसी प्रकार ऋण

भाजारी नहीं था। इसका परिचय सर आर्थर ईवान्स की खुदाई में पग-पग पर मिला है। यह एक सर्व-सम्मत तथ्य है कि क्रीट के २२ वर्ष (३४ १२ ई पू) के दीर्घ इतिहास मे एशिया की उन्नत सभ्यताओं की सांस्कृतिक तरंगें उसके तटों पर निरन्तर आघात करती हुई चुपके से उसके भाग्य का विधान कर रही थी। इन विदेशीय सांस्कृतिक तत्त्वों के मिश्रण से उत्तर-काल मे इस द्वीप ने उच्च कोटि की वैयक्तिक सभ्यता का निर्माण किया। कालान्तर मे इस सभ्यता ने यूनान तथा भूमध्य सागर के तटवर्ती देशों की प्रागैतिहासिक संस्कृतियों पर अपनी अमिट छाप लगाई।

पूर्वोक्त समालोचना से स्पष्ट हो जाता है कि क्रीट की मिनोअन सभ्यता ने मातृदेवी की पूजा-पद्धति एव उसके आनुषंगिक लक्षणों—यथा दो-मुँहा कुल्हाड़ा दिव्य कपोत वेधाङ्ग वृषोत्सव क्रीडा आदि—को एशिया की उन्नत सभ्यताओं से प्राप्त किया था। इस युग मे मध्यपूर्व एशिया स्वय मेसोपोटैमिया तथा मिस्र की क्रान्तिकारी सभ्यताओं का रंगमंच बना हुआ था। सांस्कृतिक रूढ़ियों तथा परम्पराओं के अन्तर्देशीय आवागमन पर विचार करते के प्रसग मे हमे इस पृष्ठभूमि को नहीं भूलना चाहिए। स्मरण रहे कि अपनी प्रौढ़ दशा (३ २१ ई पू०) मे सिन्धु-सभ्यता का पश्चिमी एशिया के उच्च सभ्यता-केन्द्रों से साक्षात् सम्बन्ध था और इन सात सौ वर्षों मे सिन्धु-सभ्यता और पश्चिमी एशिया के बीच सांस्कृतिक रूढ़ियों तथा विचारों का विनिमय निरन्तर होता रहा। इसमे अणुमात्र भी सन्देह नहीं कि क्रीट की मिनोअन सभ्यता ने अपने सांस्कृतिक भावों और रूढ़ियों को पड़ोसी एशिया और मिस्र की सभ्यताओं से सीखा था जो इससे बहुत उन्नत कोटि की थी। अत. यह निर्विवाद है कि मध्य मिनोअन तृतीय युग का क्रीट जिसने मातृदेवी की उपासना-विधि को सांगोपांग एशिया से स्वय ग्रहण किया वृषोत्सव क्रीडाओं के विषय मे सिन्धु-सभ्यता का शिक्षा-गुरु नहीं हो सकता क्योंकि सिन्धु-सभ्यता मे ये खेल एक हजार वर्ष पहले से ही प्रचलित थे।

प्रतीत होता है कि भारत ही इन क्रीडाओं का जन्म-स्थान था। अनुमान से इनका जन्म ईसापूर्व चौथी सहस्राब्दी के अन्त मे हुआ और तीसरी सहस्राब्दी के मध्य मे जब सिन्धु-सभ्यता अपने उत्कर्ष पर थी तब भारत से मेसोपोटैमिया पहुँची। देश तथा काल के भेद के कारण इनके स्वरूप मे परिवर्तन होना स्वाभाविक ही था। आशा की जा सकती है कि भावी अनुसन्धान से पश्चिमी एशिया मे कभी न कभी ऐसे प्रमाण मिल सकेंगे जिनसे इन क्रीडाओं का पश्चिम की ओर प्रसार सिद्ध हो जाएगा। इससे उस मार्ग का पता लग जाएगा जिधर से प्रसरण करती हुई ये क्रीड़ाएँ दूसरी सहस्राब्दी के आरम्भ में क्रीट द्वीप मे पहुँची और अन्त मे ईसापूर्व पन्द्रहवी शती मे वहाँ मातृदेवी की उपासना-विधि का अग बन गईं।
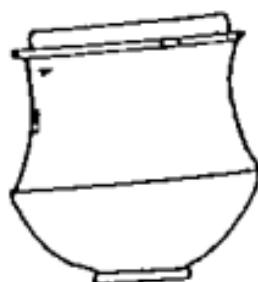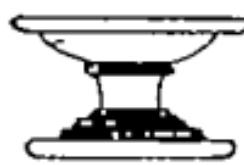
फलक २१ हड़प्पा—कब्रिस्तान-एच की कुम्भकला के उदाहरण

९

शव विसर्जन विधि तथा परलोक विश्वास

हड़प्पा में दो प्रागैतिहासिक कब्रिस्तानों की उपलब्धि से सिंधु-निवासियों की शवविसर्जन विधि एवं परलोक के विषय में उनके विश्वास पर बहुत प्रकाश पड़ा है। इनमें से एक जिसे 'कब्रिस्तान-एच' कहा गया है सन् १९२७ में श्री माधोस्वरूप वत्स ने खोदा था। यह सिंधु-युग के अन्तिम काल का है और इसमें उन लोगों के शव पड़े थे जो सिंधु-सभ्यता के ह्रास-काल में यहाँ आकर बस गये। दूसरा कब्रिस्तान 'आर ३७' लेखक ने सन् १९३७ में स्वयं उपलब्ध किया था। इसमें हड़प्पा के आदि निवासियों के शव पाए गए थे जिन्हें सिंधु-सभ्यता के निर्माण करने का श्रेय प्राप्त है। यद्यपि दोनों कब्रिस्तानों के लोग अपने मृतकों को भूमि में गाड़ते थे फिर भी दोनों की कब्रों में कुछ ऐसी विलक्षणताएँ थीं जिनसे पता लगता है कि इनमें गड़े हुए लोगों में मौलिक जाति-भेद था।

'कब्रिस्तान-एच'

यह कब्रिस्तान 'टीला-बी' और स्थानीय पुरातत्त्व-संग्रहालय के बीच समतल भूमि में स्थित है। यहाँ वत्स महोदय ने लगातार दो वर्ष (१९२७-२८ और १९२८-२९) खुदाई कराई थी जिसके फलस्वरूप इस स्थान में प्रागैतिहासिक काल की कब्रों के दो स्तर प्रकाश में आए। ऊपर के स्तर में १३१ के लगभग शव-भांड भूतल से तीन फुट की गहराई तक जमीन में दबे पड़े थे। नीचे के स्तर में तीन से छः फुट की गहराई तक बहुत से समूचे और कुछ खण्डित मुर्दे पाए गए थे। इनके साथ रखे हुए मिट्टी के बर्तन सिंधु-कालीन प्राचीन कुम्भकला से भिन्न शैली के थे।

शव-भांड—पूर्वोक्त १३१ शव भांडों में से लगभग ८० में खंडित मनुष्यास्थियाँ थीं। शेष मटकों में कुछ नहीं था जिससे प्रतीत होता था कि तत्कालीन प्रथा के अनुसार ये खाली मटके अन्त्य क्रिया के सम्बन्ध में किसी अन्य उद्देश्य से रखे गये थे। ये शव-भांड छोटे-छोटे समुदायों में पूर्व से पश्चिम की ओर बिखरे पड़े थे। सबसे बहुसंख्यक गोल मटके (फलक २९, ख) थे उनसे उतर कर मर्तबान (फलक २८ क) और सब से अल्पसंख्यक ढक्कन के आकार (फलक २९, ग) के थे। ये मटके ऊँचाई में २४ इंच से १ इंच तक और चौड़ाई में २४ से १ इंच के लगभग थे। चिकनी मिट्टी, चमक तथा गहरी लाल जिल्द पर चित्रित काले चित्रों के कारण ये बर्तन एक निराली

कुम्भकला के उदाहरण हैं। इनमे से अधिकाश के मुँह ढक्कनों छोटे बर्तनों ईंटों अथवा ठीकरों से ढके हुए थे।

ग्यारह मटको मे जिनमे एक अण्डाकार और शेष गोल थे बच्चों के शव गड़े थे। मृत बच्चों को सिकोड़कर और सम्भवतः कपड़े मे लपेटकर समूचे ही मटके मे इस प्रकार रखा जाता था मानो वे माता के गर्भ मे पड़े हों। परन्तु बड़ी आयु के मनुष्यो के शव पहले कुछ समय तक खुले स्थान मे फेंक दिये जाते थे और चील गीदड़ आदि से बची हुई हड्डियाँ बटोरकर मटको मे रख दी जाती थी। खोपड़ी मटके के मध्य मे और बाकी हड्डियाँ उसके चारों ओर भरी हुई रहती थी। प्रत्येक शव-भांड मे हड्डियो की संख्या भिन्न-भिन्न थी और किसी एक मे भी मानव-शरीर की समस्त अस्थियाँ एकत्र नहीं पाई गई।

असाधारण शव भांड—कई बड़े शव-भांड अपनी असाधारण वस्तु-सामग्री के कारण विशेष रूप से वर्णनीय हैं। भांड नं० १४१ मे अभिजात और प्रवाल पक्षी की अस्थियाँ राख पके हुए ठीकरे आदि मिश्रित वस्तुएं थी। एक दूसरे मटके मे मिट्टी की चित्रित कछवी और बड़ी आयु के मनुष्य की अस्थियाँ थी। चार मटकों मे खण्डित मानव खोपड़ियों के अतिरिक्त और कुछ नहीं था। कई मे दो मनुष्यों की अस्थियाँ थीं और एक मे बच्चे की हड्डियों के साथ किसी छोटे चौपाए (चरिन्द) पशु के अवशेष थे। सम्भवतः बच्चे का क्रीड़ा-सहचर होने के कारण इसे भी मारकर उसके साथ कब्र मे गाड़ दिया गया था जिससे परलोक मे भी वह शिशु के विनोद का कारण बन सके। बहुत से शव-भांड चित्रों से अलंकृत थे। कहीं पर काली पट्टियाँ और कहीं पर जीव-जन्तु, पौधे सितारे आदि थे।

पिछले स्तर की कब्रें—शव भांडो के ठीक नीचे तीन से छ फुट की गहराई मे बीस बारह के लगभग कब्रें पाई गई थी। मुर्दे प्रायः पूर्वोत्तर से दक्षिण-पश्चिम की दिशा मे लिटाए हुए थे परन्तु कई अस्तव्यस्त दशा मे भी पड़े थे। बहुत से शव पार्श्व के बल

---

१ यूनानी इतिहासकार हैरोडोटस (४८४-४२५ ई० पू०) तत्कालीन प्रथाओं का वर्णन करता हुआ लिखता है—"ईरानियों (पारसियों) मे यह प्रथा है कि वे अपने मृतकों को खुले स्थान मे छोड़ देते हैं जिससे चील पक्षी खा जाएँ।

आज भी भारतीय पारसियो मे यही प्रथा प्रचलित है। ऐसी ही प्रथा तिब्बत मे अब भी पाई जाती है। प्राचीन समय मे वैशाली के लिच्छवीगण मे ऐसी ही रीति थी जिससे मालूम होता है कि इस वंश के लोग या तो तिब्बत से आए थे या उस देश के लोगों के समकालीन थे।

—इंडियन ऐंटिक्वेरी ११ १ पृ २११।

रखे थे। कई की टाँगें सिकुड़ी हुई और कई की सीधी तनी थी। एक शव पीठ के बल पड़ा था। बहुत-सी कब्रों में मुर्दे की बाहें ऊपर को इतनी चढ़ी थी कि हाथ मुँह के सामने आ गये थे (फलक २८ ख)[1]। कई मुर्दों की भुजाएँ पेट पर एक दूसरे पर आड़ी पड़ी हुई थी। प्रायः प्रत्येक कब्र में मुर्दे के साथ कुछ न कुछ मिट्टी के बर्तन धरे हुए थे। इनमें कलसा, बड़ी पैंदी की थाली, तश्तरियाँ, प्लेटें और नावदानीनुमा कलसियाँ विशेष रूप से वर्णनीय हैं (फलक २९ क-ट)। कई मानव-पिंजरों के साथ बलिरूप से वध किए हुए पशु की अस्थियाँ थी। एक कब्र में वे पंजर के पार्श्व के साथ और दूसरी में शव के हाथ में थी। साधारणतः मृतकोद्दिष्ट बर्तन मुर्दे के सिर के पास एकत्रित किये होते थे, परन्तु कब्र न. ११८ में वे मुर्दे के पाँवों के पास पड़े पाए गए थे।

खंडित शव—पूर्वनिर्दिष्ट सर्वांग शवों के अतिरिक्त 'कब्रिस्तान-एच' में कई खंडित शव भी पाए गये थे। इनके साथ रखे हुए बर्तनों के आकार सर्वांग शवों के बर्तनों से कुछ भिन्न थे।

इसमें सन्देह नहीं कि 'कब्रिस्तान-एच' सिन्धुराम की दीर्घजीवी प्रागैतिहासिक सभ्यता का अन्तिम रूप था। इसके निर्माता जिनकी जातीयता के सम्बन्ध में अभी बहुत थोड़ा ज्ञान है, इस रंगमंच पर उस समय प्रकट हुए जब प्राक्-सिन्धु-सभ्यता बड़े वेग से अवनति की ओर मुड़ रही थी। उनकी विलक्षण शव-विसर्जन विधि और कुम्भकला का सादृश्य बलूचिस्तान और ईरान की समकालीन शवविसर्जन विधियों से है। सर्वांग तथा खंडित मानव पंजर और उनके साथ की कुम्भकला जो बलूचिस्तान के नाल, शाहीटुम्प आदि स्थानों में तथा ईरान में मुस्यान के स्थान पर मिले, उनका 'कब्रिस्तान-एच' की कब्रों से गहरा सम्बन्ध मालूम होता है। परन्तु प्रमाणाभाव से यह कहना कठिन है कि 'कब्रिस्तान-एच' में पड़े हुए मनुष्यों का उन प्रान्तों के समकालीन लोगों के साथ कैसा सम्बन्ध था।

---

१ प्रागैतिहासिक सुमेरियन कब्रें मिश्र की प्राक्-वंशावली काल की कब्रों के बहुत समान हैं। इन कब्रों में मुर्दे पार्श्व के बल टाँगें सिकोड़कर पाये गये थे। उनके दाएँ हाथ में पान-पात्र (प्याला) दिया जाता था और बाकी मिट्टी के बर्तन सिर के पास रखे जाते थे। (मैकेंजी)

स्मरण रहे कि प्रागैतिहासिक सुमेरियन कब्रों, प्राक्वंशावली काल की मिस्री कब्रों और हड़प्पा की कब्रों में बहुत सादृश्य है।

२ वत्स—एक्सकैवेशन्स एट हड़प्पा भा. १ पृ. २२।

छाप-मोहरों पर बने हुए चित्र—अपने रोचक तथा रहस्यपूर्ण चित्रों के कारण निम्नलिखित छाप-मोहरें अत्यन्त महत्त्व की हैं—

छाप-मोहर 'एच २ ६ बी'—यह छाप मोहर बेलनाकार उभरावदार प्रकार की है। इसके शरीर पर मृतक की परलोक-यात्रा के दो समान दृश्य बने हैं (फलक १ व १ २)। हर एक दृश्य में एक नर-मयूर सजीव प्राणी दाईं ओर मुँह किये खड़ा है। इसका पक्षिमुख सिर और भुजाएँ मोर की हैं और शेष शरीर मनुष्य का। सिर पर वक्र रेखाओं से बना हुआ मयूर-किरीट मनुष्य के लम्बे बालों का भ्रम पैदा करता है। यह विचित्र मनुष्य अपनी भुजाओं के अग्रभाग को बाहर की ओर ताने हुए पक्षी के पंखे के समान अपने प्रत्येक हाथ में वृषाकार एक पशु को रस्से में बाँधे खड़ा है। रस्से का एक सिरा पशु के गले में बँधा है और दूसरा मनुष्य के हाथ से नीचे लटका हुआ है। अपने बाएँ हाथ में रस्से के अतिरिक्त यह मनुष्य-बाण भी थामे है। बाएँ हाथ वाले पशु पर आक्रमण करता एक भयानक कुत्ता उसकी पूँछ को काटने की चेष्टा कर रहा है। मटके के दूसरी ओर बना हुआ समानान्तर चित्र सम्भवतः मृतक की परलोक-यात्रा का दूसरा दृश्य है। इसमें बैल के आकार के प्रत्येक पशु के सिर पर सींगों के बीच त्रिशूलाकार चिह्न है जिसका तात्पर्य यह हो सकता है कि वे सब बैल परलोक के कठिन मार्गों की यातना को झेलकर ज्योतिर्मय लोक में पहुँच गये हैं। त्रिशूलाकार चिह्न सम्भवतः देवत्व की आध्यात्मिकता से अलंकृत उस शृङ्गमय मुकुट का उत्तरकालीन रूप है जिसे सिन्धुकालीन देवता अपने सिरों पर धारण करते थे। शायद अब इन पशुओं ने दिव्यत्व धारण कर लिया है। इस दृश्य में बाएँ हाथ वाला पशु बिना पूँछ और शृङ्गिका के है और अब इसके पीछे कुत्ता भी नहीं है। दोनों नर-मयूर प्राणी और पशुओं के बीच एक-एक उड़ता हुआ मोर है। पूर्वोक्त दोनों समानान्तर दृश्यों के बीच एक ओर महाकाय दाढ़ी वाला बकरा और दूसरी ओर सींगों वाले दो मोर हैं। दोनों मोरों और बड़े बकरे के सिरों पर वैसे ही सींग हैं जो सिन्धुसभ्यता के पूर्वकालीन महिषमुंड देवता के सींगों के अनुरूप हैं। बकरे के सिवाय अब सींगों पर भी त्रिशूलाकार चिह्न है। शायद यह बकरा एक दिव्य पुरुष का को

---

१ वत्स—एक्सकेवेशन्स एट हड़प्पा भा० २ फलक ९२, १ ए, बी।

२ यह बात उल्लेखनीय है कि यम के समान वैदिक देवता पूषण भी परलोक में मृत मनुष्यों के मार्ग का निर्देश करने में उच्च अधिकार रखता था। वेदों में उसे 'मयुर' के विशेषण से निर्दिष्ट किया गया है। वह पितृलोक के रास्ते में मृतकों की रखवाली करता था और भयानक मार्गों के पार ले जाकर उन्हें कुशलतापूर्वक वहाँ पहुँचाता था। इसे पशु भेंट चढ़ाए जाते थे और यम की तरह यह भी पशुपति के नाम

फलक १ हड़प्पा—'कब्रिस्तान-एच' के शव-भांडों पर बने हुए चित्र

परलोक-यात्रा में मृतक का पथ-प्रदर्शक था। कल्पना भी की जा सकती है कि नर-मयूर प्राणी को वृषाकार पशुओं के बीच खड़ा है सम्भवतः मृतक के सूक्ष्म शरीर का प्रतीक है और दोनों पशु परलोक यात्रा में उसके सहायक हैं। यहाँ यह लिखना प्रासंगिक है कि वैदिक काल में आर्यों में एक प्रथा थी जिसके अनुसार शव के अग्निदाह के समय 'अनुस्तरणी' नाम की गौ का वध किया जाता था। इस गौ की मज्जा से मृतक के सिर और मुँह को ढक दिया जाता था जिससे अग्निदेव अपनी प्रचण्डता को मज्जा पर ही समाप्त करके मृतक को सुखपूर्वक दिव्य लोकों का अधिकारी बनाए। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए अग्निदेव से प्रार्थना भी की जाती थी। पशु की अस्थियाँ मृतक के हाथों में इसलिये दी जाती थीं कि वे यमराज के कुत्ते की बलि हैं। इस मटके पर चित्रित दृश्य में रोचक बात यह है कि समान रूप दूसरे चित्र में कुत्ता और पशु की अस्थियाँ दोनों प्रदर्श हैं, मानो आक्रमणकारी श्वापद अपना नियत भाग लेकर शान्त गया हो। यह उल्लेखनीय है कि नीचे उद्धृत वैदिक मन्त्र में अनुस्तरणी के स्थान बकरे की बलि का भी विधान है[1]। उत्तरकालीन वैदिक आर्यों में मरण-शय्या पर पड़ा हुआ मनुष्य ब्राह्मण को वैतरणी गौ का दान करता था। सिन्धु तथा वैदिक काल की मृतक सम्बन्धी प्रथाओं में सादृश्य दिखलाने का तात्पर्य यह है कि वैदिक आर्यों और भारत की आदिवासियों में परस्पर सम्पर्क के अनन्तर स्वाभाविक ही था कि सिन्धु-वासियों के कई धार्मिक और सामाजिक रीति-रिवाज आर्य जाति के जीवन का अंग बन जाते। पूर्वोक्त परलोक-यात्रा-चित्र में प्रधान मूर्तियों के बीच रिक्त स्थान में सितारे,

---

से पुकारा जाता था। यह मार्गभ्रष्ट पथिकों को मार्ग दिखलाता था।

पूषन् का बकरा परलोक का मार्ग दिखाता हुआ शवाग्नि के आगे आगे चलता है। विद्वान् आर्यों से शायद यह इसलिये परिचित है कि उसके रथ में भजूक पार्श्वों वाला बकरा लगा है। बलिरूप से वध किया हुआ बकरा आगे-आगे चलता है और पितृगण को मृतक के आगमन की सूचना देता है। तीसरे दिव्य-लोक में पहुँचने के पहले उसे अन्धतामिस्र गहन मार्गों में से गुजरना पड़ता है।

अथर्ववेद (मैकडानेल)

१ अनुस्तरण्या वपामुत्खिद्य शिरोमुखं प्रच्छादयेत्
अग्नेर्वर्म परि गोभिर्व्ययस्व (ऋग्वेद १ १६, ७)
अनुस्तरणी नामधा वैतरणी कृष्णा मेके वध्ये बाहीं अन्याऽ-
गुणकालसर्वन्ति॥ पितृम्यो याऽनुस्तरणी (आश्वलायन गृ सू ४ १)
सायण—शेष भी स्पष्ट दीक्षित अनुस्तृतत्वा द्विविधत्वाच्चानुस्तरणीत्युच्यते।

फलक ११ हड़प्पा—'कब्रिस्तान-एच' के शव-भांडों पर बने हुए चित्र

विहग भगिनी पत्तियाँ आदि गौण अभिप्राय भी बने हुए हैं।

शव-भाण्ड एच १ ६ (ए)—इस मटके पर आकाश में उड़ते हुए तीन मोर चित्रित हैं। इनमें से हर एक के पेट में एक मानवीय नर-मयूर प्राणी चित्रित किया गया है और उसके आस-पास पात-पत्ती या पत्ते के आकार के अभिप्राय भी बने हैं (फलक १ ग)। यह प्राणी पूर्ववर्णित शव-भाण्ड एच २ ६ (बी) पर बने हुए नर-मयूर प्राणी के अनुरूप है। इससे सन्देह नहीं कि यह भी उस मृतक के सूक्ष्म शरीर का प्रतीक है जिसकी अस्थियाँ इस शव-भाण्ड में पाई गई थीं। मोरों के अन्तराल में सितारों के झुरमुट हैं।

शव-भाण्ड एच १४२ (बी)—इस शव-भाण्ड पर अंग्रेजी भाषा के 'यू' अक्षर के समान मयूर-शीर्षक मोर बने हैं। इनके बीच नन्हे-नन्हे सितारे हैं (फलक १ ख)। मोरों के सिर पर भी इसी आकार के सींग हैं जिनके मध्य में परस्पर जुड़े हुए पीपल के पत्ते चित्रित हैं। हर एक मोर के अन्दर पत्तों अथवा मछलियों की पंक्तियाँ भी बनी हैं।

शव-भाण्ड एच २४२ (सी)—यह एक मध्यम सम्मोत्तरा मटका है जिसके आकार पर सितारों से घिरे हुए दो बेडौल मोर बने हैं (फलक १ घ)[3]। हर एक मोर की पूंछ और कलगी पत्रांकित दिखलाया गया है और प्रत्येक पत्ते के मध्य में एक-एक बिन्दु है। मोरों के बीच रिक्त स्थान में रेखाओं के बने हुए मोर के आकार के दो चौक हैं जिनमें से हर एक के बीच एक त्रिरश्मिमाली बिम्ब और मत्स्य-पंक्ति है। एक बिम्ब के अन्दर पाँच रेखापूर्ण पंक्तियाँ और दूसरे में नागफनी के आकार के अनेक बिन्दुमध्य चाकल भरे हैं। सम्भवतः इस प्रकार के इन बिम्बों में स्वर्ग-लोक की कल्पना की है और इसमें नाना प्रकार के प्राणियों के निवास का आभास कराने का भी प्रयत्न किया है। शायद यह पितृलोक है जहाँ मृतकों की आत्माएँ आध्यात्मिक शान्ति पाने के लिये विश्राम कर रही हैं। वृत्तों के मध्यवर्ती बिन्दु सम्भवतः शरीर में निविष्ट जीवन-तत्त्व के द्योतक हैं। सम्भव है कि मोर के निकट वाले सितारों के गर्भ में बिन्दु मध्य बोलक भी उन पत्तों के निवासी विविध प्राणियों के प्रतीक हैं। इसी प्रकार मोर के गले और पूंछ में चिपटे हुए पत्राकार अभिप्राय भी शायद मृत प्राणियों की आत्माएँ हैं जिन्हें मोर पितृलोक में ले जा रहा है। इसमें सन्देह नहीं कि इन चित्रों का सम्भावित अभिप्राय जो मैंने ऊपर दिया है काल्पनिक है परन्तु मृतक की आत

---

१ वत्स—एक्सकेवेशन्स एट हड़प्पा भा० २, फलक ६२ २।

२ वत्स—एक्सकेवेशन्स एट हड़प्पा भा० २ फलक ६२ ४।

३ वत्स—एक्सकेवेशन्स एट हड़प्पा भा० २ फलक ६२ ३।

फलक १२ हड़प्पा—'कब्रिस्तान-एच' के शव-भांडों पर बने हुए चित्र (ञ के सिवा)

धार्मिक भावना के प्रसंग में बहुत युक्तिसंगत प्रतीत होता है।

अब-गौड 'एच १३४ (ए) —यह उन्नतोदर सकोरानुमा मटका अब सीगों वाले कूबड़दार चतुष्पादों को प्रकट में वैल है तथा मछलियो और सितारा के चिन्हों से अलंकृत है (फलक १ ड)। हर एक चतुष्पाद के सिर पर अंग्रेजी वर्ण 'यू' के आकार के सीग हैं और कूबड़ पर से पीपल का पत्ता उभर रहा है। रिक्त स्थान में प्रदर्शित मछलियो में से हर एक के पेट में एक-एक बिंदु है जो मृतकों की आत्मा अथवा सुषुप्ति में निश्चेष्ट जीवन-तत्त्व के बीज हो सकते हैं। सितारों के पेट भी रेखाओं से पूर्ण हैं।

अब-गौड 'एच १४८ (ए) १३ और नं १३—इन मटकों पर मोर तथा अन्य अभिप्राय चित्रित हैं। अब-गौड 'एच १३ पर बैजन बेडौल भद्दे मोर हैं (फलक १ ब)। मटका नं एच १४८ (ए) रेखापूर्ण पेट वाले उड़ते हुए मोरों से अलंकृत है। हर दो मोरों के मध्य में एक रेखामय गाँव का चिह्न है (फलक १ ब)[१]। यह अभिप्राय जैसा कि नीचे दिखलाया गया है गाँव अथवा बलपाओं की प्रतिकृतियाँ है जिनमें सजीव मत्स्य खेल रहे हैं। तीसरे अब-गौड पर लहरिया रेखाओं से बने हुए कोष्ठों के अन्दर बेडौल मोर बने हैं[४]। ये कोष्ठ गाँव के आकार के हैं और बीच के रिक्त स्थानों में अधूरा पीपल के पत्तों की पंक्तियाँ हैं। हर एक लहरिया रेखा की चोटी पर बने हुए सितारे के मध्य में बिंदुगर्भ वृत्त है। लहरिया रेखाएँ सम्भवतः सितारों की किरणें हैं जिससे प्रतीत होता है कि मोर दिव्यलोक में प्रयाण कर रहा है।

अब-गौड 'एच ७ १ (ए) —इस मटके के ऊपरी भाग में बने के इर्द-गिर्द चित्रों की दो पट्टियाँ हैं[५]। अन्दर की पट्टी में आकाश में उड़ते हुए दो मोर हैं और उनके मध्य में तीन बिंदुगर्भ अण्डाकार मोती। बाहर की पट्टी में रेखा-परिवृत किरण-भारी वलय सम्भवतः सूर्यबिम्ब है। समस्त दृश्य का अभिप्राय यह हो सकता है कि मृतकों की आत्माओं का अनुसरण करने वाले मोर सूर्य और तारागण से आलोकित दिव्यलोकों में विहरण कर रहे हैं।

---

१ वत्स—एक्सकेवेशन्स एट हड़प्पा भाग २, फलक ६२, १।
२ वत्स—एक्सकेवेशन्स एट हड़प्पा भाग २ फलक ६२, ६।
३ वत्स—एक्सकेवेशन्स एट हड़प्पा भाग २ फलक ६२ ।
४ वत्स—एक्सकेवेशन्स एट हड़प्पा भाग २, फलक ६२ १३।
५ वत्स—एक्सकेवेशन्स एट हड़प्पा भाग २ फलक ६१ १२।

और भी कई शव-भांडों पर सौर-बिम्ब चित्रित हैं। इनमें 'एच ७ ६ ए' 'एच १६५ ए' और 'एच २११ बी' वर्णनीय हैं। पहले मटके पर शव-भांड न. 'एच-७ ६' के समान गले के नीचे चित्रों की दो पट्टियाँ हैं। ऊपर की पट्टी में लहरिया रेखाओं के बने हुए अंग्रेजी अक्षर 'बी'—के आकार के नीड़ों के अन्तराल में इसी आकार के छोटे अभिप्राय हैं और उनके अंदर बिंदुगर्भ अण्डाकार गोलकों की पंक्तियाँ हैं[1]। नीचे की पट्टी में सौर बिम्ब हैं (फलक १२ ग)। इन चित्रों का अभिप्राय भी वैसा ही है जैसा कि मटका 'एच-७ ६ (ए)' पर बने हुए चित्रों का। मटका न. 'एच १६५' सितारों और किरण-माली बिम्बों से अलंकृत है। सौर बिम्बों से निकलते हुए किरणजाल के दोनों पार्श्व पीपल के पत्तों से सुशोभित हैं[2]। एच २११ नंबर के तीसरे मटके पर बनी हुई दो पट्टियों में से ऊपर की पट्टी में बिंदुगर्भ गोलकों के समूह आड़ी रेखाओं से सीमित नीड़ों के अंदर दिखलाए गए हैं। नीचे की पट्टी में रेखा-अलंकृत सौर-बिम्बों के साथ-साथ बिन्दुगर्भ गोलकों की खड़ी पंक्तियाँ हैं (फलक १२, ग) मेरे विचार में बिंदु-गर्भ गोलक मृत प्राणियों की आत्माएँ *हैं जो ज्योतिर्मय दिव्यधाम में निर्मल सोतों नदियों और जलाशयों के तटवर्ती स्निग्ध* श्याम शीतल स्थानों में विश्राम कर रही हैं।

नाव अथवा पानी की डलियाँ—कई एक शव-भांडों पर नाव के आकार के पात्र अथवा पानी की डलियाँ और उनके अंदर मत्स्य-पंक्तियाँ बिन्दुगर्भ-गोलक सितारे आदि बने हैं (फलक २ ,ड-च)। वस्तुतः ये नाव जैसे पात्र अंग्रेजी वर्णमाला के 'वी' अथवा 'यू' अक्षरों के आकार में पाए जाते हैं। 'यू' आकार के नाव जो मटका न. 'एच २४५ (बी)' पर चित्रित हैं मयूर-शीर्षक हैं और हर मोर के सिर पर 'यू' आकार के शृंग-युग्म हैं जिनके अन्दर संयुक्त पीपल के पत्तों का चित्र दिखाई देता है (फलक ३ घ)। 'एच २४५ ए'[3] और 'एच-६२१' संख्या के मटकों तथा एक ढक्कने पर भी इसी प्रकार के या नाव चित्रित हैं उनके पार्श्व अम्लाकार पत्तों के बने हैं (फलक २८ ज)। *मटका न.* ६६[4] पर बने हुए नाव के दोनों पार्श्व धनुषाकार पत्तों के बने हैं और इनके अंदर एक-एक मत्स्य पंक्ति है (फलक २८ ठ)। इस मटके पर

---

१ वत्स—एक्सकेवेशन्स एट हड़प्पा भाग २ फलक ६६ ११।
२ वत्स—एक्सकेवेशन्स एट हड़प्पा भाग २ फलक ६६ १ ।
३ वत्स—एक्सकेवेशन्स एट हड़प्पा भाग २ फलक ६२, १ ।
४ वत्स—एक्सकेवेशन्स एट हड़प्पा भाग २ फलक ६२, १२।
५ वत्स—एक्सकेवेशन्स एट हड़प्पा भाग २, फलक ६६ ७ ।
६ वत्स—एक्सकेवेशन्स एट हड़प्पा भाग २ फलक ६६ १४।

आकाश में उड़ते हुए पक्षियों की पंक्तियाँ तथा संयुक्त पीपल के पत्तों के अलंकरण भी हैं। 'कब्रिस्तान-एच' के प्रथम स्तर की कुम्भकला पर 'बी' प्रकार के आकार में मोर अंकित अवस्था में तथा कई प्रकार के हैं। कई मटकों पर उनमें पार्श्व एक या अनेक लहरिया रेखाओं के और कई पर त्रिभुज आकारों[1] तथा पत्तों[2] के भी बने हैं (फलक २८ अ ब)। इस दूसरी पीढ़ी के भांडों के ऊपर मछलियाँ त्रिभुजमें वृक्ष सितारे और मोर चित्रित हैं (फलक २ ड ब) आदि।

कई अन्य भांडों पर वनस्पति और प्राणियों के चित्र हैं। मटका नं० 'एच-१४९ (बी)' पर कीटों के साथ परस्पर जुड़े हुए तीन पीपल के पत्ते हैं (फलक ११ अ) नं० १७ पर बारी-बारी से कीट और त्रिभुजमें कोष्ठक हैं[3]। नं० १ पर कीट और ऊपर पक्षियों की पंक्तियाँ वृक्ष और सितारे हैं[4]। मटका नं० १७ पर एकान्तर क्रम से खड़ी और पड़ी रेखाओं के समूह तथा त्रिभुजमें कोष्ठक हैं। नं० २ पर चतुर्भुज कोष्ठों के अन्तर्गत कीट-पंक्तियाँ और सितारे (फलक १२ ब) नं० ११ पर प्रवाहक्रम कीट-पंक्तियाँ सितारे तथा वृक्षों के झुरमुट और मटका नं० २१ पर ऊपर की पट्टी में गो-मूर्ति का बच्चे मोड़ों में कीट पंक्तियाँ पल्लवित तोरण तथा नीचे की पट्टी में खड़ी रेखाओं के समूहों से सीमित वैसा कीट-पंक्तियाँ हैं (फलक १२ स)। पूर्वोक्त मटका नं० २ पर अन्य अभिप्रायों के साथ तोरण भी बने हैं जिनकी चोटियों से उगते हुए कई एक वृक्ष दिखाए गए हैं। यह अलंकरण प्राचीन सिन्धुकालीन मुद्राओं पर बने हुए उन अश्वत्थ तोरणों का स्मरण कराता है जिनके नीचे अश्वत्थाधिष्ठातृ-परम-देवता स्थानमुद्रा में पाया जाता है। इसका सादृश्य मेसोपोटेमिया के उन तोरणाकार अभिप्रायों से भी है जिनके नीचे प्रभामंडल के देवता स्थान अथवा आसीन

---

१ वत्स—एक्सकेवेशन्स एट हड़प्पा ग्रंथ २ फलक १२ १५।

२ वत्स—एक्सकेवेशन्स एट हड़प्पा ग्रंथ २ फलक १२ ७।

३ वत्स—एक्सकेवेशन्स एट हड़प्पा ग्रंथ २ फलक १२ ६।

४ वत्स—एक्सकेवेशन्स एट हड़प्पा ग्रंथ २ फलक १२, १७।

५ वत्स—एक्सकेवेशन्स एट हड़प्पा ग्रंथ २ फलक १२, १।

६ वत्स—एक्सकेवेशन्स एट हड़प्पा ग्रंथ २, फलक ११ १७।

वत्स—एक्सकेवेशन्स एट हड़प्पा ग्रंथ २ फलक ११ २।

वत्स—एक्सकेवेशन्स एट हड़प्पा ग्रंथ २, फलक ११ १९।

९ वत्स—एक्सकेवेशन्स एट हड़प्पा ग्रंथ २ फलक ११ २१।

मुद्रा में दर्शाये गये हैं (फलक १२ अ)[1]। क्योंकि ये अभिप्राय शव-भांड पर बने हैं इस लिए सम्भव है कि इनका तात्पर्य भी मृतक के आत्म-नियन्ता परलोक के देवताओं के सम्बन्ध में ही था। शव-भांड न० ११ पर छतरख फलक के समान काष्ठों में विभक्त दो चतुर्भुजाकार स्तम्भ और उनके बीच सितारों के झुरमुट हैं[2]। इन स्तम्भों के पार्श्वों में कुटिल काँटों के आकार के अभिप्राय बने हैं (फलक १२ क)।

शव भांड नं० 'एच २४६ (ए) —यह शव-भांड अपने चित्रों के कारण विशेष महत्त्व रखता है। इस पर तिपटी पैरों के 'यू'-वर्ण के आकार के सींगों वाले दो बकरे दिखलाये गये हैं। इनमें एक के सींगों के मध्य में त्रिशूलाकार सितारा है (फलक १ ख)। हर एक बकरे के पीछे युग्म पत्तों वाला एक ऊँचा काल्पनिक वृक्ष है। पूर्वोक्त प्रधान चित्रों के रिक्त स्थान में पक्षी, कीट-पत्तियाँ 'सिग्मा' चिह्न आदि भरे हैं। बड़ी पट्टी के नीचे के किनारे के साथ-साथ 'चाँद में-सितारा' अभिप्राय और उसके बीच बैठकर विहग-पक्तियाँ हैं।

शव-भांड ७४४१२ (ई)—अपने चित्रों की विचित्रता के कारण शव-भांड ७४४१२ (ई) भांड न० 'एच २०६ (बी) की तरह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। इस पर चार विचित्र सकीर्ण पशु और उनके अन्तराल में उड़ते हुए मोर और सितारे हैं (फलक ११ अ)। सकीर्ण पशु प्रधान बैल और प्रधान मोर है। इस अद्भुत जीव का सारा शरीर बैल का परन्तु सिर मोर का है। मोर की गोमस टाँगें बैल के सिर को तोम मोर में ढाँक रखी हैं। विलक्षण बात यह है कि वह मृतक जिसकी अस्थियाँ इस मटके में गड़ी थीं सकीर्ण वाहन पर आरूढ़ दिखलाया गया है। चित्रगत दृश्य की प्रगति बाएँ से दाएँ को है। बाएँ किनारे पर यह विचित्र बैल दाईं ओर मुँह किए चला जा रहा है और इसके साथ ही एक मोर उड़ रहा है। तीसरी आकृति पुन उसी बैल की है परन्तु भेद केवल इतना है कि यहाँ इस पर प्रेत सवार है। यह प्रेत स्वय सकीर्ण है क्योंकि इसका नीचे का भाग मनुष्य का और ऊपर का मोर का है। इसके आगे का तीसरा बैल भी दूसरे बैल के समान ही है परन्तु इसमें प्रेत अपने पूर्वोक्त सकीर्ण रूप में पीठ की बजाय बैल के कंधे पर आरूढ़ है।

---

१ वत्स—एक्सकेवेशन्स एट हड़प्पा ग्रन्थ २।

२ सम्भव है कि ये स्तम्भ दिव्य भवनों के द्योतक हैं जहाँ परलोक में मृतक निवास करता था।

३ वत्स—एक्सकेवेशन्स एट हड़प्पा ग्रन्थ २ फलक ६३ १५।

४ वत्स—एक्सकेवेशन्स एट हड़प्पा ग्रन्थ २ फलक ६२ ११।

५ वत्स—एक्सकेवेशन्स एट हड़प्पा ग्रन्थ २ फलक ६२ ११।

चौथे बैल में वृषाकार प्रेत समीरी बैल के साथ एकात्मता प्राप्त करके तद्रूप ही हो गया है। पहले और चौथे बैल के आकार में वस्तुतः कोई भेद नहीं है सिवाए इसके कि चौथे बैल की पीठ में से एक सितारा उभर रहा है जिसे प्रेत किरण रूपी डोरी से अपने पंजे में जकड़े पड़ा है। यह बात ध्यान देने योग्य है कि इसी प्रकार का सितारा तीसरे बैल और चौथे मोर की पीठ पर से भी निकल रहा है। शेष रिक्त स्थान सितारों और पत्तों की टुकड़ियों से भरा पड़ा है।

निचले स्तर के चित्रित ढक्कन—'कब्रिस्तान-एच' के निचले स्तर की कब्रों से मिले हुए मिट्टी के ढक्कन भी एक मनोरंजक उपलब्धि हैं। इन पर पशुओं और वनस्पतियों के विविध अभिप्राय तथा चित्र बने हैं। पशुओं में लम्बे और कुटिल सींगों वाले बकरे और मोर हैं। रिक्त स्थानों में प्रासंगिक गौण अभिप्रायों में मछलियाँ, सितारे, लहरिया रेखाएँ, संयुक्त पीपल के पत्ते आदि दर्शनीय हैं। इन ढक्कनों के मध्य में बने हुए चित्र वृत्ताकार पट्टियों से परिवेष्टित हैं। रेखाचित्रों में किरणमाली बिम्ब, सितारे, झालर आदि और वनस्पतियों में पीपल, खजूर, और संयुक्त पीपल के पत्ते हैं। इनमें निम्नलिखित चित्रित ढक्कन विशेषतः उल्लेखनीय हैं—

ढक्कन नं॰ ११ (फलक ११ क)—इस ढक्कन पर वृत्ताकार वलय के अन्तर्गत साथ-साथ बने हुए दो स्तम्भ हैं जिनमें से हर एक का शरीर एक दूसरे पर आरूढ़ चार पक्षियों का बना हुआ है। दाईं ओर के पक्षी दाईं ओर और बाईं के बाईं ओर मुँह किये एक दूसरे की पीठ पर बैठे हैं। सिन्धुकाल की कुम्भकला के अभिप्रायों में यह अलंकरण अद्वितीय है और इसका सम्बन्ध निनेवीय कुम्भकला के अलंकरणों से है। सिन्धु-प्रान्त में इसका प्रवेश निस्सन्देह पश्चिमी एशिया से हुआ था क्योंकि ऐसा दूसरा उदाहरण न तो मोहेंजो-दड़ो और न ही हड़प्पा में अभी तक मिला है[१]।

ढक्कन नं॰ १४—इस ढक्कन पर रेखा-मण्डित बिम्ब के अन्दर एक विचित्र संकीर्ण अभिप्राय है। भूमि में तीन मछलियाँ हैं और हर एक मछली के सिर पर एक पीपल का पत्ता और हर पीपल के पत्ते पर बैल का सिर है। मत्स्य-पंक्ति के दोनों ओर एक-एक छोटी मछली है (फलक ११ ख)[२]।

ढक्कन नं॰ १५—इस पर मध्य में दो रेखाओं की बनी हुई सीधी पट्टी है जिसके नीचे-ऊपर लहरिया रेखाओं द्वारा झालर का-सा अलंकरण बना है (फलक

---

१ वत्स—एक्सकेवेशन्स एट हड़प्पा खण्ड २, फलक ६४।
२ वत्स—एक्सकेवेशन्स एट हड़प्पा खण्ड ९, फलक ६४।
३ वत्स—एक्सकेवेशन्स एट हड़प्पा खण्ड २ फलक ६४।

१२ घ)[1]। इस पट्टी के नीचे और ऊपर रिक्त स्थान में मत्स्य-पक्तियाँ हैं। लहरिया रेखाओं से सीमित मध्यवर्ती अलंकरण सम्भवतः मत्स्यपूर्ण नदी का बोधक है।

ढक्कन नं. १७ और १८—इनमें से हर एक ढक्कने पर युग्म पत्तों वाला एक पीपल का पेड़ चित्रित है (फलक ११ च)[2]। ढक्कन नं. १८ पर प्रदर्शित पत्ते बहुत वास्तविक हैं परन्तु ढक्कन नं. १७ पर के विकृत और सकोनरे से दिखाई देते हैं। इनमें से एक वृक्ष के दोनों पार्श्वों में पक्षियों की पंक्तियाँ हैं और दूसरे के दोनों ओर संयुक्त पीपल के पत्ते हैं।

ढक्कने नं. १९, २२ और २४—इन सब ढक्कनों पर धनुषाकार रेखाओं के द्वारा बन्धन चार की तरह एक दूसरे से जुड़े हुए संयुक्त पीपल के पत्ते हैं (फलक ११ छ)[3]। दो ढक्कनों पर संयुक्त पत्तों के अतिरिक्त बिन्दुमय नोकीले मोलक और विहगावली के गौण अभिप्राय भी चित्रित हैं।

ढक्कना नं. २१—इस ढक्कने पर ताड़ की जाति का एक ऊँचा पेड़ है (फलक ११ ज)[4]। वृक्ष का काण्ड चार खड़ी रेखाओं का बना एक ढाँचा-सा है जिसके दोनों पार्श्वों में क्रम से ऊपर और नीचे को मुड़े हुए पत्तों के गुच्छे उभर रहे हैं। नांद की घपमूल चार खड़ी रेखाएँ चोटी पर मोड़दार हैं। वृक्षमूल से उभरते हुए पत्तों के गुच्छों का आकार सब-नांद नं. १४ पर चित्रित नांद जिसमें चार मछलियाँ तैर रही हैं से बहुत मिलता है। इस नांद के दोनों पार्श्व भी इसी प्रकार के चार-चार पत्तों के गुच्छों के बने हैं। इस समानता से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि यह अभिप्राय चार सीपों के बने हुए नहीं जैसा कि वत्स महोदय का विचार है किन्तु उस पेड़ के पत्तों के बने हैं जिसका चित्र ढक्कना नं. २१ पर दिया गया है।

'कब्रिस्तान-एच' की शैली के चित्रित ठीकरे—'कब्रिस्तान-एच' की चित्रकला के निम्नलिखित चित्रित ठीकरे, जो हड़प्पा के खण्डहर में अन्य ठीकरों के साथ पाए गए, बड़े महत्त्व के हैं। इन पर बने हुए चित्र 'कब्रिस्तान-एच' की संस्कृति पर प्रतिरिक्त प्रकाश डालते हैं—

ठीकरा नं. १—इस ठीकरे पर एक पशु (सम्भवतः बकरे) का पिछला भाग जिसके चारों ओर सितारे हैं शेष बचा है। पशु के पेट में साथ चार मछलियाँ चिमटी

1. वत्स—एक्सकेवेशन्स एट हड़प्पा ग्रन्थ २ फलक ६४।
2. वत्स—एक्सकेवेशन्स एट हड़प्पा ग्रन्थ २ फलक ६४।
3. वत्स—एक्सकेवेशन्स एट हड़प्पा ग्रन्थ २, फलक ६२।
4. वत्स—एक्सकेवेशन्स एट हड़प्पा ग्रन्थ २, फलक ६४।
5. वत्स—एक्सकेवेशन्स एट हड़प्पा ग्रन्थ २, फलक ६६।

हुई है मानो इसका मांस खा रही हो। इसी प्रकार का चित्र ठीकरा नं० ५ (फलक ११ ट) पर भी बना है जहाँ केवल एक ही मछली मोखाग्नि के पशु की पीठ के साथ चिपटी है।

ठीकरे नं० ३ और ४—इन ठीकरों पर बैल के समान किसी पशु का केवल मध्यभाग ही बचा है जिस पर बना हुआ बालों का कुंचित गुच्छा कूबड़ का भ्रम पैदा करता है (फलक १२ ट)[१]। ठीकरा नं० ३ पर बने हुए पशु के कूबड़ से एक पौधा सम्भवतः कमल का उग रहा है। कमल की डण्डियों में से एक के सिरे पर कली सी दिखाई देती है। इससे भी अधिक मनोरञ्जक ठीकरा नं० ४ है जिस पर बैल सरीखे किसी पशु का धड़ ही शेष है[२]। यहाँ भी कूबड़ पर से कमल का पौधा उग रहा है जिसकी बाहर की डण्डियाँ जो अन्दर की डण्डियों से छोटी हैं पीछे को मुड़ी हुई हैं। इनकी चोटियों पर कटोरियों के आकार के बीजकोष बने हैं। बैल की पीठ पर खड़ा मनुष्य कमल की लम्बी डण्डियों को हाथ में थामे है (फलक १२, ख)। एक और ठीकरे (नं० १२) पर किसी पशु के कूबड़ पर एक संकीर्ण नर-मयूर प्राणी खड़ा है जिसकी रोमश भुजाएँ मोर की पूँछ के समान हैं (फलक ११ म)। ये दोनों पूर्वोक्त ठीकरे इस बात के सूचक हैं कि मृतक बैल की पीठ पर सवार होकर परलोक की यात्रा कर रहा है और सम्भव है कि उसकी इस रोमहर्षण यात्रा में प्राण धारण करने के लिए उसके पास केवल कमल का बीजकोष ही एकमात्र पाथेय था। ठीकरा नं० १२ के बाएँ किनारे पर दो कमल डण्डियाँ कूबड़ से उभर रही हैं परन्तु खण्डित होने के कारण इसका अभिप्राय स्पष्ट नहीं है।

ठीकरा नं० १६—इस ठीकरे पर एक स्तम्भ का चित्र है जिसके दोनों पार्श्व पत्रान्वित दिखाई देते हैं (फलक १२, ड)। आकार में यह स्तम्भ पूर्वोक्त घट-भाँड नं० २१ पर बने हुए स्तम्भ (फलक १२, क) से बहुत मिलता है। भेद केवल इतना है कि इसके पार्श्वों से बजाय सर्पाकार कुटिल रेखाओं के पत्र निकल रहे हैं। सम्भव है कि घट-भाँड नं० १५ पर बने हुए कुंचित अलंकरण भी शायद किसी प्रकार के पत्ते ही हों।

ठीकरा नं० ४६—इस ठीकरे पर कूबड़ वाले बैल के सामने एक मनुष्य खड़ा

---

१ वत्स—एक्सकैवेशन्स एट हड़प्पा ग्रन्थ २ फलक ६५।
२ वत्स—एक्सकैवेशन्स एट हड़प्पा ग्रन्थ २ फलक ६५।
३ वत्स—एक्सकैवेशन्स एट हड़प्पा ग्रन्थ २ फलक ६५।
४ वत्स—एक्सकैवेशन्स एट हड़प्पा ग्रन्थ २ फलक ६६।
५ वत्स—एक्सकैवेशन्स एट हड़प्पा ग्रन्थ २, फलक ६६।

या तलवार हाथ में लिए पशु को मारने के लिए उद्यत खड़ा है (फलक ३१ ट)[1]। सम्भवतः मनुष्य उसी प्रकार सपंख नर-मयूर है जैसा कि घट-भांड 'एच २०६ (बी)' पर बना है। इसका समर्थन मनुष्य की रोमश भुजाओं और मोर के पंखों सरीखे उसके हाथों से होता है। सम्भव है कि यह चित्र मृतक की अन्त्यक्रिया के समय वृष-बलिदान का दृश्य हो।

और भी कतिपय ठीकरे हैं जैसे नं० २३ और २६, जिन पर कूबड़ वाले बैल के सिर पर धनुष की चाप के समान सींग दिखलाए गए हैं। नतोदर और उन्नतोदर चाप के आकार के सींगों वाले ये बैल निस्सन्देह दो प्रकार के भिन्न-भिन्न जाति के पशु हैं जो सम्भवतः भिन्न-भिन्न प्रान्तों में पाए जाते थे। ठीकरा नं० ६४ पर मोर की एक विचित्र आकृति है। इसका धड़ मोर का है परन्तु सिर मनुष्याकार सींगों वाले बैल का है। 'कब्रिस्तान-एच' शैली के कई एक ठीकरों पर विलक्षण मत्स्य पाए जाते हैं जिनके चित्र साथ के फलक में दिए गए हैं (फलक ३२ ठ-न)[2]।

वत्स महोदय ने ठीकरा नं० १८ को हड़प्पा की घरेलू कुम्भकला के उदाहरणों में सम्मिलित किया है (फलक ३१ ख)[3]। वस्तुतः यह ठीकरा 'कब्रिस्तान-एच' की शैली के किसी कलश का खंड है। इस पर चार सपंख नर-मयूर प्राणी एक दूसरे के साथ हाथ मिलाए दो बकरों के बीच खड़े हैं। घट भांड 'एच २०६ बी' पर बने हुए सपंख प्राणियों की तरह ये मूर्तियाँ भी मृतक के सूक्ष्म शरीर की प्रतीक हैं। ये भी पथ प्रदर्शक दो बकरों के साथ परलोक-यात्रा के पथ पर आरूढ़ प्रतीत होते हैं।

उपसंहार—क्योंकि पूर्वोक्त चित्र कब्रिस्तान के घट भांडों पर बने हैं इसलिए विश्वासरूप से कहा जा सकता है कि वे केवल अलंकरण मात्र ही नहीं अपितु किसी गूढ़ अभिप्राय के द्योतक हैं। मृतक के पारलौकिक जीवन के सम्बन्ध में तत्कालीन लोगों का जो दृढ़ विश्वास था उसकी स्पष्ट झलक इन चित्रों में मिलती है। इसमें अणुमात्र सन्देह नहीं कि 'कब्रिस्तान-एच' के लोगों का परलोक में अटल विश्वास था और उनकी यह धारणा भी थी कि मृत्यु के अनन्तर मृतक की आत्मा नाना प्रकार की योनियों में भ्रमण करती है। वे इस बात में भी श्रद्धा रखते थे कि मरने के बाद मनुष्य की आत्मा परपार-मार्ग में अनेक प्रकार की बाधाओं को झेलती हुई अन्त में वैवस्वतयम के दिव्य लोकों में निवास करती है। इन दिव्य लोकों में पूर्वलोक नदियाँ बहती थीं स्निग्धछाय सुन्दर महाविटप थे और वहुरण से आलोकित वायु

---

1. वत्स—एक्सकेवेशन्स एट हड़प्पा ग्रन्थ २ फलक ६६।
2. वत्स—एक्सकेवेशन्स एट हड़प्पा ग्रन्थ २ फलक ६६।
3. वत्स—एक्सकेवेशन्स एट हड़प्पा ग्रन्थ २ फलक ६६।

मण्डप में कलरव करती हुई दिव्य मोरनियाँ विहार करती थीं। यहाँ मृतक की आत्मा शाश्वत परमानन्द और शान्ति में लीन निवास करती थी। इन लोकों में पहुँचने के लिए जीव को अज्ञात कान्तारों में से चलना पड़ता था जो अनेक प्रकार की विघ्न-पिशाचों और उपद्रवों से संकुल थे। रास्ते में इसे एक अति गम्भीर भयानक नदी भी पार करनी पड़ती थी जहाँ न कोई नाव और न ही मल्लाह थे। यात्रा लम्बी और अथाह थी और रास्ते में खाने-पीने की कोई वस्तु भी नहीं थी। इसलिए मृतक के जीवित सम्बन्धियों का यह परम कर्तव्य था कि वे यात्री को उन सब वस्तुओं से सुसज्जित करते जिनसे उसकी यात्रा सुगम हो जाती। मृतक के पारलौकिक जीवन में इस प्रकार का विश्वास 'कब्रिस्तान-एच' के शव-भांड 'एच-२ ६ बी' के चित्रों में स्पष्ट रूप से प्रतिबिम्बित है। इसमें दो बैलों के मध्य में स्थित मृतक के सूक्ष्म शरीर के साथ भैंसे के सींगों वाला एक विशालकाय बकरा और इसी प्रकार के सींगों वाले दो मोर भी हैं। जैसा कि कई एक कब्रों में उपलब्ध हुआ है कभी-कभी मृतक के उपलक्ष्य में एक बकरा भी बलिदान किया जाता था और उसे मृतक के साथ कब्र में दबाया जाता था। परलोक के दुर्गम मार्ग में विश्वस्त मार्ग-दर्शक बकरा मृतक का बहुत उपयुक्त पथ प्रदर्शक समझा जाता था। कभी-कभी इसी उद्देश्य से गोजाति के पशु की बलि भी दी जाती थी। इस मार्ग का संरक्षक एक कुत्ता था जो यम के श्याम और कर्बुर नाम के दो कुत्तों की तरह मृतक के मार्ग में बाधा डालता था। सुमेर और मिस्र के प्राचीन लोग भी पितृलोक में विश्वास रखते थे। उनके विचार में यह लोक एक दूरस्थ द्वीप था जहाँ मृतक का जीव एक द्विमुख नाविक की सहायता से ही पहुँच सकता था।

'कब्रिस्तान-एच' के लोगों की धारणा के अनुसार मृतक का जीव तब तक पितृलोक में प्रवेश नहीं कर सकता था जब तक कि उसका सूक्ष्म शरीर अथवा मयूराकार में बन जाता था। इस आत्मिक परिवर्तन के बिना शाश्वत स्वर्गानन्दमय लोक में उसका प्रवेश असम्भव था। शव-भांड एच-२ ६ (ए) और २ ६ (बी) पर बने हुए चित्र बतलाते हैं कि मोर इहलोक और परलोक में सम्बन्ध जोड़ने का एकमात्र साधन था। शव-भांड 'एच-२ ६ ए' पर बने हुए तीन मोर मृतक को अपने शरीरों में धारण किये महाप्रकाश से आलोकित अन्तरिक्ष में उड़ रहे हैं, और शव-भांड २ ६ बी' पर यही दिव्य पक्षी पशुओं के बीच मृतक के आगे-पीछे फुदकते हुए परलोक मार्ग में उनके सहायक बन रहे हैं। मटका नं० ७७५१ (ई) पर इन पथ-प्रदर्शकों का विषय

---

१ ऋग्वेद और अथर्ववेद में उल्लेख है कि मयूरी में विष का नाशने और विष-दोष दूर करने की अद्भुत शक्ति है।

प्रदर्शन है जहाँ संकीर्ण बैल पर आरूढ़ नर-मयूराकार प्रेत के आगे-आगे मोर उड़ रहे हैं। इस चित्र में प्रेत का वाहन न केवल सर्वांग अथवा अर्धांग मोर ही है अपितु प्रेत का शरीर भी ऊर्ध्वभाग में मोर और अधोभाग में मानुषी है। इससे स्पष्ट है कि प्रेत के साथ बैल और मोर का विशेष सम्बन्ध था और ये दोनों जीव उसके वाहन तथा पथ-प्रदर्शक समझे जाते थे। इस बात का समर्थन पूर्वोक्त उन चित्रों से भी होता है जो ठीकरा नं० १२ और १३ पर बने हैं। इनमें नर-मयूराकार मृतक बैल के कूबड़ पर खड़ा दिखाया है। मृतक की अन्त्यक्रिया के साथ इस प्रकार घनिष्ठ सम्बन्ध रखने के कारण ही कब्रिस्तान के बर्तनों पर मोर के चित्र अकेले अथवा अन्य अलंकरणों के साथ इतनी बहुतायत से पाए जाते हैं।

इन चित्रों में इस बात का प्रमाण भी मिलता है कि पितृलोक में प्रविष्ट मृतकों की आत्माएँ पशुपक्षियों[1] और नाना प्रकार के क्षुद्र जन्तुओं के शरीरों में वहाँ निवास करती थीं। अतएव 'कब्रिस्तान-एच' के बर्तनों पर मृत प्राणियों की आत्माएँ नावों में सुख से निवास करती हुईं मछलियों तथा विद्युदर्भ पोलकों आदि के रूप में दिखलाई गई हैं। कई चित्रों में ये नावें 'भु' आकार के और कई में 'वी' प्रकार के आकार के हैं। इनके पार्श्व वक्र रेखाओं, पत्तों और वृक्ष-शाखाओं से बने हैं। एक मटके पर ये नावें मयूर-शीर्षक हैं[2] और दूसरे में इसके पार्श्व चार वक्र पत्तों के बने हैं[3] और इसके अन्दर मछलियाँ हैं। मेरे विचार में छोटे-छोटे विद्युदर्भ पोलक और मछ जो इन नावों अथवा टंकियों में पाए जाते हैं भिन्न दशा में विद्यमान मृतकों की आत्माओं के प्रतीक हैं। जब-नॉड नं० एच २४१ (ए) पर मैं विद्युदर्भ पोलक और मछ उड़ते हुए मोरों के पंखों और पूँछों के साथ चिमटे हुए इस बात को व्यक्त करते हैं कि मोर उन्हें पितृलोक में पहुँचा रहे हैं। विद्युदर्भ पोलक जब एक दूसरे पर राशि के रूप में चित्र होते हैं तो अण्डों के समान प्रतीत होते हैं।

यह भी उल्लेखनीय है कि बहुत से चित्रों में बने हुए सितारों के अन्दर या तो विद्युदर्भ पोलक अथवा अण्डाकार अभिप्राय होता है। इनके चित्रण से क्या कब्रिस्तान के लोगों का यह अभिप्राय था कि सुमेरियन और मिस्री लोगों की तरह वे भी इन ग्रहों में मृतकों की आत्माओं का निवास मानते थे। मैं समझता हूँ कि पोलकों अथवा सितारों

---

१ मेसोपोटेमिया के कथानकों में वर्णन मिलता है कि जब इश्टर देवी तामिस्र अधोलोक में उतरी तो उसने वहाँ मृतकों की आत्माओं को पक्षिरूप में निवास करते देखा। (मैकेंजी)

२ वत्स—एक्सकैवेशन्स एट हड़प्पा भा० २ फलक ६२ ४।

३ वत्स—एक्सकैवेशन्स एट हड़प्पा भा० २ फलक ६१ १६।

और मकड़ियों के ऊपर मे जो चित्र दिखलाये गये हैं वे शरीरगत विशिष्ट जीवन-शक्ति अथवा जीवन-तत्त्व के सूचक हैं। इन चित्रों के यथार्थ अध्ययन के लिये हमें इनके हर एक विवरण का महत्त्व देना चाहिये और उनके भूतार्थ को जानने म यत्नशील होना आवश्यक है। ये कुछ विवरण कब्रिस्तान की कुम्भकला पर एक ही क्रम मे बार बार दुहराए गये हैं इसलिये वे निरर्थक अलंकरण मात्र नहीं हैं। उनमे मृतक के पारलौकिक जीवन के सम्बन्ध मे तत्कालीन लोगों के परम्परागत दृढ़ विश्वास और धारणाएँ अन्तर्हित हैं।

पूर्वोक्त समालोचना के आधार पर कहा जा सकता है कि यद्यपि 'कब्रिस्तान-एच' के लोग अपने मुर्दों को कब्रों मे गाड़ते थे तथापि यमलोक म विश्वास नहीं करते थे इसके विपरीत मुर्दों का अग्निदाह करने वाली जातियों की तरह उनका विश्वास था कि मरणानन्तर मनुष्य की आत्मा यमलोक मे नहीं किन्तु उन्नत दिव्यलोक सम्भवत सूर्यलोक मे गमन करती है ।

'कब्रिस्तान-एच' की कुम्भकला पर प्रदर्शित अभिप्रायों मे पीपल के वृक्ष का उच्च स्थान है। सिन्धुकालीन लोग इसे पवित्र ही नहीं किन्तु शाश्वत ज्ञान का देने वाला तरुवर भी मानते थे। इसीलिये यह वृक्ष सिन्धुकालीन मुद्राओं और कुम्भकला पर प्रचुर मात्रा मे मिलता है। परन्तु प्रतीत होता है कि 'कब्रिस्तान एच' के लोग भी इसमे वैसी ही पूज्य भावना और निष्ठा रखते थे क्योंकि इस क्षेत्र से उपलब्ध घट-भांडों तथा अन्य बर्तनों पर इसके अनन्त चित्र पाये गये हैं।

'कब्रिस्तान-एच' के निचले स्तर के बर्तनों पर जो चित्र मिले हैं उनमे मृतक का परलोक-यात्रा के दृश्य नहीं हैं केवल वृक्ष लता पल्लव पशु, सितारे, मछली आदि के साधारण चित्र ही पाये जाते हैं।

सूर्य-लोक मे विश्वास—सिंधु युग के लोगों का विश्वास था कि मरने के अनन्तर प्रेत सूर्यलोक की ओर प्रस्थान करता है। परन्तु इस लोक मे प्रवेश करने के पहले आवश्यक था कि प्रेत का शरीर प्रथम मोर के आकार मे बदल जाता। मोर

---

१ ऋग्वेद मे स्वर्ग-सुख के सम्बन्ध मे वर्णन मिलता है कि स्वर्ग मे शाश्वत ज्योति और प्रवहमान सरिताएँ हैं। वहाँ स्वच्छन्द विहार दिव्य भोजन परम सन्तोष आह्लाद आनन्द और सब कामनाओं की सिद्धि है।

(मैक्डानेल-वैदिक माइथालोजी)

पितृयाण के द्वारा प्रदर्शित मार्ग का अनुसरण करता हुआ जीव शाश्वत आलोक वाले लोक मे पहुँचता है और उसका शरीर दिव्य प्रभामण्डल से आलोकित होता है।

(अथर्व ११ १)

फलक ११

निस्सन्देह मर्त्यलोक और सूर्यलोक के बीच सम्बन्ध जोड़ने में विष्णु मुख्य समझा जाता था। ऊपर के वर्णन में दिखलाया गया है कि घट-भांडों पर बने हुए चित्रों में कहीं तो मोर मृत को अपने शरीर में उठाये सूर्यलोक की ओर उड़ रहा है और कहीं पथ प्रदर्शक के रूप में परलोक-यात्रा में उसका सहायक है। घट-भांड ७४११ है पर प्रेत सर्पशीर्ष-शरीर बैलों पर सवार है और मोर उनके आगे पीछे फुदक रहे हैं (फलक १ ख)। ऐसा मालूम होता है कि किसी न किसी कारण से बैल मोर अश्वत्थ और कमल सूर्यलोक से सम्बन्ध रखते थे।

बहुत से घट-भांडों पर किरण-माली बिम्ब बने हैं जो स्पष्ट रूप से सूर्यबिम्ब के प्रतीक हैं। मोर का सूर्य के साथ साहचर्य लोक-प्रसिद्ध है क्योंकि नाना रंग के चन्द्रकों से सुशोभित नाचते मोर के वृत्ताकार पंख हठात् सौर-बिम्ब का स्मरण कराते हैं। संसार में इस सरीखा दूसरा कोई पक्षी नहीं है जिसका सम्बन्ध सूर्य से जोड़ा जा सके। इसीलिये कई जातियों के लोग इसे सौर-पक्षी (सन् बर्ड) कहते हैं और कई इसके प्रति पूज्य भावना भी रखते हैं।

सिन्धु युग में अश्वत्थ भी सूर्य से सम्बन्ध रखता था। सिन्धु मुद्राओं पर अश्वत्थ देवता पीपल के शीर्षक तोरण के नीचे खड़ा दिखलाया है। तोरण के शरीर पर पीपल के पत्ते सूर्य की किरणों के समान बाहर को निकल रहे हैं (फलक १६ क)। सिन्ध में चन्हूदड़ो के टीले की खुदाई में जो ठीकरे मिले उनमें से कई पर बने हुए सूर्य बिम्बों पर किरणों की बजाय निकलते हुए पीपल के पत्ते हैं। इन बिम्बों की ओर बड़ी उत्कंठा से देख रहे हैं (फलक ११ ख)। कई ठीकरों पर पीपल की शाखाओं पर बैठे मोर पत्तों पर ठोंगें मारते दिखाई दे रहे हैं। सम्भवतः वे वृक्ष के साथ चिमटे हुए विष-कीटों को हटाकर इसकी रक्षा कर रहे हैं (फलक ११ क)। ऋग्वेद में वर्णन आता है कि मोर में विष दूर करने की अपूर्व शक्ति है (१ २४)। भारत के प्राचीन साहित्य में "सूर्योदय पर कमल-वन का खिल उठना और सूर्यास्त पर उसका मुँद जाना" आदि उल्लेख अनेक बार मिलते हैं। सिन्धु युग के लोग कमल के इस गुण से अच्छी प्रकार परिचित थे। इसीलिये उन्होंने सूर्य के साथ कमल के सम्बन्ध का प्रदर्शन किया है।

चिरकाल से बैल भारत में पूज्य पशु माना जाता है। वैदिक काल में इसे महोक्ष अथवा महर्षभ कहते थे और लोग इसके प्रति सद्भावना रखते थे। पौराणिक युग में यही पशु शिववाहन नन्दी हुआ। सिन्धु युग में भी यह किसी देवता का वाहन या प्रिय पशु था। क्योंकि अश्वत्थ-देव सिन्धु-काल का परमदेवता था इसलिये यही अनुमान लगाना उचित है कि पालतू पशुओं में बलिष्ठ यह भव्य पशु अश्वत्थ देवता से ही सम्बन्ध रखता था और अश्वत्थ देवता की सूर्यदेव से एकात्मता सम्भव है।

अथर्ववेद में वर्णन मिलता है कि उस युग में मृतक के उद्देश्य से बैल की बलि दी जाती थी सम्भवतः इसलिए कि मृतक उस पर सवार होकर परलोक की यात्रा कर सके। हड़प्पा के शव भांडों पर वस्तुतः ऐसे चित्र हैं जिनमें प्रेत वृषारूढ़ होकर परलोक (सूर्यलोक) की यात्रा कर रहा है। ऋग्वेद में उल्लेख है कि मरने के अनन्तर मनुष्य की आत्मा जल वनस्पति वस्तु आदि में संक्रमण करती है। इस कल्पना का समर्थन हड़प्पा के शव भांडों पर बने हुए चित्रों से होता है जैसा कि ऊपर वर्णन किया जा चुका है। ऋग्वेद में एक दिव्य महावृक्ष का उल्लेख भी है। अथर्ववेद के अनुसार यह महावृक्ष पीपल की जाति का पेड़ था। अश्वत्थ भी इसी जाति का पेड़ है क्योंकि इसे वनस्पति-शास्त्री भी 'फाइकस रिलिजियोसा' कहते हैं। वैदिक साहित्य में यह भी कथन आता है कि स्वर्ग के रक्षक (श्वान) और पूषन् देवता का निर्वाण-गति वाला बकरा परलोक-यात्रा में मृतक के मार्ग एवं पथ-प्रदर्शक (अजाप्य) होते थे। पूर्वोक्त सब भाव तथा कल्पनाएँ 'कब्रिस्तान-एच' के शव-भांडों पर चित्रों के रूप में अंकित हैं।

सिन्धु युग के भाषा व जातीयता के सम्बन्ध में अभी तक बहुत थोड़ी जानकारी प्राप्त हो सकी है। इसलिए इस युग के लोगों और वैदिक आर्यों की संस्कृतियों में यहाँ कहीं भी परस्पर सादृश्य अथवा वैषम्य के लक्षण मिलें उन पर बहुत सावधानी से विचार करने की आवश्यकता है। इस विधि से इन संस्कृतियों का अध्ययन करने से और भावी अनुसन्धान की सहायता से बहुत सम्भव है कि निकट भविष्य में सिन्धु सभ्यता की जटिल समस्या सुलझाई जा सकेगी।

कब्रिस्तान-आर ३७

यह कब्रिस्तान स्थानीय पुरातत्त्व संग्रहालय से कुछ दूर पश्चिमोत्तर में स्थित है। सन् १९३७ में इसकी उपलब्धि के अनन्तर पुरातत्त्व-शास्त्री श्री एच० के० बोस की सहायता से मैंने चार वर्ष तक लगातार यहाँ खुदाई कराई जिसके फलस्वरूप पचास के लगभग प्रागैतिहासिक शव प्रकाश में आये। सिन्धु-सभ्यता के निर्माता हड़प्पा के आदिवासियों का यही एक कब्रिस्तान है जहाँ उनकी शव-विसर्जन-विधि तथा अन्त्यक्रिया के सम्बन्ध में प्रमाण मिलते हैं। सन् १९४६ में डा० व्हीलर ने इस क्षेत्र के स्तरज्ञान के लिए 'कब्रिस्तान-एच' से सटकर 'आर ३७' तक परीक्षार्थ एक लम्बा खात खुदवाया जिससे मेरे इस विचार[1] का समर्थन हो गया कि 'कब्रिस्तान-आर ३७

१ यह विचार मैंने अपनी उस रिपोर्ट में व्यक्त कर दिया था जो सन् १९४२ में डा० व्हीलर के आने पर मैंने उन्हें लिखकर दी थी।

फलक १४ हड़प्पा—कब्रिस्तान आर १७ से उत्खात शवों के साथ रखे हुए बर्तन आदि

दूसरे कब्रिस्तान से प्राचीनतर तथा उन लोगों की कृति थी जो हड़प्पा की प्राचीन सभ्यता के निर्माता थे। इसके विपरीत 'कब्रिस्तान-एच' उन विजातीय लोगों की कृति थी जो हड़प्पा की प्राक्-सभ्यता के ह्रास काल में यहाँ आकर बस गये थे। इस तथ्य की पुष्टि इस क्षेत्र की स्तर रचना से स्पष्ट होती है। 'कब्रिस्तान-एच' के पूर्वोक्त दो स्तर जिनमें क्रमशः घट और सर्वांग मुर्दे मिले 'आर ३७' की कब्रों वाले स्तर के ऊपर स्थित हैं। सन् १९४६ की खुदाई में डा० व्हीलर को कब्रिस्तान-आर ३७ में दस कब्रें और मिली थीं। इनमें से एक कब्र में ऐसा मुर्दा था जिसे आज से साढ़े पाँच हजार वर्ष पहले चटाई में लपेटकर कब्र में लिटाया गया था। इस प्रकार मुर्दा गाड़ने की प्रथा तीसरी सहस्राब्दी ई० पू० की सुमेरियन कब्रों में साधारण थी परन्तु सिन्धु के काठे में ऐसी कब्र केवल यही एक मिली है।

डा० व्हीलर की पूर्वोक्त खुदाई से यह भी पता लगा कि प्रारम्भ में 'कब्रिस्तान आर ३७' शहर से दक्षिण की ओर कुछ दूरी पर एक ऊँची भूमि पर स्थित था। इस कब्रिस्तान और शहर (वर्तमान टीला 'ए' और 'बी') के बीच निम्नतल भूमि का एक बड़ा खड्ड था। जब 'कब्रिस्तान-आर ३७' में मुर्दे गाड़ना बन्द हो गया और कुछ काल के बाद इस 'शव-स्थान' की स्मृति भी लुप्त हो गई तो लोगों ने यहाँ कूड़ा-करकट फेंकना शुरू कर दिया। अनन्तर 'कब्रिस्तान-एच' के मुर्दे गाड़ने के पहले कूड़ा-करकट की एक ऐसी ही दूसरी तह भी इस स्थान में भर दी गई थी। यद्यपि डा० व्हीलर को अपनी खुदाई में दूसरी तह का एक भी मुर्दा इस स्थान में नहीं मिला फिर भी स्तर-रचना से यह स्पष्ट हो गया कि दूसरे स्तर का कब्रिस्तान भी कूड़ा-करकट के भराव में ही बनाया गया था और इसलिये वह भी 'आर ३७' से अर्वाचीन था।

'कब्रिस्तान-आर ३७' में जो सत्तावन कब्रें खोदी गईं उनमें से चार में सर्वांग मुर्दे के चार कब्रें उत्तर-काल में तोड़-फोड़ दी गई थीं और दो कब्रें आधी ही खद सकी थीं। अठारह कब्रों की समीक्षा से मालूम हुआ था कि इन स्थानों पर नीचे की प्राचीनतर कब्रें उत्तरकालीन कब्रों के खोदने से अस्त-व्यस्त एवं खण्डित हो गई थीं और आठ कब्रों की परिस्थिति से प्रतीत होता था कि इसी स्थान पर ऊपर नीचे भिन्न भिन्न कालों में तीन बार कब्रें खोदी गई थीं जिससे नीचे की कब्रों में बहुत गड़बड़ हो गई थी। फिर भी स्तर-परीक्षा से यह स्पष्ट था कि 'कब्रिस्तान-आर ३७' एक ही स्तर से सम्बन्ध रखता था और प्रारम्भ से अन्त तक निरन्तर प्रयोग में आता रहा।

साधारणतः सिर को उत्तर की ओर करके मुर्दे को कब्र में लिटाते थे कभी दाएँ और कभी बाएँ पार्श्व के बल। एक कब्र में शव का सिर दक्षिण की ओर था। कब्रें भिन्न-भिन्न नाप की थीं। लम्बाई में ९ से १२ फुट चौड़ाई में २.२ से ६ फुट और गहराई में २ से ३ फुट तक थीं। कब्र सिर की ओर चौड़ी बनाई जाती थी

जिसके सिर के पास बहुत से बर्तन रखे था एक। मुर्दे के साथ रखे हुए बर्तनों की संख्या चालीस तक थी। अधिकांश बर्तन उसी शैली के थे जैसे कि हड़प्पा नगर के दूसरे भागों में पाए गये थे (फलक १८ क ज)।

कई कब्रों में मुर्दों के शरीरों के पास कुछ भूषण भी पड़े पाए गये। इनमें जड़िया पत्थर के मनकों से गुथे हुए हार तथा पांजेबें कान की बालियां शंख की चूड़ियां और अंगूठी आदि सम्मिलित थे। एक मानव-पंजर के दाएँ हाथ की मध्यमिका अंगुली में तांबे की अंगूठी थी। मिट्टी के बर्तनों तथा भूषणों के अतिरिक्त शृंगार की वस्तुएं भी कब्र की सामग्री का अंग थी। सन १९३७ से १९४१ तक जितनी कब्रें खोदी गई उनमें बारह ऐसी थी जिनमें हर एक में तांबे का दर्पण मिला था (फलक १४ क)। कई कब्रों में सीपियां अंजन-शलाकाएँ और शंख के चम्मच भी पाए गये। कई मुर्दों के साथ पशुओं की हड्डियां भी मिली थी। एक कब्र में मुर्गे की हड्डियों के अतिरिक्त मुर्दे के पाँव के पास मिट्टी का दिया भी पड़ा था।

१०

वास्तु-कला

पहले निर्देश किया गया है कि ईंटों की लूट-मार के कारण हड़प्पा के टीलों में बहुत कम इमारतें उपलब्ध हुई थीं। प्रागैतिहासिक काल से लेकर सन् १९१८ तक लोग हड़प्पा के टीलों से करोड़ों ईंटें निकालते रहे। सबसे अधिक लूट सन् शताब्दी के मध्य में हुई जब लाहौर-कराची रेलवे लाईन बनाने के लिए ठेकेदारों ने लाखों मन ईंट-रोड़ा यहाँ से निकालकर उससे रेल की पटरी तैयार की। अतः स्वाभाविक थी कि हड़प्पा के टीले जिनमे उत्खनकर्ताओं को असंख्य बहुमूल्य प्राचीन वस्तुएँ उपलब्ध हुई इमारतों से प्रायः शून्य ही पाए गये। इसके विपरीत मोहेंजो-दड़ो के खंडहर में अनेक सुरक्षित एवं दर्शनीय इमारतें प्रकाश में आई है। बस्ती से दूर बयान में स्थित होने के कारण न टीले मनुष्य का लूट-खसूट का शिकार न बन सके। इसके फलस्वरूप यहाँ दो-तीन मंजिल ऊँचे पक्के मकानों की पंक्तियाँ टूटी-फूटी दशा में भी दर्शक को चकित किए बिना नहीं रहती। उन्हें देख 'सरस्वती चरित' में वर्णित उन विख्यात नगरों का स्मरण हो उठता है जो दैवी शाप से एक रात में उजाड़ हो गये थे। अन्य सामुद्रिक विलक्षणताओं की तरह हड़प्पा और मोहेंजो-दड़ो की वास्तु-कला भी एक समान थी।

नगर-योजना— हड़प्पा का प्राचीन नगर जो विस्तार में मोहेंजो-दड़ो से कुछ बड़ा था योजना में समान शैली का था। इसके नगर बाजार और गली-कूचे भी उत्तर से दक्षिण और पूर्व से पश्चिम की सेध में बने थे। इसका आभास टीलों के मध्यवर्ती उन तंग रास्तों से होता है जिन्हें अब भी स्थानीय लोग बैलगाड़ियों के यातायात के लिए प्रयोग में लाते हैं। ये संकुचित रास्ते जो प्रागैतिहासिक काल के राजपथों और वीथियों के अवशेष हैं साधारणतः पक्षपात की मुख्य दिशाओं का अनुसरण करते है। मोहेंजो-दड़ो की तरह हड़प्पा के बाजार और गली कूचे भी डोर की तरह सीधे थे और इनके फर्श भी कच्चे बने थे। इमारतें प्रायः बाहर से सादी अलंकरण रहित और बिना खिड़कियों के थीं। मकानों के छत चिपटे होते थे और लकड़ी के बल्लों चटाइयों और घास-फूस के बनाए जाते थे। खुदाई से प्राप्त पक्की मिट्टी और पत्थर की जालियों के टुकड़ों से विदित होता है कि कई मकानों में सम्भवतः रोशनदान भी थे। कुछ इमारतों की बुनियादी दीवारों की असाधारण मोटाई से पता चलता है कि

ख

क

ग

घ

ङ

च

छ

फलक १८ हड़प्पा के प्रसिद्ध वास्तु

प्रारम्भ में वे शायद दोमंजिले या तिमंजिले बनाये जाते थे। सिन्धु-निवासियों को डाट दार मेहराब बनाना नहीं आता था। दरवाजों और नालियों को छतने के लिए उसकी बजाय वे कनिया-मेहराब का प्रयोग करते थे जिसका सम्भवतः मोहेंजो-दड़ो के वास्तु पक्षों से होता है। अच्छी इमारतों की दीवारें नीचे से चौड़ी और ऊपर से क्रम प्रकार की ओर बैसी हुई बनाई गई थीं।

हड़प्पा और मोहेंजो-दड़ो के लोगों को गोल खम्भा बनाना नहीं आता था यद्यपि सुमेरियन लोगों को इसका भली प्रकार ज्ञान था। बजाय इसके वे चौपहल खम्भे का प्रयोग करते थे। सम्भवतः सिन्धु के काठे में डाटदार मेहराब या गोल खम्भा बनाने की आवश्यकता कभी पैदा ही नहीं हुई, क्योंकि इस प्रान्त के जंगलों में छत और खम्भों के लिए बड़े नाप की लकड़ी पर्याप्त मिल सकती थी। सम्पन्न तथा मध्यम श्रेणी के लोगों के घर पक्की ईंटों (११×५.५×२.५ इंच) के बने हैं। इस नाप की ईंटें (फलक १५, ८) हड़प्पा और मोहेंजो-दड़ो के सब स्तरों में सिन्धु-सभ्यता के समस्त जीवन-काल में प्रारम्भ से अन्त तक पाई जाती हैं। इसलिए सिन्धु प्रान्त में ईंटों के आकार से किसी स्तर अथवा इमारत के काल का अनुमान लगाना सम्भव नहीं। इस विषय में सिन्धु-सभ्यता सुमेरियन-सभ्यता से भिन्न है। सुमेरियन काल के टीलों में जब कभी ईंटों के आकार में परिवर्तन दृष्टिगोचर हुआ तो उसका तात्पर्य प्रायः 'राज्य-विप्लव' समझा जाता था।

कभी-कभी कुओं की चुनाई में खिड़की के आकार की और स्नानागारों के फर्शों में तपाई और घिसी हुई छोटे आकार की ईंटों का व्यवहार भी किया जाता था। ईंटों की चुनाई गारे से होती थी परन्तु विशेष विशेष इमारतों में जलस्राव रोकने के लिए राल और शिलाजीत (गिरि पुष्पक) भी काम में लाए जाते थे। इन दोनों द्रव्यों की खानें सीबी से १२ मील पूर्व को किर्थर पर्वतावली में आज भी पाई जाती हैं। ईंटें बनाने के लिये चिकनी मिट्टी नदी पुलिन से ली जाती थी और बनाने की विधि ठीक उसी प्रकार की थी जैसी कि आजकल भी पंजाब और सिंध के पथेरे प्रयोग में लाते हैं। वे लकड़ी के साँचों में उतारी जाती थीं और सूख जाने पर बन्द भट्टियों में पकती थीं। प्राचीन भट्टियों के कुछ उदाहरण हड़प्पा और मोहेंजो-दड़ो के खण्डहरों में मिले हैं। अधिकांश पक्की ईंटें उत्तम लाल रंग की हैं और परस्पर टकराने पर धातु की सी टंकार देती हैं।

उन्नत नाली-प्रबन्ध—सिन्धु-वासियों के उन्नत जीवन और स्वास्थ्य-रक्षा विज्ञान का दृढ़ प्रमाण उनका उत्तम नाली प्रबन्ध था। प्रायः सभी निवासगृहों में बड़े तथा बारिशी पानी के निकास के लिए नालियाँ थीं जो पानी को गली की नाली में ले जाती थीं। गली की नालियाँ बाजार की बड़ी नाली में और बाजार की बड़ी

नालियाँ कमीजोज नाले में मिलकर नगर के मल को शहर के बाहर ले जाती थीं। छोटी और बड़ी नालियों में कहीं-कहीं हौज बने होते थे जहाँ पानी में मिली हुई ठोस वस्तुएँ नीचे बैठ जाती थीं और गन्दा पानी बरोज-मोज नाले बह जाता था। समय-समय पर इन हौजों को साफ करने का भी प्रबन्ध था। नालियों के फर्श पक्के थे और यथासाध्य रोकने के लिए इनकी दरारों में कहीं-कहीं जिप्सम और चूने की टीप भी लगाई गई थी। छतों पर से बरसाती पानी का निकास मकानों की दीवारों में बने हुए परनालों अथवा गृह-नालाबद्ध पकी मिट्टी की नलिकाओं (फलक १६ ख) के द्वारा किया जाता था।

हड़प्पा और मोहेंजो-दड़ो की सभ्यता में निचले स्तरों की इमारतें ऊपर के स्तरों की इमारतों से बहुत उत्कृष्ट हैं। अर्थात् प्रारम्भिक और मध्ययुग की इमारतें सुयोजित विन्यास एवं ठोस बनी हैं परन्तु उत्तरकाल की वास्तु-कृतियाँ भद्दी व दुर्बल और अधूरी हैं। इससे सिद्ध होता है कि सिन्धु-सभ्यता के जीवन में पहले दो युग इस सभ्यता का अभ्युदय काल था परन्तु उत्तरकाल में वह धीरे-धीरे अवनति की ओर मुड़ रही थी। अन्तिम काल में प्राचीन विशाल एवं सुदृढ़ मकान लुप्त होना शुरू हो गये और उनकी जगह छोटे और दुर्बल मकान बनाए जाने लगे। विशाल मकानों का छोटे-छोटे भागों में विभाजन और ईंट पकाने की भट्ठियों का जो पहले शहर के बाहर थीं नगर के अन्दर आ जाना इस बात का प्रतीक है कि सिन्धु-सभ्यता के अन्तिम काल में नगरपालिका का नियन्त्रण शिथिल हो गया था। तत्कालीन कंकाल-पुंज इस बात के साक्षी हैं कि उस समय के हड़प्पा निवासी निर्धन तथा श्रमजीवी वर्ग के थे। मोहेंजो-दड़ो के टीलों की स्तर रचना से पता लगता है कि उस नगर के जीवन में कम से कम दो बार बाढ़ प्रकोप का संकट आया था। इनमें से एक मध्यकाल के अन्त में और दूसरा उत्तरकाल के अन्त में आया। मालूम होता है कि दूसरे बाढ़-प्रकोप ने जन-धन की भयंकर हानि की और उत्तरकाल की सभ्यता को प्रायः अस्त-व्यस्त कर दिया। इस घोर संकट के कारण उच्च तथा मध्यम श्रेणी के व्यापारी और दूसरे लोग इस स्थान को सदा के लिये त्याग गए थे। केवल निर्धन श्रमजीवी ही वहाँ टिके रहे[1]।

हड़प्पा की जीवन कथा भी इसी प्रकार की है। इस खण्डहर की आन्तरिक स्तर रचना से सिद्ध हो गया है कि जब 'टीला ए-बी' के चारों ओर दुर्ग प्राकार का निर्माण हुआ तो यह स्थान भयंकर बाढ़ों का आखेट बना हुआ था। बाढ़ों का पानी समुद्रतल-रेखा ३४ फुट पार करता था जैसा कि प्राकार की नींव के नीचे नदी पंक से

१ मैके—फर्दर एक्सकेवेशन्स खंड १, पृष्ठ १ ६।

प्रमाण से स्पष्ट है। इस समय शहर सिकुड़ कर केवल ऊँचे टीलों पर ही सीमित हो गया था। पारिस्थितिक साक्षिता स्पष्ट बतलाती है कि इन दिनों खण्डहर के निम्न तल क्षेत्रों में मनुष्य-जीवन असह्य हो चुका था। कई शताब्दियों के अतिक्रम से 'टीला-एफ' के निम्नतम स्तर की अपेक्षा सतह जमीन २६ फुट ऊपर उठ चुकी थी और बाढ़ें उग्ररूप धारण कर हड़प्पा के निवासियों के लिए विनाश का कारण बन गई थीं। फलतः शहर जैसे जैसे खण्डहर के ऊँचे भागों की ओर सिकुड़ता गया जनसंख्या का बहुत-सा भाग इस स्थान को सदा के लिये त्यागने पर विवश हो गया। मोहनजोदड़ो की तरह हड़प्पा के उत्तरकालीन वास्तुखण्ड भी रचना में निकृष्ट कोटि के थे और बतलाते थे कि सिन्धु-सभ्यता के अवनति काल में वे उन निर्धन श्रमजीवी लोगों के घर थे जो बाढ़ों के द्वारा इतना पीड़ित होने पर भी अगत्या इस स्थान से चिमटे रहे। प्रारम्भिक और मध्यवर्ती युग के मकान केवल पकी ईंटों के ही बने थे। कच्ची ईंटें नींवों में ही लगाई गई थीं। इससे सिद्ध होता है कि इस युग में भी वर्षा अधिक होती थी। इसका समर्थन इससे भी होता है कि हड़प्पा में ऐसे पशुओं की प्रतिकृतियाँ प्रचुर संख्या में प्राप्त हुई हैं जो अब बहुल और जलप्राय प्रान्तों में रहना पसन्द करते हैं।

ईंटों की लूट-खसूट के कारण हड़प्पा में यद्यपि अच्छी इमारतें पर्याप्त संख्या में नहीं मिलीं फिर भी दो चार ऐसी अवश्य हैं जो अपनी विलक्षणता के कारण अद्भुत कही जा सकती हैं। इनमें (१) 'टीला ए-बी' के चारों ओर प्रवेष्टक दुर्ग प्राकार (२) विशाल धान्यशाला (३) शिल्पियों के निवास-गृह (४) पाठ-मन्दिर का ध्वंसावशेष (५) गोल चबूतरे और (६) कई एक कुएँ हैं।

दुर्ग-प्राकार—दुर्ग प्राकार का विस्तृत विवरण सिन्धु-सभ्यता के काल-निर्णय प्रकरण में प्रस्तुत किया जा चुका है। अब यहाँ केवल शेष इमारतों का ही संक्षिप्त वर्णन किया जाता है।

विशाल धान्यशाला (फलक ११ क)—यह अद्भुत स्मारक 'टीला-एफ' के पश्चिमोत्तरी भाग में स्थित है। यह दो भागों में विभक्त है जिन्हें यथाक्रम पूर्वी और पश्चिमी पक्ष कह सकते हैं (फलक ११ ख)। हर एक पक्ष उत्तर से दक्षिण की ओर लम्बाई में १६८ फुट और चौड़ाई में ५१ फुट है, शालाओं और पाँच वीथियों का बना हुआ है। दोनों पक्षों के मध्य में २२ फुट चौड़ा एक चङ्क्रमण-मार्ग है। हर एक शाला लम्बाई में ५८ फुट ६ इंच और चौड़ाई में १७ फुट ६ इंच है। शाला के अनन्तर एक वीथी है जो लम्बाई में शाला के बराबर होने पर भी चौड़ाई में केवल साढ़े पाँच फुट ही है। शाला को समानान्तर लम्बी दीवारों से जिनके दोनों सिरों पर

१ वत्स—एक्सकेवेशन्स एट हड़प्पा खण्ड २ फलक ३।

घरों की दो भरणियाँ हैं। हर एक भरणी में पश्चिम से पूर्व को व्याप्त एक दूसरे से सटे हुए सात घर हैं। दोनों भरणियों की दक्षिणी और उत्तरी सीमाओं पर दो गलियाँ हैं परन्तु मध्य में केवल एक ही गली है। हर एक निवास गृह ५१ फुट लम्बा और २४ फुट चौड़ा है और अपने पड़ोसी घरों से तीन फुट चौड़ी सकीर्ण गलियों के द्वारा वियुक्त है। इस प्रकार चारों ओर गलियों से परिवेष्टित होने के कारण प्रत्येक निवास-गृह एक स्वतन्त्र इमारत है। प्रत्येक घर के दक्षिणी भाग में दायें हाथ वाले कोने पर एक विषम चतुर्भुजाकार कमरा और सामने के बायें कोने पर इसी आकार का एक ठोस चौतरा है। दोनों के बीच तीन फुट चौड़ा एक टेढ़ा प्रवेश मार्ग है। मार्ग के टेढ़ा बनाने का कारण सम्भवतः यह था कि गली में खड़ा मनुष्य मकान के अन्दर झाँक न सके। प्रारम्भ में हर एक मकान के आँगन में पक्का फर्श और उत्तरी भाग पर एक खुला कमरा था।

पीठ मन्दिर—डा. व्हीलर के मतानुसार हड़प्पा के टीला एबी' तथा मोहेंजो-दड़ो के 'स्तूप-टीला' के दुर्ग-विद का प्राकार-वेष्टित क्षेत्र है वे उत्तुंग राजगढ़ थे। इनमें केन्द्रित निरंकुश राजसत्ता के द्वारा शासक अपने विस्तृत सिंधु राज्य पर शासन करते थे। परन्तु वास्तु-कला की विलक्षणता तथा उपलब्ध वस्तुसामग्री के आधार पर स्पष्ट प्रतीत होता है कि हड़प्पा तथा मोहेंजो-दड़ो के प्राकार-वेष्टित तथाकथित राजगढ़ अधिकांश धार्मिक उपयोगिता के वास्तु थे। इनकी तुलना उन सुमेरियन पीठ-मन्दिरों से की जा सकती है जिन्हें समकालीन लोग 'जिग्गुरत' कहते थे। तीसरी सहस्राब्दी ई० पू० जिग्गुरत प्रायः प्रत्येक सुमेरियन नगर का प्रधान वास्तु था। सबसे विशाल और ऊँचा पीठ-मन्दिर बाबल का जिग्गुरत था जिसका हीब्रू-धर्मग्रन्थों में बहुधा वर्णन पाया है (फलक १६ ख)। यह विख्यात पीठ-मन्दिर अब निःशेष नष्ट हो चुका है। इस समय प्राचीन उर नगर का जिग्गुरत ही सबसे सुरक्षित दशा में है (फलक १६ क)। यह मन्दिर कच्ची ईंटों का एक महाकाय चबूतरा-सा है जिसका बाहर मोटा बाह्य आवरण पकी ईंटों का बना हुआ था। प्रारम्भ में इस चबूतरे की कई भूमियाँ (मंजिलें) थीं जो आकार में उत्तरोत्तर घटता जाती थीं। सम्भावना की जाती है कि ये मंजिलें काले लाल नीले पीले आदि भिन्न-भिन्न रंगों की थीं जो ब्रह्माण्ड के भिन्न-भिन्न विभागों के द्योतक थे। काला रंग तामिस्र अधोलोक का, लाल मर्त्यभाग का, नीला अन्तरिक्ष का और पीला स्वर्लोक का सूचक था। पीठ की प्रस्तर भूमि में बारिश के पानी के निकास के लिए छेद थे। इससे पानी पीठ के अन्दर घुस कर उसे हानि नहीं पहुँचा सकता था।

मोहेंजो-दड़ो तथा हड़प्पा के पीठ मन्दिरों के अवशेषों का मेसोपोटेमिया के 'जिग्गुरत' पीठ-मन्दिर से बहुत सादृश्य है। मोहेंजो-दड़ो के पीठ-मन्दिर के अभ्यन्तर

फलक ११ मैसोपोटेमिया के ज़िगुरत और मोहेंजो-दड़ो का स्तूप-टीला

वहाँ के सर्वोच्च 'स्तूप-टीला' में और हड़प्पा के मन्दिर के अवशेष 'टीला ए-बी' के सर्वोच्च उत्तरी भाग में अन्तर्हित हैं। हड़प्पा के पीठ-मन्दिर के अवशेष ऐसे सुरक्षित नहीं जैसे कि मोहेंजो-दड़ो के। प्राचीन काल तक ईंटों की लूट-खसूट के कारण यहाँ के वास्तु प्रायः नष्ट हो चुके हैं। तथापि 'टीला ए-बी' के चारों ओर का प्राकार इस बात का साक्षी है कि यह टीला प्राचीन हड़प्पा नगर का गढ़ था। हड़प्पा के खण्डहर में यह टीला सबसे ऊँचा है। इसकी साधारण ऊँचाई चालीस फुट के लगभग है परन्तु उत्तरी किनारे पर यह ६० फुट तक पहुँच जाती है। इसके ऊपर मिट्टी ईंटों के दो बड़े बुर्ज हैं जो प्राकार शृंखला की कठिन कड़ियाँ हैं।

'टीला ए-बी' का यह उत्तम उत्तरी भाग निस्सन्देह प्राचीन पीठ-मन्दिर का स्थल है। मोहेंजो-दड़ो में कुषाण-कालीन बौद्ध स्तूप की तरह यहाँ भी गुप्त समय में एक बौद्ध अथवा हिन्दुओं का धर्मस्थान था। गुप्त स्तर के नीचे श्री दयाराम साहनी को सिन्धुयुग की वस्तुएँ मिलीं जिनमें पत्थर की मण्डलाकार मुन्दरियाँ (फलक ४१ ख) बाल के कोलते बरमे से छिदे हुए इमारती पत्थर तथा मनके और अन्य पशुओं की अस्थियाँ सम्मिलित थीं। मार्शल की सम्मति में पत्थर की मुन्दरियाँ या तो लिंग-पीठ अथवा किसी धार्मिक प्रयोजन की वस्तुएँ थीं। इस क्षेत्र के पूर्व दक्षिण और दक्षिण-पूर्व में स्थित पोली मिट्टी के प्रकार स्पष्ट बतलाते हैं कि टीले का यह भाग भी प्रारम्भ में एक ऊँचे कच्चे पीठ पर प्रतिष्ठित था। सन् १८५३ में जब कनिंघम ने हड़प्पा के खण्डहर का निरीक्षण किया तो उन्हें पूर्वोक्त शिखर के पूर्वी तथा पश्चिमी पार्श्वों में विशाल खाइयों की श्रेणियाँ और एक बड़ी इमारत के आधार मिले। सन् १९२० में जब श्री साहनी खुदाई के लिए यहाँ आए तो इन वास्तुओं का नाम तक मिट चुका था। इस साक्ष्य के आधार पर निस्संकोच कहा जा सकता है कि हड़प्पा में 'टीला ए-बी' का उच्छ्रित उत्तरी भाग पीठ-मन्दिर के प्राकार का धर्मस्थान ही था।

प्रतीत होता है कि दूसरी सहस्राब्दी के प्रारम्भ में जब हड़प्पा और मोहेंजो-दड़ो का अस्त हो गया तो पीठ-मन्दिरों वाले स्थानों की स्मृति-परम्परा दीर्घकाल तक जीवित रही। हो सकता है कि कुषाण समय में मोहेंजो-दड़ो के पीठ-मन्दिर पर जब बौद्ध स्तूप का निर्माण हुआ तो इस स्थान की पवित्रता की स्मृति अभी जीवित थी। हड़प्पा में 'टीला ए-बी' पर गुप्त समय में धर्मस्थान बनाने का भी सम्भवतः यही कारण था। उत्तर काल में मुसलमानों ने भी अपनी ईदगाह और मस्जिद को पत्र बनाने के लिये इसी स्थान को श्रेष्ठ समझा। मुसलमानी काल की ये दोनों इमारतें अभी तक विद्यमान हैं।

---

१ मोहेंजो-दड़ो और हड़प्पा के पीठ-मन्दिरों का विस्तृत विवरण मैंने अपने लेख 'सिन्धु-सभ्यता के प्रागैतिहासिक पीठ-मन्दिर' में दिया है।

गोल चबूतरे—हड़प्पा की विशाल इमारतों में अठारह गोल चबूतरे भी हैं जो 'टीला-एफ' के भाग न० ४ और ५ में बिखरे पड़े हैं। वे परस्पर समानान्तर और समानान्तर हैं (फलक १५ ख)। हर एक चबूतरा व्यास में ११ फुट खड़ी ईंटों के समान केन्द्र वाले वृत्तों का बना है इसका फर्श जो मध्य में खोखला है चौड़ाई में केवल एक ईंट मोटा है। मध्यवर्ती खाली स्थानों में गेहूँ की [illegible] का अवशेष चबूतरा न० [illegible] में एक ढेर के समान पशुओं की अस्थियाँ भूसी सहित यव के कुछ दाने और दूसरे आवरण उपलब्ध हुए थे। चबूतरे क्योंकि खुले स्थान में पंक्तिबद्ध बने थे इसलिए प्रतीत होता है कि ये जनता के साधारण उपयोग के लिये बनाये गये थे। सन् १९४६ की खुदाई में डा० व्हीलर ने एक नये चबूतरे की सूक्ष्म दृष्टि से खुदाई करायी थी। उनके विचार में ये चबूतरे धान्य कूटने के लिए बने थे। वे लिखते हैं कि इनके मध्य में उलूखल रखा जाता था जिसमें लम्बे लकड़ी के मूसलों से धान्य कूटकर दानों को छिलके से अलग करते थे जैसे कि आजकल भी गाँव के लोग करते हैं। डा० व्हीलर का यह सुझाव परिस्थिति से बहुत अनुकूल और युक्ति संगत है। आपत्ति केवल यह है कि चबूतरा के अन्दर बाहर अथवा आस-पास कहीं भी सना हुआ धान्य इस मात्रा में नहीं मिला कि उनके पूर्वोक्त सुझाव का समर्थन हो सकता।

निवास-गृह—हड़प्पा में ऐसे वास्तु नहीं मिले जिन्हें हम समृद्ध लोगों के निवास गृह कह सकें। ईंटों की लूट खसूट के कारण वे भारत पुरातत्त्व विभाग की खुदाई के बहुत पहले ही नष्ट हो चुके थे। तथापि 'टीला-एफ' पर दो एक ऐसे अवशेष अवश्य मिले हैं जो तत्कालीन निवास गृहों के आकार और स्वरूप पर कुछ प्रकाश डालते हैं। इनमें से एक भाग न० ५ की खुदाई में निकला था। यह मकान लम्बाई में १[illegible] फुट के लगभग था परन्तु खण्डित होने के कारण इसकी चौड़ाई का पता नहीं चल सका। इसमें दस के करीब कमरे थे जिनमें पुरुषों और स्त्रियों के रहने के लिये पृथक् पृथक् विभाग थे। घर के बाहर साथ के खुले स्थान में एक कुआँ था जो पड़ोसियों के काम भी आता था। दूसरा निवास-गृह विशाल धान्यशाला के पश्चिमी प्रसार में निकला था। प्रतीत होता है कि लोगों के घर चौकोर होते थे जिनकी चारों भुजाओं में अन्दर की ओर कमरे बनाये जाते थे और बीच का रिक्त स्थान आँगन के रूप में व्यवहार में आता था।

हड़प्पा नगर के भिन्न-भिन्न प्रदेशों में कम से कम छः प्राचीन कुएँ खोदे गये थे। इनके व्यास १ फुट १[illegible] इंच से लेकर ७ फुट १ इंच तक हैं। खिड़की के आकार की ईंटें केवल एक ही कुएँ में प्रयुक्त हुई थीं बाकी सब कुएँ साधारण ईंटों के ही बने हैं।

११

वेश-भूषा

हड़प्पा और मोहेंजो-दड़ो से उपलब्ध मानव मूर्तियों के अध्ययन से पता चलता है कि सिन्धु युग के लोग बहुत कम वस्त्र धारण करते थे। स्त्रियाँ केवल एक कटि वस्त्र अथवा छोटा घाघरा पहनती थीं। कभी कभी कटि पर नुकीले गुच्छों से युक्त मेखला भी होती थी। उनका शिरोवेष्टन साधारणतः पंखे अथवा तोरण के आकार का लकड़ी आदि किसी हल्के द्रव्य का बना हुआ ढाँचा था। इसके दोनों ओर कानों के नीचे कटोरियाँ और उनके नीचे चम्पाफूल के समान नोकदार फूल भी होते थे। कई मूर्तियों के शिरोवेष्टन लम्बे बालों की गुथी हुई मेंढियों से वेष्टित हैं (फलक १७ क) कई के फूलों से सजे हैं (फलक १७ ग घ)। ऐसे ऊँचे शिरोवेष्टन आजकल भी मथुरा आदि की स्त्रियाँ उत्सवों के समय प्रायः पहनती हैं। कई मूर्तियाँ भुजाएँ ऊपर को उठाकर अपने शिरोवेष्टन को हाथों से छू रही हैं मानो अभिवादन कर रही हों (फलक १७ ख)। पुरातत्ववेत्ताओं का विचार है कि अधिकांश स्त्री-मूर्तियाँ जो पंखे अथवा तोरण के आकार के मुकुट धारण कर रही हैं मातृदेवी की प्रतिकृतियाँ हैं। समकालीन पश्चिमी एशिया में इस देवी की पूजा व्यापक रूप से प्रचलित थी। परन्तु अभी तक न तो इन मूर्तियों के विलक्षण शिरोवेष्टन और न ही उनके हाथों की विविध अभिवादन-मुद्रा के अभिप्राय का पता लग सका है। इस सम्बन्ध में डा. मैके का विचार है कि मिट्टी की स्त्री मूर्तियों का व्यजनाकार शिरोवेष्टन (फलक १७ क) मोहेंजो-दड़ो की मुद्रा नं. ४२ पर चित्रित त्रिमुख पशुपति (फलक ? क) के शिरस्त्र के समान है। इसी प्रकार डा. [illegible] भी एस [illegible] इनके व्यजनाकार शिरोवेष्टन के पक्ष-प्रसंग में क्रीट द्वीप की प्रागैतिहासिक सामग्री का उल्लेख करते हैं। उनके मत में सिन्धु-मूर्तियों के शिरोवेष्टनों में व्यजनाकार अभिप्राय क्रीट की मूर्तियों के मुकुटों में प्रतिष्ठित देवी के [illegible] विहग कपोत हैं। परन्तु डा. [illegible] का यह सिद्धान्त एक क्लिष्ट कल्पना है क्योंकि सिन्धु-मूर्तियों के शिरोवेष्टनों में व्यजनाकार अंश प्रायः क्रीट के विहग कपोतों से अनुपात की समानता नहीं रखते। न ही क्रीट और भारत के मध्यवर्ती देशों में ऐसे कोई उदाहरण मिले हैं जिनसे सिद्ध हो सके कि अमुक मार्ग से यह अभिप्राय उस द्वीप से भारत पहुँचा[1]।

---

१ 'आर्क्योलॉजीकल सर्वे ऑफ इंडिया की वार्षिक रिपोर्ट' १९१४।१५।

फलक १७ सिन्धुकालीन वेश-भूषा के कुछ उदाहरण

पंख के आकार का शिरोवेष्टन—श्री मैके का पूर्वोक्त सुझाव यद्यपि संदिग्ध सा है तथापि इससे व्यजनाकार शिरस्क का अभिप्राय समझने में सहायता मिलती है। मोहेंजो-दड़ो की मुद्रा नं ४२ के वर्णन प्रसंग में मैंने ऊपर दिखलाया है कि तथाकथित पशुपति का व्यजनाकार शिरस्क कहीं से निकला है। यह शिरस्क जो मुद्रा नं १८७ पर दिए हुए अश्वत्थ का अनुकरण है महिष-मुख देवता का मुकुट था। इसलिये हो सकता है कि व्यजनाकार मुकुट धारण करने वाली स्त्री मूर्तियाँ भी किसी देवी की प्रतिकृतियाँ ही हों। शिरोवेष्टन के नीचे कनपटियों में जो कटोरियाँ हैं वे एकशृंग पशु के उन सिरों से सादृश्य रखती हैं जो मुद्रा नं १८७ पर पीपल के दोनों ओर लटक रहे हैं। कई मूर्तियों में इन कटोरियों पर धुएँ के निशान हैं जो शायद धूप द्रव्य या बत्तियाँ जलाने से बन गये थे। धूप जलाने का तात्पर्य सम्भवतः देवरूप अश्वत्थ अथवा अश्वत्थ-देवता की पूजा करना था। शृंगाकार शिरोवेष्टन के सम्बन्ध में यह कहना निर्मूल नहीं कि यह अभिप्राय उस कमरे पीपल तोरण का अनुकरण है जिसमें अश्वत्थ देवता मुद्राओं पर प्रायः खड़ा पाया जाता है। ऐसी स्थिति में इस शृंगाकार शिरोवेष्टन का अभिप्राय भी व्यजनाकार शिरोवेष्टन के अनुरूप ही होगा। वे मूर्तियाँ जो अपने शिरोवेष्टनों को दोनों हाथों से छू रही हैं भी स्वयं परम देवता के प्रतीक उस मुकुट का अभिवादन कर रही हैं। इस बात को मानते हुए कि पूर्वोक्त व्याख्या युक्तिसंगत है बहुत सम्भव है कि ये स्त्री-मूर्तियाँ केवल एक माध्यम थीं जिनके द्वारा सिन्धु निवासी अश्वत्थाधिष्ठातृ-परम देवता की उपासना करते थे।

पूर्वोक्त दो प्रकार के शिरोवेष्टन एवं कटिवस्त्र ही एकमात्र वसन हैं जो अधिकांश स्त्री मूर्तियों के शरीरों पर पाये जाते हैं। मार्शल तथा अन्य पुरातत्त्वज्ञों का विचार है कि सिन्धुमुद्राओं पर बने हुए स्त्री रूप देवता नग्न हैं। केवल वे चार मूर्तियाँ जो मुद्रा नं ४१ पर बनी हैं चोटी काट पहने दिखाई देती हैं। मेरा दृढ़ विश्वास है कि इन पर कोई कपड़े का नामोनिशान नहीं है। वस्तुतः ये सभी एँ नरविहग उपरक्ता हैं। इनका सिर मनुष्य का भुजाएँ साक्षात् ककनूरे और शरीर पक्षी का है। इसी प्रकार का कवीर्य शरीर उस विचित्र प्राणी का है जो मोहेंजो-दड़ो की मुद्रा नं १८० पर प्रदर्शित है। यहाँ भी नरमुख देवता का शरीर और टाँगें पक्षी की हैं परन्तु इसमें और भी विलक्षण बात यह है कि धड़ का पिछला भाग बाघ का है।

भूषण—स्त्रियों के वस्त्र-भूषणों में हँसली कण्ठमाला और चन्द्रहार होते थे। हारों में विविध द्रव्य यथा सोना चाँदी ताँबा पत्थर फियांस शंख हाथीदाँत आदि के मनके और लटकन गुथे होते थे। सोमेला (जमीक) मरकत (पन्ना) दूधिया लाजवर्द एगेट मानिक प्याजा आदि के बने ये रंग बिरंगे दर्शनीय मनके

फलक १ सिन्धुकालीन मुकुटों के कुछ उदाहरण

खराद पर चढ़ाकर बनाए जाते थे। इनमे से अधिकांश पत्थर भारत के भिन्न-भिन्न प्रान्तो तथा अफगानिस्तान और बलूचिस्तान से आते थे जहाँ आज भी इनकी खानें पाई जाती हैं। स्त्रियो के अन्य आभूषणो मे मुकैसे फूल, लटकन, कर्णफूल (फलक १८ अ) बटन विभिन्न भाँति की बिन्दियाँ, कनपटी के भूषण, कंगन, चूड़ियाँ, भुजबन्द, कान और नाक की बालियाँ, मेखला और पाजेबें थीं।

भूषणो के कई एक समुदाय जो हड़प्पा और मोहेंजो-दड़ो की खुदाई मे मिले, सिन्धुकालीन कला के सुन्दर उदाहरण हैं। उनमें कई एक कलाकृतियाँ इतनी बिलक्षण और मनोहर हैं कि आजकल के सोनार भी ऐसी कारीगरी पर गौरव कर सकते हैं। हड़प्पा के भूषण समुदाय न. ८ १ (फलक १८) मे अधोलिखित अलंकरण समाविष्ट थे—

सोने के दो जालीदार कंगन (क ड) सोने का कर्णफूल (ठ) फियाँस के टुकड़ो से जड़ित सोने का पानपत्ती के आकार का लटकन जिसके तले मे अटकाने के लिये दो कुँडियाँ लगी थी (झ) चाँदी के पत्र का बना हुआ सिर का विभूषण जिसमें सोने की तीन तारें अगली प्रत्येक ८ की धकम मे लगी हैं और जिसम सोने की टोपियो खास खड़िया पत्थर के मनको की सुन्दर जड़ाई हुई है (ख) सोने के २४ गोल मनको से गुथी हुई चार लड़ी की माला जिसमें लड़ियो को पृथक रखने की चार टुकड़ियाँ (ड) और सिरो पर लगाने की चार टोपियाँ और तीन टुकड़ियाँ जो तीन-तीन लड़ी के दो कसाई बदा म गुथे हैं (ग्र) सोने की ११ खोखली टोपियाँ (च) जिनके अन्दर कुँडियाँ लगी हैं (हर एक का व्यास ४ इच) विविध आकार के सोने के २७ मनके सोने फियाँस पत्थर आदि के मनको से गुथे हुए क मिश्रित हार (द) जिनमे लटकन भी लगे हैं, चाँदी के खोखले कड़े और मनके।

धनी अपने भूषणो के लिये सोना चाँदी और बहुमूल्य पत्थर प्रयोग मे लाते थे। मध्यम श्रेणी के लोग चाँदी ताँबा फियाँस आदि के तथा निर्धन लोग केवल ताँबा साधारण पत्थर सप फल और मिट्टी के बने हुए भूषणो से ही निर्वाह कर लेते थे।

पुरुष मूर्तियाँ प्राय नग्न (फलक १६)—पकी मिट्टी की पुरुष मूर्तियाँ प्राय सभी नग्न हैं (ड)। केवल मुद्राओ पर खुदी हुई पुरुषभिन्न देवमूर्तियाँ ललाट के आकार का एक छोटा-सा कटिवस्त्र पहने प्रतीत होती हैं। हड़प्पा से प्राप्त पत्थर की दो पुरुष मूर्तियाँ (फलक ११ क ग) और मोहजो-दड़ो की काँसे की नर्तकी (फलक १७ क) भी नग्न ही हैं। परन्तु यह बात उल्लेखनीय है कि मोहजो-दड़ो मे जो पत्थर की पुरुष मूर्तियाँ मिली थी वे वस्त्रावृत हैं। उनमे से एक (फलक १४, ग) जो शायद किसी शासक अथवा देवता की आवक्ष प्रतिकृति है अपने बाएँ कंधे पर तिरछा दो

फलक १९ सिन्धुकालीन वेश-भूषा के अन्य उदाहरण

पर गुंथी हुई वेणियों की चोटियों के सिरे पर एक फन सा अलंकरण लगा रहता है।

हड़प्पा और मोहेंजो-दड़ो से प्राप्त मिट्टी की पुरुष मूर्तियों का केशवेश विविध प्रकार का है। हड़प्पा की जो पाषाण मूर्तियाँ केवल कबन्ध मात्र हैं इसलिये उनकी केश रचना के सम्बन्ध में कुछ कहना असम्भव है। परन्तु मोहेंजो-दड़ो की पाषाण मूर्तियाँ जिनके सिर सुरक्षित हैं स्पष्टता से बतलाती हैं कि इस युग में उच्च श्रेणी के मनुष्यों का केशवेश किस प्रकार का था। खड़िया पत्थर की मानव देवमूर्ति के सिर पर के पट्टों में सीधी सीवन है और माथे पर फीतेदार पट्टी का अलंकरण है (फलक १४ क)। इसी भाँति की दूसरी मानव मूर्ति के लम्बे केश जूड़े के रूप में सिर के पीछे बँधे हुए हैं (फलक १८ क २)। कई एक मिट्टी की मूर्तियों के बाल कुंडलाकार हैं जिनमें से कुछ कुंडल सिर की चोटी पर और कुछ कानों के इर्दगिर्द चिपके हुए हैं (फलक १६, ङ)। एक दूसरी मूर्ति ने अपनी चुटिया को दोहरा करके उसे पट्टी से बाँधा हुआ है (फलक १६, च)। एक अन्य पुरुष के बाल ऊँचे जटाजूट के रूप में प्रसाधित हैं (फलक १७ ठ)।

पुरुषों की दाढ़ियाँ प्राय छोटी और कुछ नुकीली तथा मूँछ सफाचट हैं (फलक १६ ड-ख)। मालूम होता है कि पुरुषों में यह सामान्य रिवाज था यद्यपि कई मूर्तियों में इसके विरुद्ध और प्रकार की और लिया के उदाहरण भी मिले हैं जैसे पुरुषमूर्तियाँ नं २१४२ आदि बिना दाढ़ी के हैं। और पुरुष मस्तक नं ७ की मूँछ दाढ़ी सब सफाचट है[1]। केवल लम्बे केश स्त्रियों की चोटी की तरह कुंडलाकार पीछे बँधे हुए हैं।

वेश भूषा के कई रिवाज स्त्री पुरुषों में सामान्य थे। लम्बे बालों को जूड़ा बनाकर सिर के पीछे धारण करना और उनकी सजावट तथा उन्हें अपने स्थान पर टिकाने के लिए सूइयों का प्रयोग करना स्त्री पुरुषों में सामान्य था। मोहेंजो-दड़ो की एक मूर्ति के सिर पर बालों में सुई दिखलाई गई है। बालों की सजावट के लिये पशु शीर्षक तथा कुसुम शीर्षक सूइयाँ (फलक १२ ख-ग) भी प्रयोग में आती थीं। दोनों पक्षों में कंघों का व्यापक प्रयोग होता था और कभी-कभी कंघे सिर में भी टँगे रहते थे। यह प्रथा अब भी उन लोगों में प्रचलित है जो सिक्खों की तरह लम्बे केश धारण

---

१ मैके—फर्दर एक्सकेवेशन्स भा २, फलक ७६।

२ मार्शल—मोहेंजो-दड़ो एण्ड दि इण्डस वेली सिविलाइजेशन भा १ फलक ६६।

करते हैं। अंजन और सुगंधि द्रव्य तांबे के उस्तरे (फलक ४ ड) और दर्पण स्त्री पुरुषों की शृंगार सामग्री की प्रधान वस्तुएँ थीं। शरीर के कई भूषण जैसे कर्णफूल बाजूबंद कनपटी के अलंकरण नाक की बालियाँ पाजेबें मेखला आदि केवल स्त्रियों के ही गहने थे परन्तु कान की बालियाँ अंगूठियाँ कंगन कण्ठहार, सिंगार पट्टियाँ आदि नर-नारी दोनों पहनते थे।

१२

धातु की वस्तुएँ

सोना चाँदी ताँबा राँगा और सीसा ये पाँच धातुएँ सिन्धु युग के लोगों को अच्छी प्रकार मालूम थी। उन्हें सोने और चाँदी के मिश्रण से बनी हुई 'एलेक्ट्रम' नाम धातु का भी ज्ञान था। ताँबे और राँगे के मिश्रण से काँसा बनाना उन्हें आता था और मिश्रित धातु को वे प्राकृत रूप में खानों से भी प्राप्त करते थे। साधारणतः ताँबे में ६ से १२ प्रतिशत राँगे की मिलावट अच्छी मेल का काँसा बनाने के लिये पर्याप्त है। परन्तु मोहेंजो-दड़ो की कई कांस्यवस्तुओं में राँगे की मात्रा २६ प्रतिशत तक पहुँच जाती है। इससे पता लगता है कि सिन्धुकालीन शिल्पियों को काँसा बनाने में उचित अनुपात में इन धातुओं के मिश्रण पर नियन्त्रण नहीं था और साधारणतः वे काँसे को प्राकृतरूप में खानों से ही प्राप्त करते थे।

सोना विविध आभूषण बनाने के काम आता था। मोहेंजो-दड़ो में सोने की तो तीन मुद्राएँ मिली थे एक असाधारण सोना उपलब्धि थी। कई गहने केवल सोने के ही थे और बहुत से जो चाँदी पत्थर आदि के बने थे उनमें सोना केवल सजाव प्रयोग में लाया गया था। अभी तक सोने का एक भी बर्तन सिन्धु के काँठे में नहीं मिला। सोने के आभूषणों में मनके माथों की टोपियाँ बाजूबंद चूड़ियाँ कर्णफूल लटकन छल्ले कंठहार कलाई बंद सिंगार पट्टियाँ बालियाँ आदि सम्मिलित थी। सोने का प्रधान गुण यह है कि हजारों वर्ष मिट्टी में दबा रहने से भी इस पर न तो जंग लगता है और न ही यह अपनी चमक खोता है। हड़प्पा और मोहेंजो-दड़ो की खुदाई में सोने चाँदी की छोटी से छोटी वस्तु भी यथावत् सुरक्षित पाई गई थी। सिन्धु कालीन खंडहरों में चाँदी की वस्तुएँ उतनी संख्या में नहीं मिली जितनी कि सोने की शायद इसलिये कि चाँदी मिट्टी में दबी रहने से गल सड़ जाती है। ताँबे की तरह इस पर भी हरे रंग का जंग चढ़ जाता है और इस दशा में चाँदी और ताँबे में पहचान करना कठिन होता है। केवल रासायनिक शुद्धि के अनन्तर जब जंग उतर जाता है तभी चाँदी और ताँबे की वस्तुओं में भेद प्रतीति सम्भव है। सिन्धु के काँठे में भूपात्र या छोटे पात्र बनाने के लिये चाँदी का उपयोग किया जाता था। हड़प्पा में खुदाई में चाँदी के मनके चौखटे कंगन टोपियाँ एक छोटा पात्र तथा अन्य कई वस्तुएँ मिली थी।

फलक ४ तांबे और काँसे की वस्तुएँ

तांबा और कांसा—अस्त्रोपकरण, बर्तन, भूषण और घरेलू उपयोग की अन्य वस्तुएँ बनाने के लिए तांबे और कांसे का व्यापक रूप से प्रयोग होता था। सबसे प्रथम उल्लेखनीय उपलब्धि तांबे का बेगला न० २७७ था जो इसी धातु की थाली से ढका हुआ पाया गया था (फलक ४ अ)। इसमें एक सौ से अधिक तांबे के हथियार, औजार, भूषण आदि बद थे। इसकी उपलब्धि टीला-एफ के खात न० १ के तीसरे स्तर में सतह जमीन से २ फुट ६ इंच की गहराई पर हुई थी। इसमें अधोलिखित वस्तुएँ सम्मिलित थीं—

२१ कुल्हाड़े (फलक ४ ब) मांसों से फल और खाल उतारने के छुरे (ब) नखाग्रिम, बड़े दो-दो मुँह कुल्हाड़े (ग) ११ छुरे (ड) तीर का फल (क) कटार की धारें (इ) और दस छेनियाँ (च)। भूषणों में कंकण और हारों में पिरोने की अर्धचन्द्राकार टोपियाँ थीं। इनके अतिरिक्त घरेलू उपयोग की अन्य वस्तुएँ थीं जैसे कटोरा, तराजू का डंडा, मिक्सन की कलम आदि। पूर्वोक्त देगची की पेंदी में धुएँ की स्याही लगी थी जिससे मालूम होता था कि यह रसोई का बर्तन था और किसी आकस्मिक भय के कारण इसके स्वामी ने इसमें पूर्वोक्त वस्तुएँ डालकर इसे दबा दिया था।

तांबे का रथ (फलक ४ इ)—तांबे की एक और मनोरंजक वस्तु दो पहिये का गोलदार छत वाला छोटा-सा रथ है। इस पर आगे कोचवान बैठा है जिस के सिर के लंबे बाल जूड़े की तरह बंधे हैं। उसकी बाईं भुजा ऊपर को उठी है। परन्तु हाथ के टूट जाने से पता नहीं चलता कि इसमें वह चाबुक पकड़े था या बाग-डोर। यह खिलौना रथ सम्भवतः संसार में पहियेदार वाहन का प्राचीनतम उदाहरण है।

हड़प्पा के टीलों से तांबे की और भी कई प्रकार की वस्तुएँ मिली थीं जिनमें लेखांकित तामपट्ट, मनके, शलाकाएँ, सूइयाँ, बर्तन, बबूल की फलियों के आकार के चिपटे पत्ते, तार से बंधे हुए तीन उपकरणों—सूआ, चिमटा और आरी—का गुच्छ दर्शनीय है। इनके अतिरिक्त अन्य विविध वस्तुओं में देगचे, कलछियाँ, कटोरे, थालियाँ, आरे, पान, पटमल, बसूला, कुल्हाड़ा, छेनियाँ, छुरे, उस्तरे (फलक ४ ड) अंजन-शलाका, दर्पण, मछली पकड़ने की कंटियाँ (फलक ४ च) तीर के फल (ब) कड़े आदि भी उल्लेखनीय हैं। मोहेंजो-दड़ो से तांबे की अनेक चौकोर पट्टियाँ मिली थीं जिनमें एक ओर चित्राक्षर और दूसरी ओर पशु हैं। ये लेखांकित पट्टियाँ तथा मनुष्यों और पशुओं की मूर्तियाँ मोहेंजो-दड़ो की विशेष उपलब्धियाँ हैं जो हड़प्पा से अभी तक नहीं मिलीं। तांबे की मूर्तियों में नग्न नर्तकी विशेषतया दर्शनीय है क्योंकि यह ताम्र मूर्तिकला का अपूर्व उदाहरण है (फलक १० क)।

हड़प्पा और मोहेंजो-दड़ो के ताँबे में निकल (कलक) और संखिये का जो मिश्रण पाया जाता है उससे इन खानों का पता लगाना कठिन नहीं जहाँ से सिन्धु-निवासी अपने उपयोग के लिए कच्चा ताँबा मँगवाते थे। हड़प्पा के ताँबे में निकल साधारणतः [illegible] प्रतिशत की मात्रा में मिश्रित है परन्तु अधिक से अधिक १ प्रतिशत की मात्रा में भी मिलती है और संखिया ७ प्रतिशत तक पाया जाता है। निकल और संखिये की मात्राओं वाला कच्चा ताँबा भारत में खेतड़ी, अलवर और सिंहभूम की खानों में तथा अफगानिस्तान में भी मिलता है। क्योंकि राजपूताना की पूर्वोक्त दो खानें हड़प्पा और मोहेंजो-दड़ो के समीप हैं इसलिए सिन्धु-काठे के लोग अपनी इस आवश्यकता को इन्हीं खानों से पूरा करते थे। राँगे की खानें आजकल ईरान में, खुरासान और कराडाग नामक स्थानों तथा भारत में हजारीबाग में हैं। यद्यपि हजारीबाग की खानों में इस समय राँगे का बहुत कम निकास है तथापि सम्भव है कि प्राचीन काल में शायद उसकी पैदावार अधिक थी। हड़प्पा के ताँबे में राँगा, संखिया, अंजन, सीसा, निकल (कलक), लोहा आदि धातुओं का मिश्रण प्राकृतिक है और यह मिश्रण खानों से उद्धृत कच्ची धातु में ही था, धातुकारों द्वारा मिलाया हुआ कृत्रिम नहीं था[1]।

यह काँसा मिश्रण ८ से ११ प्रतिशत तक राँगा मिला हो, दृढ़, चमकदार और कठिन चोट सहने के समर्थ हो जाता है। हड़प्पा के काँसे में राँगा ११ प्रतिशत से अधिक बहुत थोड़ा मिलता है जिससे प्रतीत होता है कि स्थानीय धातुकारों को ताँबे में उचित अनुपात से राँगा मिलाने की विधि अच्छी प्रकार विदित थी। काँसे की छेनियाँ और दूसरे कई औजार ढाले हुए हैं परन्तु इस बात का कोई प्रमाण नहीं कि हड़प्पा के धातुकारों को मधूच्छिष्ट विधि से साँचों में मूर्ति ढालने की क्रिया आती थी। यद्यपि मोहेंजो-दड़ो से काँसे की कई ऐसी वस्तुएँ मिली हैं जिनसे पता चलता है कि यह विधि सिन्धु-कालीन लोगों को अज्ञात नहीं थी। इसकी पुष्टि में एक तो नर्तकी की नग्न मूर्ति और दूसरा काँसे का भैंसा है। ये दोनों मूर्तियाँ इसी विधि से ढाली गई थीं।

१ वत्स—एक्सकेवेशन्स एट हड़प्पा ग्रंथ १ पृष्ठ ३७ ३

फलक ४१ घरेलू उपयोग की वस्तुएँ

१३

घरेलू उपयोग की वस्तुएँ

हड़प्पा की खुदाई में घरेलू उपयोग की विविध वस्तुएँ मिली थीं। उनमें मसाला आदि पीसने की सिल-लुढ़िया (फलक ४१ ड) एवं मिलाने की कलछियाँ, छानने की छलनियाँ तथा ढक्कन (छ ट ड) मिट्टी की अलंकृत मुद्राकार मुदरियाँ (फलक ४१ म) जो सम्भवतः मछली पकड़ने के कांटों की गोलियाँ थीं।[1] धातु और मिट्टी के करछुले और कटोरे जो शायद दवाई पीने या रसोई के काम आते थे।

अच्छी प्रकार पालिश किये हुए छोटे-बड़े आकार के तोल (फलक ४१ ठ) हड़प्पा और मोहेंजो-दड़ो की खुदाई में बहुत मिले थे। इनमें से छोटा तोल ग्राम की एक चमर है जब कि सब से बड़ा २७४ २१८ ग्राम अथवा सेर का ३/५ भाग है। मोहेंजो-दड़ो में २५ पौंड (१२.५ सेर) के लगभग सिलिंडर के आकार का जो पत्थर का वजन मिला था वह एक असाधारण उपलब्धि थी। प्रो. हेमी जिन्होंने इन तोलों का परीक्षण किया के अनुसार सिन्धु-कालीन तोल प्रणाली दो और दस की संख्या से बढ़ती चलती थी। इस प्रणाली का प्रारम्भिक तोल अर्थात् इकाई, .८५५५ ग्राम था। ये वजन सब चेमन (फलक ४१ ण) होन पीलक शलाका और मटू के आकार के थे। इनमें से घनाकार (फलक ४१ ट) तोलों का व्यवहार सब से अधिक था। चेमन के आकार (फलक ४१ ण) के तोलों का व्यवहार समकालीन मिस्र सुमेर और ईलम में भी था। अधिकांश घनाकार तोल चकमक के बने हुए हैं। उनके कोने बहुत सीधे हैं और उन पर चमकीली पालिश रहा है। चोकर की शक्ल के वजन अच्छी प्रकार कटे हुए स्याह पत्थर के बने हैं। परन्तु इन नाना भाँति के तोलों में कैल्सीडनी नामक कीमती पत्थर के बने हुए गोल वजन अत्यन्त मनोहर हैं। सिन्धु युग के तोल रत्ती माशा आदि आधुनिक भारतीय तोल प्रणाली से कोई सम्बन्ध नहीं रखते। और न ही इनका सुमेरियन तोल प्रणाली से किसी प्रकार का सादृश्य है। कई विद्वानों की सम्मति में समकालीन मिस्र देश के तोलों से इनका आंशिक सम्बन्ध अवश्य रहा होगा।

हड़प्पा में वस्तु महत्व का लम्बाई मापने का एक नाप उपलब्ध हुआ था। यह ताँबे की एक खंडित गोल शलाका पर जो ३८ इंच लम्बी और सूत से कुछ अधिक

१—एक्सकेवेशन्स एट हड़प्पा भ. १ पृष्ठ ११८-१९।

मोटी थी अंकित था। इस पर अंग्रेजी अक्षर 'वी' के आकार के चिह्नों से विभक्त चार समान भाग बने हुए थे। हर एक विभाग ६.१४ सेंटीमीटर अर्थात् २.६७१ इंच के करीब था जो ७.१७ संख्या का आधा अथवा मिस्र की प्राचीन 'हस्त-मान प्रणाली' (अर्थात् २०.६७ इंच) का आठवाँ भाग है। पिट्रर्स पिट्री के अनुसार मिस्र की यह प्राचीन मान प्रणाली २०.६२ इंच के प्रचलित 'हस्तमान' पर आश्रित थी जिसे मिस्र के इतिहास में 'राजकीय-हस्त' के नाम से व्यवहृत किया गया है। यह मान मिस्र के प्राक् वंशावली काल की राज-समाधियों के समय से प्रयोग में आता था और 'मुडिया' पढ़ोसी के समय मेसोपोटामिया में भी विदित था। पुरातत्त्व के भूतपूर्व रसायन शास्त्री श्री सनाउल्ला के मत में यह नाप सिन्धु-प्रान्त में विशेष से पाया था। इसी प्रकार का एक नाप जो कांसे से ढलने पर खुदा है मोहनजोदड़ो में पाया गया था। इसका सादृश्य मिस्र के १३.२ इंच के 'फुट' (पाद) मान से किया गया है जो प्राचीन मिस्र लघु एशिया यूनान सीरिया आदि देशों में प्रचलित था। वत्स महोदय लिखते हैं कि पूर्वोक्त दोनों नापों से हड़प्पा और मोहनजो-दड़ो की मुख्य-मुख्य इमारतों के आयाम का परीक्षण किया गया था और इमारतों की लम्बाई चौड़ाई पूर्वोक्त नापों का सामान्य गुणनफल था। हड़प्पा का नाप मिस्र के 'राजकीय-हस्तमान' के समान और मोहेंजो-दड़ो का नाप १३.२ इंच फुट-मान (पाद मान) से मिलता है। वे पुन लिखते हैं कि सम्भवत दोनों मान प्रणालियाँ जिनमें से एक 'पाद मान' और दूसरी 'हस्त-मान' पर आश्रित थी एक ही समय सिन्धु-देश में प्रचलित थी। उनका यह विचार केवल सम्भावना ही है। जब तक इस भाँति के बड़े नाप इस भूखंड में नहीं मिलते तब तक इन छोटे टुकड़ों के आधार पर मिस्र से सिन्धु सभ्यता का सम्बन्ध स्थापन करना अनुचित है। इतने छोटे-छोटे खंड जिन पर सुविज्ञ अभिप्राय के चिह्न अंकित हैं बड़ी बड़ी इमारतों के परीक्षण में प्रामाणिक नाप नहीं हो सकते और न ही इस साम्य के आधार पर इनका अपना मूल्य आँका जा सकता है। अत विश्वस्तरूप से यह कहना सम्भव नहीं कि इन पट्टों पर खुदे हुए चिह्न किसी मान-प्रणाली के प्रतीक थे। हो सकता है कि वे निशान किसी और प्रयोजन के लिए बनाये गये हों।

पूर्वोक्त ताँबे और काँसे के धात्वोपकरणों के अतिरिक्त सिन्धु-कालीन लोग इस प्रयोजन के लिए पत्थर का प्रयोग भी करते थे। पत्थर के धात्वोपकरणों में यथा कुल्हाड़ा (फलक ४१ बी) कुदाली (इ थ) बरमा आदि पाए गये हैं। बरमा चार प्रकार के थे—गोल नालदार घुमा उन्नतोदर शुण्डाकार, और गोल की शक्ल की। इन सबमें लकड़ी के बर्से डालने के लिए छेद थे।

---

१ वत्स—एक्सकेवेशन्स एट हड़प्पा भाग १ पृष्ठ १६५।

विविध घरेलू वस्तुओं में निम्नलिखित उल्लेखनीय हैं। पत्थर के चतुष्क पुष्पाकार शंकु (फलक ४१ ख) जिनके शिखर गोल और पेंदियाँ चिपटी हैं। इनमें से एक लाल पत्थर का और शेष मरमरी (एलेबास्टर) के हैं। हर एक के बीच चोटी से पेंदी तक एक गोल छेद तथा शरीर पर एक बगल सुराख था। प्रतीत होता है कि ये शंकु शायद वेदिका-स्तम्भों के सदृश थे। धातु और मिट्टी के करछुले, कटोरे तथा अन्य कई भाँति की सीपियाँ जिनमें अंजन के लेप, मरहम अथवा कज्जल भी पिसाने की दवाइयाँ डाली जाती थीं जैसा कि आजकल भी गाँवों में प्रथा है। हाथ-पैर साफ करने के लिए मिट्टी के झाँवे कई प्रकार के थे (फलक ४१ घ)। मिट्टी के टूटीदार ढक्कन के छिदी हुई पकी मिट्टी की टाइलें जो शायद रोशनदानों या झरोखों की जालियाँ थीं, आड़ी टेढ़ी रेखाओं से अंकित टाइल जो शायद [illegible] का चपाती बनाने के लिए मिट्टी का चकला जो आजकल के लकड़ी अथवा पत्थर के चकलों के समान है, पत्थर और ईंटों की बनी हुई दरवाजों की चूल, मिट्टी के परनाले, हथियार औजार तेज करने की पथरियाँ आदि।

हड़प्पा और मोहेंजो-दड़ो की खुदाई में पत्थर के असंख्य गोले मिले थे। इनके सम्बन्ध में साधारण विचार है कि ये एक प्रकार के अस्त्र थे जो 'गेमिस्टर' नामक लकड़ी के यन्त्र के द्वारा शत्रु पर फेंके जाते थे। इसी प्रकार आमलक के समान मिट्टी के असंख्य गोले जो इन खण्डहरों में मिले सम्भवतः गुलेल की गोलियाँ थीं जिनसे लोग पक्षियों का शिकार करते थे। मिट्टी, फेंस और शंख की अगणित तकलियाँ (फलक ४१ छ, च झ, ज ट) सूत कातने और कपड़ा बुनने के काम आती थीं। इसमें सन्देह नहीं कि सिन्धु-घाटी में कपास की बहुतायत के कारण यह दस्तकारी बड़ी उन्नति पर थी। सिन्धुकालीन लोग गेहूँ, जौ, तिल, मटर और खरबूजे की कृषि जानते थे। उन्हें खजूर, अनार, नारियल और कमल के पौधों के उत्पादन का भी ज्ञान था। इसका समर्थन इन पौधों के बीजों अथवा प्रतिकृतियों से जो खण्डहरों में मिली हैं सिद्ध होता है। खेती-बारी के सम्बन्ध में बीजने, काटने और समेटने के लिए वे नाना प्रकार के लकड़ी के साधनों और उपकरणों का प्रयोग अवश्य करते होंगे परन्तु गैर टिकाऊ द्रव्यों के बने होने के कारण खुदाई में इनके कोई अवशेष नहीं मिले।

फलक ४२ सिन्धु-कालीन कुम्भ-कला के कुछ उदाहरण

१४

कुम्भकला

मोहेंजो-दड़ो की तरह हड़प्पा में भी इतर वस्तुओं की अपेक्षा मिट्टी के बर्तन अत्यधिक संख्या में मिले हैं। धातों के दुर्लभ होने के कारण धनी और निर्धन लोग प्रायः मिट्टी के बर्तन ही काम में लाते थे। फलतः उस समय कुम्भकला उन्नत कोटि पर पहुँची हुई थी। अधिकांश बर्तन चाक पर बनाये गए थे। बर्तन कई आकार और परिमाण के हैं। एक ओर तो महाकाय माट हैं (फलक ४२ ख) जो ऊँचाई तथा व्यास में तीन फुट के लगभग हैं परन्तु दूसरी ओर ऐसे भी छोटे बर्तन हैं जो ऊँचाई में केवल आध इंच के करीब हैं। इन सीमाओं के बीच छोटे-बड़े असंख्य बर्तन पाए गए थे। आकार में बड़े बर्तन कई प्रकार के थे जैसे चसगमगुमा (फलक ४१ ख) खुले मुँह और पावदुम पैंदी के नांद (फलक ४२ क) बड़े और मझोले गोल मटके (फलक ४२ झ) गागर के आकार के मांड (फलक ४२ ट)। विलक्षण आकार के छोटे बर्तनों में ये वर्णनीय हैं—तंग मुँह वाली चिपटी कलसियाँ (फलक ४२ ठ) बेलन के आकार की बोतलें (फलक ४२ ध) अनाज नापने के पात्र (फलक ४२ ण) आदि। शिशु कुम्भकला में बर्तन घर की हर आवश्यकता को पूर्ण करने के उद्देश्य से बनाये गए थे। उदाहरणार्थ इनमें मटमच थालियाँ पकौड़े हाँडियाँ तसले फलदान [illegible]ोरदान मधपात्र ढकने कुल्ले तश्तरियाँ आदि सम्मिलित थी (फलक ४२ च-ख)। छोटे आकार के बर्तनों में सबसे अधिसंख्य पावदुम पैंदी का लोटा था जो आजकल के कसोरों के समान जलपान करने का साधारण बर्तन था (फलक ४२ च)। मालूम होता है कि एक बार प्रयोग करके इसे फेंक देते थे। यही कारण है कि हड़प्पा के टीलों के हर स्तर में इस आकार के खण्डित बर्तनों की भरमार है।

बहुवर्ण चित्रित बर्तन—बहुवर्ण चित्रित बर्तन जो हड़प्पा में बहुत थोड़ी संख्या में मिले छोटे आकार के हैं। इनमें एक प्रकार की पकल का और कई एक पावदुम पैंदी के गिलास थे। इन पर बने हुए चित्र फीके पड़ गए थे। परन्तु एक बर्तन में सफेद जिल्द पर बनी हुई लाल और हरी पत्तियाँ अब भी स्पष्ट दिखाई देती हैं। लाल कुम्भकला के अतिरिक्त हड़प्पा में काली या सलेटी कुम्भकला के बर्तनों के उदाहरण भी मिले थे जो सब छोटे आकार के थे।

हड़प्पा और मोहेंजो-दड़ो में सादे (चित्रहीन) तथा चित्रित दोनों प्रकार के

बर्तन मिले हैं जिनमें नाली की संख्या बहुत अधिक थी। चित्रों के अतिरिक्त बर्तनों पर छाप वाले अथवा उत्कीर्ण अलंकरण भी थे। चित्रित बर्तन बनाने के लिए पहले उन पर लाल रंग का घोल चढ़ाया जाता था और इस लाल भित्ति पर काले अलंकरण डाले जाते थे। भट्ठी पर पकाने से पहले चित्रित बर्तन को हड्डी अथवा पत्थर के खण्ड से अच्छी प्रकार घोटा जाता था जिससे बर्तन की सतह न केवल चमकीली ही बन जाती थी किन्तु इसमें से पानी भी नहीं भर सकता था। चित्र डालने के लिए जो रंग प्रयोग में आते थे वे प्रायः गेरू हरताल तांबा लोहा आदि खनिज पदार्थों से प्रस्तुत किए जाते थे।

मोहेंजो-दड़ो की तरह हड़प्पा में अधिकांश बर्तन भी चाक पर ही बने थे। हाथ के बने बर्तन मात्र गुड़ियाघर और खिलौने स्तरों में ही सीमित थे। मालूम होता है कि सिन्धु-कालीन लोगों को हाथ से चलाया जाने वाला निकृष्ट चाक ही मालूम था। पैर से चलाया जाने वाला उत्कृष्ट चाक सम्भवतः यूनानियों अथवा पार्थियन लोगों द्वारा भारत में लाया गया था। हाथ के चाक की अपेक्षा पैर के चाक की उत्कृष्टता सर्वविदित है। पहला धीमा है और कुम्हार को इसे बारम्बार हाथ से चलाना पड़ता है परन्तु दूसरे में यह विशेषता है कि कुम्हार इसे निरन्तर पाँवों से चलाए रखता है जब कि उसके दोनों हाथ बर्तन बनाने में व्यस्त रहते हैं। इससे वह अपना काम शीघ्र गति से निर्वाह कर सकता है। चाक का प्रथम आविष्कार कहाँ और कब हुआ इस विषय में बहुत मतभेद है। डा० हाल के मत में इसका आविष्कार इलम में हुआ था परन्तु दूसरे विद्वानों में से कई इसका श्रेय ईरान को कई मिस्र को और कई सुमेर को देते हैं। बर्तन बनाने में जिस चिकनी मिट्टी का प्रयोग किया गया है वह नदी पुलिन से लाई जाती थी। इसमें चूने और रेत का किंचित् मिश्रण है। पकाने के लिए बर्तनों को खुली अथवा बन्द भट्ठियों में चिन देते थे। आज भी पंजाब और सिंध के कुम्हार बर्तनों को इसी विधि से पकाते हैं।

सिन्धु-कालीन कुम्भकला उच्च कोटि की है। यह ऐसे कुम्भकारों की कृति है जो परम्परा से इस व्यवसाय में प्रवृत्त रहने के कारण प्रवीण और अनुभवी हो गए थे। यह कला अपने ढंग की निराली है। इलम तथा सुमेर की कुम्भकलाओं से इसका बहुत थोड़ा सादृश्य है। सिन्धु-सभ्यता के केवल दो ऐसे बर्तन हैं जिनकी तुलना पश्चिमी एशिया के कुछ बर्तनों से की जा सकती है। इनमें एक तो नाटी बैठी का बलि-पात्र है (फलक ४२ च)। जिसके समान पात्र किश, उर, शाह और वाखल में पाए गए थे। दूसरा नटोरे के आकार का ढक्की-युक्त का ढक्कना है (फलक ४२, च) जिसके समान रूप इलम के जमदेत नसर की कुम्भकला में पाए जाते थे।

समान रखने के बाद—हड़प्पा और मोहेंजो-दड़ो के बर्तनों में सब से

विलक्षण और सुन्दर अनाज संग्रह करने के बड़े आकार के माट थे। ये सिन्धु-कालीन कुम्भकला के उत्कृष्ट उदाहरण हैं। ऐसे उत्तम माट किसी अन्य देश की प्रागैतिहासिक कुम्भकला में अभी तक नहीं पाए गए[1]। इनमें सबसे उत्तम अंडाकार के आकार के महाकाय माट हैं जिनका पहले उल्लेख किया गया है। अपनी मनोमोहक सुन्दरता उचित अनुपात और चमकीले पालिश के कारण सिन्धु-कालीन कुम्भकला में कला दृष्टि से इनका सर्वोच्च स्थान है। इनका शरीर अंडाकार पेंदी नोकदार और मुँह का किनारा मोटा तथा मुड़ा हुआ है (फलक ४२ अ)। इनमें सबसे बड़ा माट तीन फुट ऊँचा और मध्य में इतना ही व्यास का था। दूसरे प्रकार के बड़े माट बेलन अथवा ढोल के आकार के तथा खुले मुँह और नोकदार पेंदी के होते थे। पूर्वोक्त महाकाय भांडो तथा छोटे बर्तनों के मध्यवर्ती कई प्रकार के अन्य भांडे थे जिनमें अधिक संख्या मटकों की थी।

महाकाय माट प्रधानत अनाज पानी आदि घरेलू उपयोग की वस्तुओं के संग्रह के लिए थे। परन्तु इसके अतिरिक्त वे गौणरूप से एक दूसरे काम में भी आते थे। हड़प्पा की खुदाई में इस शैली के प्राय २१ माट बिखरी हुई दशा में दीवारों पक्के फर्शों और दुर्बल नालियों के सहारे रखे हुए पाए गए थे। दूसरी बात यह है कि जो वस्तुएँ इन भांडो में पड़ी मिली वे प्राय समानशैली की थी जिससे प्रतीत होता था कि ये माट नगर की नाली-प्रबन्ध के योजना-कालीन नहीं रख गए थे और न ही इनके अन्दर की वस्तुएँ अकस्मात् इनमें आ गिरी थी। इसमे सन्देह नहीं कि ये वस्तुएँ जान-बूझकर किसी निश्चित प्रयोजन के लिए इनमें डाली गई थी। इस वस्तु समुदाय में गौ-जाति के पशुओं मुर्गों और मछलियों की हड्डियाँ पशुओं और मनुष्यों की मृण्मय मूर्तियाँ खिलौने गाड़ियाँ गाड़ियों के पहिए, गाले चने जले गेहूँ और जौ के ढेले सीपियाँ फियास और पक्की मिट्टी की चूड़ियाँ छोटे छल्ले मुलेन की गोलियाँ और तश्तरियाँ आदि सम्मिलित थे। कई मटकों में इनके अतिरिक्त विशेष वस्तुएँ भी थी जैसे कपूर की खोपड़ी हाथी-दाँत और ताँबे की शलाकाएँ बारहसींगे के सींग पत्थर के सपाट हथियार खरबूजे के बीज सड़ा हुआ घुन आदि। इनमें से एक माट पर तीन चित्राक्षरो का लेख खुदा हुआ था जो शायद इनके स्वामी का नाम था।

समान शैली की वस्तुओं का मटकों में इस प्रकार एकत्र पाया जाना इस

---

[1] मो) व्हीलर लिखते हैं कि तीसरी सहस्राब्दी ई० पू० के प्रारम्भ से सिन्धु गृहनिर्माण तथा कुम्भकला के विषय में सुमेरियन सभ्यता से बहुत आगे था और महत्त्व की बात यह है कि सिन्धु-सभ्यता का यह रूप अवश्य ग्रामीण था।

अर्ली इण्डिया एण्ड पाकिस्तान दि मोस्ट टूर्वोड हिस्ट्री पृष्ठ २११।

बात का समर्थन करता है कि ये मटके अवश्य किसी निश्चित योजना के अधीन भूमि में गाड़े गए थे। ये वर्षा पानी इकट्ठा करने के साधन नहीं थे जैसा कि कई पुरा-तत्त्वज्ञों का विचार है। इसकी पुष्टि में पहला प्रमाण तो यह है कि कई मालियों और दीवारों के टुकड़े जिनके पास ये गाड़े पाये गए इतने दुर्बल और अस्थायी थे कि ये मनुष्य के उपयोग के वास्तु नहीं हो सकते थे जैसे कि मिट्टी की तिकोनी टिकियाँ जो इन मटकों में प्रचुर संख्या में पाई गईं, मनुष्य के उपयोग की वस्तुएँ नहीं थीं। ये केवल वास्तविक वस्तुओं और वस्तुओं का अनुकरण मात्र थीं। दूसरा कारण यह है कि मटकों के अन्दर की वस्तुएँ तथा आस-पास की मिट्टी पानी के निरन्तर मिलने से हरे रंग की हो गई थीं। मार्शल तथा वत्स महोदयों ने पूर्वोक्त निष्कर्षणाओं का अध्ययन करके इन्हें 'अस्थि-दाहोत्तर-अस्थिभांड' नाम से निर्दिष्ट किया है। उनके विचार में इन भांडों में अग्निदग्ध शवों की चूर्णित अस्थियाँ थीं जिन्हें सम्बन्धियों ने पशुबलि तथा अन्य सामग्री के साथ प्रचलित प्रथा के अनुसार इनमें गाड़ दिया था। इस विषय में डा० व्हीलर का पूर्वोक्त विद्वानों से मतभेद है। उनका कथन है कि इन तथाकथित "दाहोत्तर-अस्थिभांडों का न तो शवदाह के बाद और न ही उनकी अन्त्येष्टिक्रिया से कुछ सम्बन्ध है। मार्शल के सिद्धान्त के मूल में यह तर्क था कि क्योंकि हड़प्पा और मोहेंजो-दड़ो के आदि-निवासियों का कोई कब्रिस्तान नहीं मिला इसलिए इससे यही निष्कर्ष निकालना सम्भव है कि वे लोग अपने मृतकों का अग्निसंस्कार करते थे। आज भी पंजाब के कई भागों में हिन्दुओं में प्रथा है कि वे अपने अग्निदग्ध मृतकों की अस्थियों को चूर्णित करके निकटवर्ती नदी या जलाशय में फेंक देते हैं।" उनके विचार में इन भांडों में भी अग्निदग्ध शवों की चूर्णित अस्थियाँ का कुछ अंश गड़ा रहता था।

परन्तु जब सन् १९४७ में 'कब्रिस्तान आर ३७' की उपलब्धि हुई तो सिद्ध हो गया कि सिन्धु-सभ्यता के निर्माता लोग भी अपने मृतकों को भूमि में ही गाड़ते थे, जलाते नहीं थे। अतः इन मटकों को 'दाहोत्तर-अस्थिभांड' कहना सर्वथा अनुचित है। फिर भी यह कहने में कोई आपत्ति नहीं कि ये मटके जिनमें उपर्युक्त वस्तु-सामग्री मिली थी किसी निश्चित उद्देश्य और निर्धारित योजना के अधीन भूमि में गाड़े गए थे। इसका केवल एक ही उत्तर हो सकता है और वह यह कि ये भांडे किसी धार्मिक उद्देश्य की पूर्ति के लिए उन मृतकों की स्मृति में गाड़े गए थे जो कब्रिस्तान आर ३७ या इसी प्रकार के किसी दूसरे अज्ञात कब्रिस्तान में दबाए गए थे। मालूम हुआ है कि मनुष्य के मर जाने पर उसके सम्बन्धी अग्निदग्ध से बच लिए हुए पशु के अंगों की अन्य सामग्री के साथ मटके में डालकर शहर के उजाड़ भाग में दबा देते थे। मटके के पास ही एक कच्ची दीवार, नाली और कोयले-का फर्श बना देते थे। नाली का एक

सिरा फर्श के साथ और दूसरा माट के मुँह से सम्बद्ध होता था। ऐसा प्रतीत होता है कि मटका गड़ा देने के अनन्तर मृतक के निकट सम्बन्धी कुछ दिनों तक फर्श पर बैठ कर मृतकोद्दिष्ट जलतर्पण करते थे। अन्त्यक्रिया की यह विधि हिन्दुओं में प्रचलित श्राद्धकर्म के बहुत सदृश प्रतीत होती है। इस अनुमान का समर्थन मटकों की विलक्षण वस्तु-सामग्री से भी होता है। उदाहरणतः, हर एक भाँडे में थोड़ी बहुत राख थी जो सम्भवतः के अवशिष्ट अंश थे। पशुओं की अस्थियाँ वध किए हुए पशुओं के अवशेष और गले-सड़े गेहूँ की तिल आदि के ढेले बलिरूप से उपहृत धान्य के अंश थे। मिट्टी की त्रिकोण रोटियाँ और अंगुलियों की छाप वाले मिट्टी के गोल जो भाँडों में मिले वास्तविक अन्नपिण्डों के नकली प्रतिरूप थे। नकली पिण्डों की आवश्यकता शायद अन्न की कमी अथवा उनके चिरस्थायी होने के कारण हुई हो। भाँडों में निहित वस्तु-सामग्री में मिट्टी के खिलौने भी थे जिनमें मनुष्यों की मूर्तियाँ बैल गाड़ियाँ, छोटी सीपियाँ हथियार भूषण मिट्टी के मोती और सोने कलियाँ आदि सम्मिलित थे। यदि मृतक पुरुष था तो माट में पुरुष मूर्ति रख दी जाती थी और यदि स्त्री थी तो स्त्री मूर्ति। सम्भवतः बैलगाड़ी मृतक की सवारी के लिए, भूषण पहनने के लिए, हथियार शत्रु से बचने अन्न तथा सुगन्धि-द्रव्य शरीर के प्रसाधन और मिट्टी के बर्तन तथा अन्य वस्तुएँ मृतक की आत्मा के उपयोग के लिए थीं। वस्तुतः मृतक की अन्त्यक्रिया के सम्बन्ध में जो काम इन भाँडों से लिया जाता था वह उस श्राद्धविधि से बहुत भिन्न नहीं था जो हिन्दू श्राद्ध की अपने पितरों की तृप्ति के लिए करते हैं। सम्भव है कि हिन्दुओं की यह श्राद्ध-प्रथा सिन्धु-कालीन पूर्वोक्त प्रथा का उत्तर-कालीन रूपान्तर हो। इसलिए यह अनुचित नहीं होगा यदि हम इन तथाकथित 'दाहोत्तर अवशेषों' को 'स्मारक भाँडा अथवा श्राद्ध भाँडों' के नाम से पुकारें।

चित्रमय अलंकरण—साधारणतः कुम्भकला पर जो अलंकरण पाए जाते हैं वे अधिकांश चित्रमय हैं जो लाल पृष्ठभूमि पर काले रंग से बने हैं। बड़े आकार के मटकों और नाँदों पर ये अलंकरण केवल ज्यामिति के रूप में हैं परन्तु छोटे बर्तनों पर इन बेलों के अन्दर रेखाचित्र तथा पेड़-पत्तियों के अभिप्राय भी बने हैं और इनमें कहीं-कहीं पशुओं के चित्र भी हैं। इन चित्रों में मनुष्य-आकृतियाँ बहुत कम हैं। यद्यपि अधिकांश चित्र लाल-काले ही हैं, फिर भी बहुवर्ण चित्रों के उदाहरण भी मिलते हैं जहाँ दो से अधिक रंगों का प्रयोग किया गया है। इस अलंकार-शैली में लाल काले हरे और पीले रंगों का मिश्रण है। यह बहुवर्ण चित्रण केवल छोटे बर्तनों पर ही मिलता है और इस शैली में कुण्डली लिपटी उलझे हुए वृत्त आदि थोड़े ही अभिप्रायों का प्रयोग किया गया है।

सुरमी कुम्भकला पर बने हुए चित्रों में विविध पौधे पत्र और ज्यामितीय

फलक ४१ सिन्धु-कालीन कुम्भकला पर विविध अलंकरण

अभिप्राय हैं (फलक ४१ घ-ङ)। पौधों में पीपल शमी नीम केला खजूर और सरकंडा हैं। ज्यामितीय अभिप्रायों में 'क्रॉस' अंग्रेजी वर्ण 'टी' के आकार के वर्ग करण कूट जाल टोकरा मछली के शल्क बिम्ब बिन्दु, त्रिभुज द्विगुण त्रिभुज अतरंज फलक उलझे हुए वृत्त (फलक ४१ ख) आदि और पशुओं में मोर, मुर्गे हिरण साँप गिद्ध बकरा मछली आदि सम्मिलित थे। हड़प्पा के कई ठीकरों पर मनुष्य मूर्तियाँ थीं। उनमें से एक पर मनुष्य अपने कन्धों पर बहँगी उठाए था जो है (फलक ४१ क) जो सिन्धु-लिपि के एक अक्षर से मिलता है। दूसरे ठीकरे पर एक अधेड़ पुरुष है जिसमें 'पिता-पुत्र' पशु-पक्षियों से संकुल उद्यान में खड़े दिखलाए गए हैं (फलक ४१ ग)।

सिन्धु-कुम्भकला पर चित्रों के अतिरिक्त उत्कीर्ण छाप वाले एवं सुभाषित अलंकरण भी बने हैं। इस भाँति के अलंकरणों में साधारणतः समान केन्द्र तथा उलझे हुए वृत्त हैं। कई बर्तनों पर कुम्हार के चिह्न और मुद्रा छापें भी अंकित हैं जो सम्भवतः स्वामियों के नाम थे। कुछ छोटे बर्तनों की पेंदियों में फफोले से बने हैं। इन्हें 'बार्बो-टाइन' बर्तनों के नाम से निर्दिष्ट किया गया है।

१५

शिल्प-कला

मूर्ति तथा मुद्राओं के निर्माण में सिन्धु-निवासी विशेष प्रवीण थे। इसमें सब का ऐकमत्य है। हड़प्पा से उपलब्ध छोटी मूर्तियों से इन कलाकारों की अद्भुत चातुरी का भूरि भूरि समर्थन होता है। ये मूर्तियाँ 'टीला-एफ' में एक दूसरी से २५ फुट के अन्तर पर मिली थीं। दोनों बिना सिर और भुजाओं के हैं। इनमें से[1] एक लाल पत्थर की बनी हुई खड़े नग्न मनुष्य की मूर्ति है (फलक १६, क)। इसकी ऊँचाई ३.७ इंच और चौड़ाई २.४ इंच है। छोटे आकार की मूर्ति-कला का यह एक अद्वितीय उदाहरण है। इसके अंग प्रत्यंग में वास्तविकता की अपूर्व झलक है। यूनानी मूर्ति-कला से २५०० वर्ष प्राचीन होने पर भी कला दृष्टि से यह उससे किसी बात में निकृष्ट नहीं। इस मनुष्य की किंचित् बढ़ी हुई तोंद मांसल शरीर और धँसी हुई छाती से व्यक्त है कि यह चालीस या पचास वर्ष की आयु के तत्कालीन किसी भारतीय की प्रतिकृति है। कन्धों के नीचे और गर्दन पर बने हुए छेद भुजाएँ और सिर पृथक् जोड़ने के लिए बनाए थे परन्तु स्तनों और कन्धों पर खोखले करने से निकले हुए छिद्र सम्भवतः जड़ाई के लिए थे। मूर्तियों को इस ढंग बनाने की यह कला प्राचीन यूनानियों और भारतीयों को अज्ञात थी।

दूसरी मूर्ति नं. एच १११ एक नर्तक का कबन्ध है। यह काले रंग के स्लेटी पत्थर की बनी है (फलक १६, ख)। इसकी ऊँचाई ३.९ इंच और चौड़ाई २.२ इंच है। छोटे आकार की मूर्ति-कला का यह भी एक अपूर्व उदाहरण है। पहली मूर्ति की तरह इसमें भी भुजाएँ और सिर पृथक् जोड़ने के लिए गर्दन और कंधे में छेद हैं। इसी प्रकार गर्दन और स्तनों में बने हुए छोटे रन्ध्रों में प्रारम्भ में सम्भवतः हाथी-दाँत या सीपी के टुकड़े जड़े थे। अपनी अद्भुत नृत्यमुद्रा तथा अंग-प्रत्यंग के सौष्ठव के कारण यह नर्तक-मूर्ति शिल्पकला का एक अद्वितीय उदाहरण है (फलक १६, ख)। गले की असाधारण मोटाई के कारण मार्शल महोदय लिखते हैं कि इस मूर्ति के तीन सिर थे और सम्भवतः यह मूर्ति शिव नटेश का पूर्वरूप थी।

प्रारम्भिक राजवंशों काल में मूर्ति को सम्पूर्ण बनाने की कला मेसोपाटेमिया

---

[1] मार्शल—मोहेंजो-दड़ो एण्ड दि इण्डस सिविलाइजेशन खण्ड १ पृष्ठ ४५-४६।

में प्राप्त थी। सर लियोनार्ड वूली को उर की 'राजकीय-कब्रों' में अल्कया बने हुए मेढ़ों की जो मूर्तियाँ मिली थी उनका उल्लेख उक्त महोदय ने किया है[1]। शागनि-काल की कुछ और मूर्तियाँ जो फ्रैंकफर्ट को खफजा की खुदाई मे मिली भी अल्कया बनी थीं। उनमे एक मनुष्य-मस्तक है[2] जिसका अलग बना हुआ पृष्ठ-भाग खूँटी के द्वारा अग्रभाग से जुड़ा था। इसी विधि से यह नरमुण्ड शरीर से भी जोड़ा गया था। आँख के गोले सफेद सीप के और पलकें कपिश सिलाजीत या राल की बनी थी। फ्रैंकफर्ट के मतानुसार खफजे की बहुत-सी मूर्तियाँ अल्कया तैयार की गई थी[3]।

मोहेंजो-दड़ो की पाषाण-मूर्तियों मे हड़प्पा की मूर्तियों के अनुपात और सौन्दर्य का अभाव है। सिन्धु-कला की उत्कृष्टता जिसके उदाहरण सैकड़ो पाषाण-मुद्राएँ हैं, भी उच्च कोटि की थी। मुद्राएँ सिन्धु-कालीन कलाकारों की अद्भुत कृतियाँ हैं। उन पर उत्कीर्ण पशु इतने वास्तविक हैं कि सजीव प्रतीत होते हैं। विशेषज्ञों का विचार है कि जो कलाकार ऐसी अपूर्व मुद्राएँ गढ़ सकते थे वे निस्सन्देह इस कुशलता से कोरकर अद्भुत मूर्तियाँ बनाने का सामर्थ्य भी रखते थे।

हड़प्पा और मोहेंजो-दड़ो में जो थोड़े से पत्थर के बर्तन मिले वे छोटे आकार के तथा भद्दे थे। सिन्धु-कालीन कलाकार लकड़ी की मूर्तियाँ बनाना भी अवश्य जानते होंगे परन्तु गैर-टिकाऊ होने के कारण ऐसी कोई वस्तु खुदाई मे नहीं मिली। शंख सीप और हाथीदाँत का काम भी जाना था। इन द्रव्यों की बनी हुई घरेलू उपयोग की अनेक वस्तुएँ उपलब्ध हुई हैं जिनमें जड़ाई के टुकड़े, मालाएँ, कटकन, चौसर, पाँसे, खेलों के मोहरे, कटारियाँ आदि सम्मिलित हैं। सिन्धुकालीन लोग कृषि-विज्ञान मे भी प्रवीण थे। उनके पास खेती बीजने और काटने के पर्याप्त साधन और उपकरण थे। परन्तु अधिकांश लकड़ी के होने के कारण कालान्तर में नष्ट हो गए। सूत कातने और कपड़ा बुनने की कला भी ज्ञात थी। तदुपयोगी साधनों में से बहुत से नष्ट हो चुके हैं। केवल कुछ तकले फिरकियाँ और तकलियाँ शेष हैं।

सीना और कसीदा काढ़ना—हड़प्पा में वस्त्रों के कोई अवशेष नहीं मिले। केवल सुगन्धित द्रव्य डालने के कुछ छोटे बर्तनों के अन्दर कपड़े की छाप के निशान पाए गए थे। ताँबे और काँसे के कई एक सुए जो खुदाई मे मिले इस बात के साक्षी हैं कि लोगो को सीना पिरोना और कसीदा निकालना आता था। इसका समर्थन मोहेंजो-दड़ो की उस पाषाण मूर्ति से भी होता है जिसके मिश्रित आभरण से सुशोभित

1 वत्स—एक्सकेवेशन्स एट हड़प्पा ग्रन्थ 1 पृष्ठ ७४ ७५।
2 फ्रैंकफर्ट—टैल असमर एण्ड खफजे पृष्ठ २१ ७।
3 फ्रैंकफर्ट—टैल असमर एण्ड खफजे पृष्ठ २१ ७।

घास घोसा हुआ है (फलक १८, ग)। मालूम होता है कि असली घास पर यह अलं-करण नक्काशी काट कर बनाया गया था। मोहेंजो-दड़ो से एक भूषण-समुदाय में मनके के तीन सूए थे जो शायद किसी विशेष प्रकार के नक्काशी काढ़ने में व्यवहृत होते होंगे।

चित्रकारी और चित्रलेप (ग्लेज़)—यह सिद्ध करने के लिए पर्याप्त प्रमाण है कि चित्रकारी एवं चित्रलेप कलाओं में सिन्धु-कालीन लोग प्रवीण थे। इनका माध्यम अधिकांश मिट्टी के बर्तन और खिलौने हैं। एक-रंगी चित्रों के अतिरिक्त बहुरंगी चित्रों के उदाहरण भी मिले हैं जिनका ऊपर वर्णन किया जा चुका है। चित्रलेप (ग्लेज़) मिट्टी के बर्तनों, फियांस पेस्ट आदि कई प्रकार की अलंकरण-वस्तुओं पर चढ़ाया जाता था। ग्लेज़ चढ़ाकर जब कोई वस्तु पकाई जाती थी तो उसकी विस्तृत-तह पर एक विशेष चमक आ जाती थी। ग्लेज़ वाली वस्तुएँ गहरे स्तरों से भी मिली हैं जिससे स्पष्ट है कि सिन्धु-निवासियों को इस क्रिया का ज्ञान बहुत प्राचीन-काल से था। मालूम नहीं कि इस कला का आविष्कार किस देश में हुआ। इतने प्राचीन-काल की ग्लेज़ वाली कोई वस्तु किसी अन्य देश में अभी तक नहीं मिली। फिर भी यह कैसे कहा जा सकता है कि भारत को इस कला के आविष्कार का श्रेय नहीं दिया जा सकता। सिन्धु-निवासियों को यथार्थ शीशे का ज्ञान नहीं था यद्यपि वे फियांस द्रव्य से भली प्रकार परिचित थे। बेक महोदय के मतानुसार फियांस एक मिश्रित पदार्थ था और इसमें मात्रा में प्रधान अंश क्वार्ट्ज़ (स्फटिक ?) पत्थर का था। वे लिखते हैं कि इस पत्थर को पीस कर और इसमें क्षार रंग तथा अन्य वस्तुएँ मिलाकर इसे सांचे में ढाला जाता था और अन्त में पकी वस्तु पर ग्लेज़ का लेप चढ़ा दिया जाता था। इस कृत्रिम द्रव्य से विविध वस्तुएँ बनती थीं जैसे बर्तन-भाण्ड, चूड़ियाँ, कर्णफूल, बटन, मुद्राएँ आदि।

सुवर्णकार की कला—सिन्धु-कालीन सुवर्णकार उत्तम कोटि का कलाकार था। इसका समर्थन उन भूषण-समुदायों से होता है जो हड़प्पा और मोहेंजो-दड़ो में मिले। धातुओं को पिघलाने, जोड़ने तथा मीनाकारी और जड़ाई के कामों में वह सुनार प्रसिद्ध था। शीर्षहार, कण्ठहार, मेखला, सिक्के कंठे, बिन्दप और लटकन, बाजूबन्द, चूड़ियाँ, कनस्त, कर्णफूल, बटन आदि भूषणों को वह सुगमता से बना सकता था और सूक्ष्म जड़ाई के काम से इनके सौन्दर्य को बढ़ा सकता था। इसी प्रकार पत्थर का काम करने वाले शिल्पी तथा संगतराश भी अपने व्यवसाय में प्रवीण थे। वे गोमेद (अकीक) कार्नीलियन जैसे कठिन पत्थरों को सुगमता से काट तथा छेद सकते थे और इन पर पालिश भी चढ़ा सकते थे। पत्थरों में छेद निकालने के लिये दो प्रकार के बरमे प्रयोग में आते थे। इनमें एक सूचीमुख शलाकाकार और दूसरा नलिकाकार होता था।

पत्थर एवं हाथीदांत आदि द्रव्यों में आकृतियाँ निकालने के लिए 'पूब' नामक औजार काम में आता था। खड़िया पत्थर को कूट तथा बारीक पीसकर इसकी लेई से अनेक भूषण और मनोरंजनोपयोगी वस्तुएँ प्रस्तुत की जाती थीं।

लिखने की कला—सिन्धु-कालीन लेख प्रणाली भी एक अद्भुत कला थी। इसका समर्थन सिन्धुलिपि के अत्यन्त विकसित एवं सुडौल चिह्नाक्षरों से होता है। अभी तक स. सौ से लगभग चिह्नाक्षर उपलब्ध हो चुके हैं और उनके चित्रदर्शनीय रूप से यह अनुमान लगाना कठिन नहीं कि इस विकसित दशा तक पहुँचने के लिये इस लिपि को कितनी शताब्दियाँ लगी होंगी। अक्षरों के अन्दर बाहर विभक्ति-व्यंजक लघुमात्रा लगाने से मौलिक सरल अक्षर के अनन्त रूपान्तरों का बन जाना इस लिपि की ऐसी विशेषता है जो अन्य किसी चित्र लिपि में अभी तक नहीं पाई गई[1]।

खनिज पदार्थ—पूर्वनिर्दिष्ट पाँच धातुओं के अतिरिक्त और भी कतिपय खनिजों के ढेले हड़प्पा के खण्डहरों में मिले हैं। सम्भवतः इनका प्रयोग औषधियों या रसायनिकों के प्रस्तुत करने में होता था। इस प्रसंग में हरताल, आमसेन, नीली और हरी मिट्टी तथा सफेद खिरौंजी विशेषतया वर्णनीय हैं। इनमें से कई एक खनिज विविध रंग प्रस्तुत करने के काम में आते थे।

भट्टियाँ—शिल्पियों के निवासगृहों के अन्दर बाहर उन सोलह भट्टियों का वर्णन करना भी आवश्यक है जो 'टीला-एफ' की खुदाई में मिली थीं। इनमें एक भट्ठी पक्के की बनी हुई एक चतुर्भुज आकार की और शेष चौदह किरण-नुमा थीं। कई भट्टियों के अन्दर दीवारों के साथ चिमटे हुए ऊपर के टुकड़े पाए गए हैं जिससे स्पष्ट था कि इन भट्टियों में चिकनी मिट्टी आदि की वस्तुएँ पकाई जाती थीं और महाधातु तथा मुद्राओं पर रंग भी चढ़ाई जाती थी। भट्टियों में उचित आँच का नियन्त्रण और नाना प्रकार की वस्तुएँ पकाने में इनका यथार्थ उपयोग इस बात का सुन्दर प्रमाण है कि सिन्धुकाल के शिल्पी विलक्षण कलाकार थे।

१ सिन्धुलिपि के विस्तृत विवरण के लिये पृ० २११-२३१ देखें।

१६

मनुष्य और पशुओं की मूर्तियाँ

मोहेंजो-दड़ो की मूर्तियों की तरह हड़प्पा की अधिकांश मूर्तियाँ भी कच्ची मिट्टी की हैं। ये सब हाथ की बनी हैं और उनके शरीर ठोस तथा चेहरे पक्षियों जैसे हैं। मुख और आँखों की अभिव्यक्ति चिपकाई हुई मिट्टी की गोलियों से की गई है (फलक १६ क व-ङ)। मुख की प्रतीक ओठों में लकड़ी से गहरी रेखा डालकर अंकरण को दिखलाया गया है। टाँगें और भुजाएँ मिट्टी की गोल बत्तियों की बनी हैं। इनमें हाथ पाँव की अंगुलियों की अभिव्यक्ति नहीं की गई। नाक को बहुत ऊँची और बेडौल है जिसका कर नहीं किन्तु चेहरे की मिट्टी को अंगुलियों से दबा कर बनाई गई थी। सामान्यतः प्राय मस्तक है समतल है परन्तु कान किसी भी मूर्ति के नहीं बने हैं। अपने विकृत पशुसमान चेहरा के कारण सिन्धुकालीन मनुष्य-मूर्तियों की तुलना मेसोपोटेमिया और ईरान की प्राचीनतम मूर्तियों से की जा सकती है।[1] डॉ. मैके का विचार है कि सिन्धुकालीन बहुत सी मनुष्य मूर्तियाँ आरम्भ में लाल-काले रंगों से चित्रित थीं।

पार्थिव मनुष्य-मूर्तियाँ हड़प्पा और मोहेंजो-दड़ो के अतिरिक्त भारत के ऐतिहासिक काल के खंडहरों में भी व्यापक रूप से मिली हैं। समकालीन सामाजिक जीवन के चित्रण की अभिलाषा मानव हृदय में सदा प्रबल रही है। इसे मूर्त स्वरूप देने के लिए स्वभावतः उसने मिट्टी जैसे बेमोल के माध्यम से बहुत काम लिया। मनुष्य के सामाजिक धार्मिक और दैनिक जीवन को मूर्त अभिव्यक्ति में मिट्टी के खिलौनों ने प्रमुख काम किया है। इसका और भी महत्त्व इस बात में है कि लोकप्रिय कला

---

१ पशु-समान चेहरों और द्रुष्ट आकृतियां के विषय में ईरान के प्रागैतिहासिक बाकर 'मसो' से प्राप्त मनुष्य-मूर्तियाँ सिन्धुकालीन मनुष्य-मूर्तियों से बहुत साम्य रखती हैं।

चित्र—हिस्टरी आफ सुमेर एण्ड एक्कड फलक न. १६।

समकालीन उर से उपलब्ध मिट्टी की मनुष्य-मूर्तियों के सिर भी वैसे ही पशुओं के सिरों के समान हैं जैसे बाद से प्राप्त मुद्राओं पर खुदी हुई मूर्तियों तथा मुद्रा की मुद्रांकना पर चित्रित मूर्तियों के हैं। कई विद्वानों के मत में इन पशु-मुख मूर्तियों का कुछ तांत्रिक अभिप्राय था।

—एंटीक्विटी वॉ. १३, न. ५० पृ. १६१।

फलक ४८ सिन्धुकालीन पशुओं की मूर्तियाँ

होने के कारण इसमें निम्नस्तर के साधारण लोगों के जीवन का चित्रण है। इस दृष्टिकोण से जब हम सिन्धुकालीन खिलौनों का अध्ययन करते हैं तो पता चलता है कि इनमें हजारों वर्ष पुरानी प्रथाओं और रीति-रिवाजों का अनमोल कोष भरा पड़ा है। इनके द्वारा चिरकाल से काल-गर्भ में विलीन मानव समाज के वेश भूषा व्यवसाय आदि का विशद विवरण मिलता है। यह दस्तकारीकरण की कला है और इससे हम प्रागैतिहासिक काल का अधिक ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं। पत्थर, धातु इत्यादि आदि बहुमूल्य तथा दुष्प्राप्य माध्यमों की बनी हुई वस्तुओं से यह ज्ञान प्राप्त करना सम्भव नहीं।

सिन्धुकालीन मनुष्य-मूर्तियों में साठ प्रतिशत के लगभग स्त्रियाँ हैं और शेष पुरुष। मूर्तियाँ स्थान और प्राचीन दोनों मुद्राओं में पाई गई हैं। सभी स्त्री-मूर्तियाँ को सिरों पर उन्नत शिरोवेष्टन कण्ठहार, मेखला और कटिवस्त्र पहने हैं सम्भवत मातृदेवी की प्रतिमूर्तियाँ हैं। उनमें से कई एक अपने दोनों हाथों से शिरोवेष्टन को छू रही हैं मानों अभिवादन कर रही हों। ऊपर वर्णन किया जा चुका है कि इस अभिवादन मुद्रा का तात्पर्य सम्भवत सिन्धु-युग के पशुपत्याभिप्रायु परमदेवता के प्रतीक शृंगमुकुट का आदर करना था। असाधारण स्त्री मूर्तियों में कई एक उल्लेखनीय हैं—एक गर्भवती स्त्री दूसरी अपने हाथ में एक गोल वस्तु (रोटी ?) और तीसरी सींगों वाला मुकुट (शृंगमुकुट) उठाये हुए है। कई स्त्रियाँ बच्चों को स्तन पिला रही हैं एक के सिर पर पुष्पमाला है (फलक १६, ग घ) और एक दूसरी स्त्री अपनी गोद में बड़ी पीढ़ी की थाली उठाये हुए है।

मृण्मय पुरुष-मूर्तियाँ प्राय सभी नग्न हैं। कई खड़ी और कई बैठी हैं। उनका केशविन्यास कई प्रकार का है। कई मूर्तियाँ गलों में हार पहने हैं। कई के सिरों पर स्त्रियों की तरह लम्बे केश और कई के सिर मुंडित हैं। उनकी मूँछें मुड़ी हुई और दाढ़ियाँ छोटी तथा कुछ नुकीली हैं (फलक १६, ड च)। कई के गले में कालर (फलक १६, ख ग) और मस्तक पर सिंगार पट्टी है। कई पुरुष टाँगें समेट और दोनों भुजाओं से उन्हें लपेटकर घुटनों के बल इस प्रकार बैठे हैं जैसे ग्रामीण लोग शीतकाल में प्राय धूप सेंकते बैठते हैं (फलक १६, क)। एक और विचित्र आसन मुद्रा है जिसमें मनुष्य ने टाँगें लम्बी तानी हैं और हाथ नमस्कार मुद्रा में छाती पर रखे हैं (फलक १६ ठ)। पूर्वोक्त दोनों मुद्राएँ किसी धार्मिक अभिप्राय की प्रतीक होंगी हैं। शायद ये मनुष्य देवपूजा अथवा किसी साधना में संलग्न हैं। एक पुरुष की मुद्रा से ऐसा मालूम होता है मानो वह व्यायाम कर रहा हो। उसकी दोनों भुजाएँ पीछे की ओर तनी हैं और घुटने कुछ बाहर को निकले हैं। एक मनुष्य ने अपने लम्बे केशों को चोटी के आकार में सजाया है दूसरा गले में दुपट्टा पहने है (फलक १६, ज)

और तीसरे के सिर पर कुड्मलाकार जटाजूट है (फलक ४७ ठ)।

पशुमूर्तियाँ—पशुमूर्तियों में कई प्रकार के पालतू और जंगली जानवर हैं (फलक ४४)। इनमें बैल भैंसा भेड़ा बकरा मेढ़ा साँड हाथी सूअर कुत्ता, बंदर और बिलाव वर्णनीय हैं। छोटे पशुओं और रेंगने वाले जन्तुओं में न्योला साँप चींटी-मकोड़े आदि जल-जन्तुओं में मगर घड़ियाल कछुआ मछली आदि वर्णनीय हैं। पक्षियों में बत्तख मोर, मुर्ग चील कबूतर फाख्ता सुग्गा उल्लू और हंस समाविष्ट हैं। एक मिट्टी की मूर्ति में दो व्याघ्रमुख एक ही धड़ से उभर रहे हैं (फलक ४४ क)।

हड़प्पा में मनुष्य अथवा पशु की एक भी ताँबे की मूर्ति नहीं मिली। परन्तु मोहेंजो-दड़ो से कई एक हस्तगत हुई थी। गिलहरी भेड़ा पक्षी आदि की फ़ियान्स की बनी हुई बहुत सी मूर्तियाँ हड़प्पा से प्राप्त हुई थीं। सब से विलक्षण पेस्ट की बनी हुई गैंडे की एक छोटी प्रतिकृति है जो इस पशु को सजीव तथा वास्तविक रूप में दिखलाती है (फलक ४४ ख)।

मृण्मय मूर्तियाँ प्रयोजन-भेद से तीन भागों में विभक्त की जा सकती हैं। इनमें कई एक अन्य वस्तुओं के साथ पूर्वोक्त स्मारक-भाँडों में से मिली थीं जहाँ वे मृतक की अन्त्यक्रिया के सम्बन्ध में रखी गई थीं। दूसरे प्रकार की मूर्तियाँ जिनमें गर्भवती अथवा बच्चों को स्तन पिलाती हुई स्त्रियाँ हैं निस्सन्देह पुत्रकामना की पूर्ति के उपलक्ष्य में घरों अथवा मंदिरों में इष्टदेवता के सम्मुख भेंट की गई थीं। तीसरी भाँति की वे असंख्य मूर्तियाँ हैं जो शिशुविनोद के लिये खिलौनों के रूप में बनाई गई थीं। मृतक की अन्त्यक्रिया से सम्बद्ध वस्तु-सामग्री में मनुष्य-मूर्तियों के अतिरिक्त पशुमूर्तियाँ भी थीं। इस भाँति की खड़ी स्त्रीमूर्ति जो एक स्मारक भाँड में मिली अंगुली में ताँबे की अंगूठी पहने हुए थी।
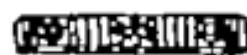
ड ढ ण

फलक ४२ खिलौने तथा विनोद की वस्तुएँ

१७

रीति रिवाज और विनोद सामग्री

हड़प्पा की खुदाई से विनोद तथा क्रीड़ा की विविध वस्तुएँ उपलब्ध हुई थीं। उनमें मनुष्य और पशुओं की मूर्तियाँ, बैलगाड़ियाँ, पशु और पक्षियों के आकार के रथ, दो पहिये वाला ताँबे का विलक्षण रथ (फलक ४ ट) हिलते हुए सिरों वाले बैल (फलक ४६, ड य) क्रीड़ाशुक रखने के पिंजरे (फलक ४१ य) चलनियाँ, छोटे टोकरे (फलक ४६, ठ) झुनझुने, वृक्ष के ठूँठ पर ऊपर नीचे भागते हुए बन्दर आदि (फलक ४४ ख) थे। क्रीड़ा की वस्तुओं में पत्थर, शंख, फेंस आदि के बने गोले और गोलियाँ जिनमें मीमे चकमक पत्थर की बनी गोलियाँ सर्वश्रेष्ठ हैं। घनाकार अक्ष (फलक ४६, क) जिन पर अंकित रेखाओं का विन्यास तीन प्रकार का है। उनमें से एक अक्ष के छः पार्श्वों पर जो चिह्न बने हैं उनकी योजना आजकल के अक्षों की तरह है अर्थात् १ के सामने ६, २ के सामने ५, और ३ के सामने ४ जिससे आमने सामने के दो अंकों का योग ७ ही आता है[1]। यह बात उल्लेखनीय है कि अक्ष क्रीड़ा वैदिक-काल में भी प्रचलित थी। उस समय अक्ष विभीतक के फल का बनाया जाता था क्योंकि लोगों का विश्वास था कि इस वृक्ष में पाप और अधर्म का निवास है।

इसी प्रकार सिन्धु-घाटी से प्राप्त मिट्टी, फ़ियांस आदि के बने हुए अनेक क्षुद्राकार तिपहलू मोहरे भी किसी न किसी खेल में काम आते थे (फलक ४६, न)। कई एक अज्ञात प्रयोजन के मोहरे भी अवश्य किन्हीं खेलों से ही सम्बन्ध रखते थे परन्तु इस समय उनके यथार्थ प्रयोजन का जानना कठिन है। यह स्पष्ट है कि लकड़ी आदि विनश्वर द्रव्यों की बनी हुई सिन्धु-कालीन असंख्य विनोद-वस्तुएँ पुरातत्त्व के लिए चिरकाल से सर्वथा नष्ट हो चुकी हैं।

हाथीदाँत की बनी हुई चौपहल अनेक शलाकाएँ जिन पर समानान्तर वृत्त और आड़ी रेखाएँ अंकित हैं बहुत मिली थीं (फलक ४६, च छ)। डॉ. मैके के विचार में ये भी एक प्रकार के अक्ष ही थे। इनमें से कई शलाकाओं पर सब ओर एक ही भाँति के चिह्न अंकित हैं (फलक ४६, च)। उनका कहना है कि इन शलाकाकार

---

[1] सन् १८५४ में बेलेसिस को ब्राह्मणाबाद में जो अक्ष मिला उसके अंकों की भी यही योजना थी। मिस्र में फ्लिंडर्स पिट्री को जो हड्डी के अक्ष मिले थे भी ऐसे ही थे।

पासों का सम्बन्ध फेंके जाने के अनन्तर इनकी अपेक्षाकृत स्थिति पर निर्भर था। हड़प्पा में एक शलाकाकार ठप्पाकित पासे के एक सिरे पर ताँबे की टोपी चढ़ी थी जिससे प्रतीत होता था कि सम्भवतः ये किसी हार का लटकन था। हो सकता है कि इन पासों में से कई एक शायद लटकनों या ताबीजों के रूप में प्रयोग में आते थे और इन पर जो निशान अंकित हैं उनका कुछ तांत्रिक सम्बन्ध हो।

पत्थर, फ़ेंस, मिट्टी आदि के बने हुए शिखाकार वस्तुओं में भी कई सम्भवतः खेलने के मोहरे ही होंगे (फलक ५१ ख)। इनका एक बड़ा समुदाय जो हड़प्पा से मिला शायद शतरंज या पच्चीसी का साधन था। सिन्धु-निवासियों के पास खेलने के लिए क्रीडापट्ट भी थे। एक बड़ी ईंट जिस पर आड़ी टेढ़ी रेखाओं के परस्पर काटने से कोष्ठ बने थे शायद इसी प्रयोजन का एक क्रीडा-फलक था। मोहेंजो-दड़ो में एक पकी मिट्टी के फलक (टाईल) पर निशान बने थे जिनमें से एक में 'क्रॉस' का प्रतीक एक चिह्न अंकित था। मिस्र और सुमेर के प्राचीन खण्डहरों से भी क्रीडापट्ट मिले हैं। बच्चे गोलियाँ खेलते थे। कई एक गोलियाँ जिन पर समान केन्द्र वृत्त बने हैं खेल की ही वस्तुएँ थी (फलक ५१, क)।

स्वभाव और रीति-रिवाज—सिन्धु निवासी भारी मांसभक्षक थे। इसका समर्थन हड़प्पा और मोहेंजो-दड़ो के टीलों में गो-जाति के पशुओं की हड्डियों के अम्बारों से होता है। लोग आखेट के शौकीन थे। कुत्ते और मुर्ग को पालते थे। परन्तु इस बात का पता नहीं कि वे कुत्तों से शिकार करते थे या नहीं। सम्भवतः मुर्गों का द्वन्द्व युद्ध एक विनोद समझा जाता था। सूअर और दूसरे जंगली जानवरों को जाल आदि से पकड़ना और मछलियों का शिकार करना लोकप्रिय विनोद और व्यवसाय भी था। गेहूँ और जौ उनके प्रधान अन्न थे। परन्तु फल दूध दही मक्खन आदि भी खाद्य वस्तुएँ थीं। मामर और बादाम गिरि के बीज पीली हरताल शिला जीत आदि वस्तुएँ औषधियों के काम आती थीं। शिलाजीत नैपाल के पहाड़ी इलाकों से आती थी। यह हिमालय की चट्टानों से एक प्रकार का क्षार निकलता है जिसे इकट्ठा करके पहाड़ी लोग आज भी मैदानों में ले आते हैं और अजीर्ण तथा बहुत सी बीमारियों के लिए दवाई के रूप में बेचते हैं।

१८

सिंधु लिपि

सिंधु-लिपि के अधिकांश चित्राक्षर मुद्राओं पर अंकित हैं। इसलिए यहाँ सर्वप्रथम मुद्राओं के सम्बन्ध में कुछ परिचय देना आवश्यक है। हड़प्पा और मोहेंजो-दड़ो के खण्डहरों से प्रायः तीन हजार के लगभग मुद्राएँ और मुद्राछाप अब तक उपलब्ध हो चुकी हैं। आकारभेद से ये दो प्रकार की हैं। प्रथम बड़े आकार की छाप लगाने की मुद्राएँ (फलक ४६ प १ २) जिन पर अक्षर और मूर्तियाँ उलटी खुदी हैं। ये एक प्रकार के साँचे हैं जो गीली मिट्टी लाख मोम आदि कोमल द्रव्यों पर छाप लगाने के काम में आते थे। दूसरी खड़िया पत्थर की गुटिकाकार मुद्राएँ (फलक ४६ प १ ११) जो बनावट में अत्यन्त दुर्लभ और भँगुर हैं। इनमें से कई पर लेख उलटा और कई पर सीधा खुदा है। अपनी भँगुरता के कारण ये मुद्राएँ छाप लेने के काम में नहीं आ सकती थीं। छाप-मुद्राएँ प्रायः खड़िया पत्थर की बनी हैं और आकार में वर्ग अथवा समकोण चतुर्भुज की शकल की हैं। इनमें से कलात्मक मुद्राओं की चुड़ाई ७५ से २ १२ इंच तक है। इनके सामने माथे पर एकशृंग अथवा कोई दूसरा पशु, ऊपर के किनारे के साथ चित्राक्षर और पीठ पर डोरी बाँधने के लिए एक छेददार उभार होता है (फलक ४६ प १)। पशु चाहे एकसमान हो प्रत्येक मुद्रा पर लेख भिन्न-भिन्न होते हैं। अन्य उत्कीर्ण पशुओं में ब्राह्मणी बैल (वैदिक महर्षभ) हाथी भैंसा बाघ गैंडा तीन पाय छोटे सींगों वाला बैल मगर, हरिण आदि हैं। कई मुद्राओं पर नरमुख सकीर्ण पशु खुदा है जिसका शरीर हाथी बाघ भेड़ा आदि छः आठ पशुओं के भिन्न-भिन्न अंगों के विचित्र योग से सगठित है। एकशृंग वाली मुद्राओं पर पशु के गले के नीचे एक वेदिका खड़ी रहती है। कई एक पशुओं के आगे टोकरा भरा हुआ रखा है (फलक २५ आ)। मार्शल के विचार में पशुओं के आगे टोकरा रखने का तात्पर्य यह नहीं था कि ये पशु पालतू थे किन्तु इन पशुओं में आविष्ट आसुरी शक्तियों को शान्त करने के लिए लोगों के द्वारा दी हुई यह एक प्रकार की बलि थी।

समकोण चतुर्भुज आकार की छाप-मुद्राएँ सामने की ओर समतल और पीठ पर उन्नतोदर हैं (फलक ४६ प २)। डोरी बाँधने के लिए इनमें एक या दो छेद बने होते हैं। कई एक मुद्राएँ दोनों ओर समतल हैं। इनमें से कई की पीठ पर छेददार

फलक ४६ सिन्धु-कालीन मुद्राएँ तथा चित्र-लिपि

उभार है और कहीं पर नहीं। ऐसी मुद्राओं पर प्रायः केवल लेख ही अंकित होता है पशु नहीं।

मुद्राकार मुद्राएँ—दूसरी श्रेणी में दो सौ के लगभग खड़िया पत्थर की मुद्राकार मुद्राएँ सम्मिलित हैं। उनकी लम्बाई १५ से ६ इंच तक चौड़ाई ११ से १ इंच तक और मोटाई १ से ५ इंच तक है। छाप-मुद्राओं पर लेख और पशु गहरे, सुन्दर और यथार्थ खुदे हैं परन्तु क्षुद्र-मुद्राओं पर ये वैसे सुन्दर और गहरे नहीं हैं। बड़ी और छोटी मुद्राओं में जो परस्पर अन्तर है उसका विवरण इस प्रकार है—मुद्राकार मुद्राओं में डोरी डालने के लिए न तो कोई छेद है और न ही उनकी पीठ पर किसी प्रकार का उभार है। उनमें से बहुत-सी मुद्राओं पर एक ही प्रकार के लेख हैं परन्तु बड़ी मुद्राओं पर जो लेख हैं वे एक दूसरे से नहीं मिलते। छोटी मुद्राएँ कई आकार की हैं जैसे चतुर्भुज लम्बाकार (फलक ४६ ख ६) धनाकाकार (घ ८) वृत्ताकार (ख ६) समोन्नत तथा चतुष्पा (ख ११) मछली (ख १३) बोतल पत्र आदि के आकार की। चतुर्भुज आकार की छोटी मुद्राओं में से अधिकांश पर दोनों ओर लेख हैं कई पर एक ओर लेख और दूसरी ओर पशु पीपल का पत्ता वेदिका आदि अभिप्राय हैं। कई मुद्राएँ केवल एक ओर ही लेखांकित हैं दूसरी ओर खाली हैं। बहुत-सी त्रिपहलू धनाकाकार (ख २) मुद्राओं पर दो ओर लेख और तीसरी ओर वृत्त अथवा अन्य अभिप्राय हैं। बड़ी मुद्राओं पर खुदे हुए चित्राक्षरों की संख्या १ से लगभग है परन्तु छोटी मुद्राओं पर इनकी संख्या केवल पचास तक ही सीमित है। विद्वानों का अनुमान है कि ये मुद्राएँ या तो मन्त्र (रक्षा-कवच) और तावीजों के रूप में प्रयोग में आती थीं अथवा उस समय का चलन थीं।

सिंधु-लिपि—सिंधु-लिपि उन सर्वाधिकमय लिपियों के परिवार में से है जो ताम्रयुग में पश्चिमी एशिया तथा आस-पास के देशों में प्रचलित थीं। इस लिपि में १ से अधिक चित्राक्षर हैं जिनमें ९ के लगभग मौलिक अक्षर (फलक ४७ क) और शेष उनके केवल रूपान्तर हैं। मौलिक अक्षरों में कई प्रकार की मात्राएँ एवं बाण मनमाना आदि लगाने से अथवा दूसरा अक्षर जोड़ देने से एक ही वर्ण के अनेक रूपान्तर बन जाते थे। उदाहरणतः 'मनुष्य'-वाचक (फलक ४६ ग १) अथवा 'मत्स्य'-वाचक (फलक ४६ ग २) सरल मौलिक अक्षरों से पूर्वोक्त विधि से अनेक सुदीर्घ रूपान्तरों का प्रादुर्भाव हुआ था जैसा कि फलक ४६ (ग ३ व ४) में प्रदर्शित है। यह बात उल्लेखनीय है कि हड़प्पा और मोहेंजो-दड़ो के निम्नतम स्तर में जब सिंधु-लिपि प्रथम प्रकाश में आई तो इसके अक्षर चित्रमय रूप का त्याग कर पहले ही वर्णमय भूमिका पर पहुँच चुके थे। अधिकांश अक्षरों में इतना परिवर्तन हो चुका था कि उनके मौलिक चित्राक्षरों का पता लगाना या यह मालूम करना कि

फलक ४७ (क) सिन्धु-लिपि से ब्राह्मी-लिपि के सादृश्य ।
(ख) सिन्धु-लिपि के मौलिक चिह्नाक्षर ।

प्रत्येक वर्ण अमुक पदार्थ का चित्र है अत्यन्त कठिन था। अतः इस लिपि के आविर्भाव क्रमिक विकास और तिरोभाव का सम्बद्ध इतिवृत्त अभी अज्ञात है। हड़प्पा और मोहेंजो-दड़ो के सात-आठ स्तरों में प्रतिबिम्बित दीर्घ-जीवनकाल में इस लिपि के आकार में किंचित् भी परिवर्तन दृष्टिगोचर नहीं होता। संसार की हर एक लिपि-शैली के समान सिन्धु-लिपि का आविर्भाव भी पदार्थ-चित्रों में ही हुआ था। धीरे-धीरे इन चित्रों से ध्वन्यात्मक पदांशों और पदों का क्रमिक विकास हुआ।

लिपि-विद्या-विशारद बार्टन के कथनानुसार समस्त प्राचीन लिपियों का जन्म चित्राक्षरों से हुआ था। प्रथम चित्राक्षरों से उच्चारण-समर्थ पदांशों का और अनन्तर पदांशों से ध्वन्यात्मक वर्णमाला का विकास हुआ। उनके मत में कतिपय मौलिक चित्राक्षरों से अन्य चित्राक्षरों की उत्पत्ति चार प्रकार से अस्तित्व में आई। यथा—(१) मौलिक चित्राक्षरों को सरल एवं सुगम बनाने से (२) मौलिक चित्राक्षरों के योगद्वारा नए अक्षर बनाने से (३) आरम्भ में नितान्त भिन्न दो या अधिक चित्राक्षरों के योगद्वारा संयुक्त चित्राक्षर बनाने से (४) एकाकी चित्राक्षर के अनेक रूपान्तरों में से किसी एक को प्रधानता मान लेने से[1]।

वर्ण-मालात्मक नहीं—सिन्धु-लिपि शुद्ध रूप से वर्णमालात्मक लिपि नहीं थी। इस तथ्य का प्रमाण इस लिपि के ४ से अधिक चित्राक्षर हैं। इन लिपियों के सम्बन्ध में जो शुद्धरूप से वर्णमालात्मक नहीं हैं कहा जा सकता है कि वे तीन प्रकार के अक्षरों से बनी थीं—(१) 'उच्चारण-समर्थ पदांश' (२) 'संकेताक्षर' और (३) 'निर्धारक-अक्षर'। लिपि-शास्त्रियों की सम्मति में सिन्धु-लिपि का शरीर भी पूर्वोक्त तीन प्रकार के अवयवों से संगठित था। इस लिपि की एक और विलक्षणता यह है कि सिन्धु-मुद्राओं पर खुदे हुए शब्दों में बहुत से अक्षरयोग एक ही आनुपूर्वी क्रम से देखने में आते हैं जिससे प्रतीत होता है कि इस प्रकार बार-बार आने वाले अक्षरयोग या तो वैयक्तिक नाम थे अथवा किन्हीं परिचित और सुविदित भावों के वाचक शब्द थे।

गैड और सिडनी स्मिथ महोदयों की सम्मति में सिन्धु-लिपि के चित्राक्षर स्थिति-भेद से तीन प्रकार के थे—इनमें कुछ 'आरम्भाक्षर' कुछ 'अन्त्याक्षर' और कई संख्या-वाचक थे। इस कल्पना के आधार पर कि यह लिपि दाएँ से बाएँ को लिखी जाती थी उनका विचार है कि कई चित्राक्षर अन्त्याक्षर (फलक ४६, अ १) और कई आरम्भाक्षर (फलक ४६, अ २) थे क्योंकि वे अनेक बार क्रमशः लेखों के अन्त अथवा आरम्भ में आते थे। संख्यावाचक अक्षरों का निर्माण खड़ी अथवा पड़ी

1. बार्टन—ओरिजिन एण्ड डेवेलपमेंट आफ् बेबीलोनियन राइटिंग पृष्ठ १६।

रेखाओं के द्वारा किया जाता था जो कभी-कभी अकेली परन्तु प्रायः दो या अधिक की संख्या में होती थीं ।

कुछ भी हो जहाँ तक मार्शल और लाग्डन महोदयों का सम्बन्ध है मुझे उनकी युक्ति की निर्दोषता में बहुत सन्देह है । उनका निश्चय इस धारणा पर आधारित है कि मिस्र और सुमेर की चित्र-लिपियों की तरह सिन्धु-लिपि भी दाएँ से बाएँ को लिखी जाती थी । अन्य प्रमाणों के आधार पर निश्चय रूप से कहा जा सकता है कि प्राचीन भारतीय ब्राह्मी-लिपि की तरह प्रागैतिहासिक सिन्धु लिपि भी बाएँ से दाएँ को ही लिखी जाती थी ।

सिन्धु-लिपि और ब्राह्मी-लिपि—प्रो० लैंग्डन ने सिन्धु और ब्राह्मी-लिपियों में बहुत से सादृश्य दिखलाये हैं । उनका विश्वास है कि ब्राह्मी का जन्म सिन्धु-लिपि से हुआ था क्योंकि ब्राह्मी के बहुत से अक्षर सिन्धु-लिपि के चिह्नाक्षरों के समान-रूप हैं (फलक ४० क) । न केवल यही सिन्धु ब्राह्मी-लिपि की सहायता से उन्होंने सिन्धु-लिपि के कई चिह्नाक्षरों का आनुमानिक ध्वन्यात्मक मूल्य भी आँका है । उनके विचार में सिन्धु-लिपि में स्वर-व्यञ्जन समास से उच्चारण-समर्थ पदांश (सिलेबल) का इस प्रकार विकास नहीं हुआ था जैसा कि ब्राह्मी में पाया जाता है । लैंग्डन तथा स्मिथ की सम्मति में सिन्धु-लिपि का सम्बन्ध न तो सुमेरियन और न ही इलम की प्राचीन लिपियों से है । पहले विद्वान् के मत में इस लिपि के अक्षर सुमेर की चित्रमय तथा कीलाकार लिपियों की अपेक्षा मिस्र की चित्र-लिपि से अधिक समानता रखते हैं । ऐसा होने पर भी सिन्धु-लिपि में लघमात्रा आदि लगाने की व्यवस्था एक ऐसी विलक्षणता है जो मिस्रदेशीय चित्रलिपियों में नहीं पाई जाती ।[1] ब्राह्मी तथा सिन्धु-लिपियों में सम्बन्ध यद्यपि अभी स्पष्ट नहीं फिर भी निश्चय रूप से कहा जा सकता है कि ब्राह्मी का सिन्धु-लिपि से दूर का परम्परा-सम्बन्ध अवश्य था क्योंकि इन दोनों के मध्यकाल की कोई लिपि अभी उपलब्ध नहीं हुई इसलिए ब्राह्मी के क्रमिक विकास की अवस्थाओं का जानना कठिन है ।

आज से एक शताब्दी पहले भारत के विख्यात पुरातत्त्वज्ञ सर एलेक्ज़ैंडर कनिंघम ने अनुमान लगाया था कि ब्राह्मी-लिपि किसी भारतीय चित्र-लिपि की सन्तान होनी चाहिए । वेबर और ब्यूलर ने ब्राह्मी को फिनिशियन लिपि से, इसाक टेलर ने अरब की हेमियरिटिक लिपि से और डीके ने असीरिया और बेबीलोन की कीलाकार लिपि से प्रादुर्भूत माना था । परन्तु लैंग्डन की सम्मति में इन विद्वानों की ये सब कल्पनाएँ निर्मूल एवं निरर्थक सिद्ध हुई हैं । हंटर ने सिन्धु-लिपि के कई चिह्नाक्षरों

१ मार्शल—वही ग्रन्थ १ पृष्ठ ४१ ।

और प्राग्न (पश्च-माकर्ड) चमन-मुद्राओं पर प्रकित कुछ चिह्नों म परस्पर सादृश्य की ओर संकेत किया है। सम्भव है कि ये चिह्न सिंध-लिपि के चित्राक्षरों और ब्राह्मी के ध्वन्यात्मक वर्णों के मध्यकालीन रूप हों।

सिंधु-लिपि के अक्षरों का चित्रमय रूप इस लिपि के जीवन-काल की इयत्ता नापने के लिए एक प्रकार का मानदण्ड है। इसकी पुष्टि में हमारे पास दो प्रकार का साक्ष्य है—प्रथम आन्तरिक और दूसरा बाह्य। प्रथम साक्ष्य के सम्बन्ध में यह निर्देश करना आवश्यक है कि सिंधु प्रान्त के प्रागैतिहासिक खण्डहरों की खुदाई म प्राप्त तक जो लेखांकित मुद्राएँ प्रकाश में आई उनकी लिपि-शैली सर्वथा एक समान है। ऊपर के अथवा निचले स्तरों की मुद्राओं पर अंकित चित्राक्षर पूर्ण विकसित और प्रौढ रूप में हैं। न ही उनकी बनावट से उनके क्रमिक विकास के इतिहास का पता लग सकता है। इससे स्पष्ट है कि सिंधु-सभ्यता के समस्त जीवन-काल में सिंधु के काँठे म एक समान प्रौढ सभ्यता व्याप्त थी और इसके निर्माता भी एक ही जाति के लोग थे। हड़प्पा और मोहेंजो-दड़ो के खण्डहरों की खुदाई म उत्तरोत्तर सात-आठ स्तरों की आबादियों के अवशेष मिले थे। सबसे नीचे की आबादी में जो मुद्राएँ निकलीं उन पर अंकित लेख सबसे ऊपर वाली आबादी के लेखों के सर्वथा समान रूप थे। इससे अनुमान लगाया जा सकता है कि क्रमिक-विकास सिद्धान्त के अनुसार इस प्रौढ दशा तक पहुँचने के लिए इस लिपि को कितना लम्बा समय लगा होगा। सर जॉन मार्शल के विचार में इस विकास के लिए एक हजार वर्ष का समय नियत करना अधिक नहीं है। इस अनुमान से इस लिपि का आरम्भ-काल सुगमता से ईसापूर्व चौथी सहस्राब्दी के पूर्वार्ध तक पहुँच जाता है।

स्वभावत प्रश्न उठता है कि क्या यह लिपि भारत की उपज थी अथवा विदेशीय वस्तु जो इस प्रौढ दशा में कहीं बाहर से लाकर इस भूमि में गाड़ दी गई। प्रथम साक्ष्य तथा बाह्य प्रमाणों के आधार पर निश्चयात्मक रूप से कहा जा सकता है कि सिंधु-सभ्यता की सन्तान यह लिपि भी इसी देश की उपज थी। इसकी जड़ मोहेंजो-दड़ो के असमन्त स्तरों के बहुत दूर नीचे दबी पड़ी है। अत यह निर्विवाद है कि मोहेंजो-दड़ो के निम्नतम सातवें स्तर में सिंधु-लिपि का जो रूप प्रकाश में आता है वह किसी अन्य देश से लाकर वहाँ नहीं गाड़ा गया था क्योंकि विदेशीय समकालीन चित्रमय लिपियों में से किसी के साथ भी इसकी सर्वांगीण समानता नहीं मिलती। अब बाह्य प्रमाणों के साक्ष्य की समीक्षा कीजिए। मेसोपोटेमिया और एलम में प्राक्-सार्गोन तथा सार्गोनिकाल की प्राय २ मुद्राएँ उपलब्ध हो चुकी हैं जिन पर सिंधु-लिपि या भारतीय पशु, अथवा दोनों उत्कीर्ण हैं। उनमें से हर्ड़ी की बनी हुई एक वृत्ताकार-मुद्रा है जो सूसा के खण्डहर से प्राप्त हुई थी। सैंयहन के मता

नुसार इस पर खुदे हुए लेख और अभिप्राय प्राक्-सार्गोनकाल के हैं। इस पर उत्कीर्ण 'पशु पंक्ति' अभिप्राय सुमेर तथा एलम की प्राचीनतम कला-शैली का अंग है। इस मुद्रा पर खुदे हुए लेख में छः चिन्हाक्षर हैं (फलक ४६ क १)। लेख के अतिरिक्त दो सींगों वाला बैल भी इस पर खुदा है और बैल के सामने टोकरा रखा है। सुमेरियन टंककला में बैल और टोकरा अभिप्राय (फलक १५, क) अज्ञात है। डा० कि सव्वाय को तपाह के खण्डहर में एक वृत्ताकार छापमुद्रा मिली थी। इस खण्डहर में १ [illegible] सिपुर्ग के बाद की अभी तक कोई वस्तु नहीं मिली। इसलिए यह मुद्रा भी प्राक्-सार्गोन काल की ही है। यह मुद्रा हरे रंग के कोमल पत्थर की बनी है और इस पर एक पंचाक्षरी लेख (फलक ४६ क २) उत्कीर्ण है। इसी खण्डहर से प्राप्त खड़िया पत्थर की बनी सिन्धु शैली की एक और मुद्रा डा० प्यूरो-डॉगिन ने प्रकाशित की थी जो इस समय लूवर संग्रहालय में सुरक्षित है। इस पर सिन्धु-लिपि के छः चिन्हाक्षर खुदे हैं जैसा कि फलक ४६ क ३ में प्रदर्शित है। इसी प्रकार की प्राक्-सार्गोनकाल की एक और मुद्रा डा० मैके को किश खण्डहर की खुदाई में उसुर्सगा इल-बाबा के मन्दिर में राजा समुइ-इलुना के फर्श के नीचे मिली थी। इस पर केवल चार चिन्हाक्षर खुदे हैं (फलक ४६ क ४)।

पश्चिमी एशिया से सम्पर्क—सिन्धु-सभ्यता के काल-निर्णय प्रसंग में डा० मार्टीमर व्हीलर और प्रो० पिगट सिन्धु-शैली की पूर्वोक्त मुद्राओं का उल्लेख करते हैं। उनका कथन है कि "इन ३० मुद्राओं में केवल १२ ही ऐसी हैं जिनके काल के सम्बन्ध में विश्वस्त रूप से निर्णय हो सका है। इन १२ में से केवल एक या दो ही प्राक्-सार्गोनकाल की हैं और बाकी या तो सार्गोन के काल की या उससे भी बाद की हैं। इस साक्ष्य के आधार पर वे इस निर्णय पर पहुँचे कि सिन्धु प्रान्त और मेसोपोटेमिया में परस्पर जो सम्पर्क हुए वे सार्गोनकाल (२४वीं शती ई० पू०) में ही घटित हुए होंगे।

परन्तु डा० व्हीलर का यह निर्णय निर्दोष नहीं है। यह कहना कि मेसोपोटेमिया में उपलब्ध १२ सिन्धु-मुद्राओं में केवल एक या दो ही प्राक्-सार्गोनकाल की हैं, अयुक्त है। प्रो० सैयस का दृढ़ विश्वास है कि इनमें कम से कम चार या पाँच मुद्राएँ इस काल की हैं। इसके अतिरिक्त यह भी सम्भावना है कि अज्ञातकाल शेष १ मुद्राओं में से शायद कुछ और भी इसी काल की थीं। मेसोपोटेमिया में प्राक्-सार्गोनकाल की सिन्धु-मुद्राओं की उपलब्धि ही एक ऐसा अकाट्य प्रमाण है जो सिद्ध करता है कि तीसरी सहस्राब्दी के आरम्भ में सिन्धु-सभ्यता का पश्चिमी एशिया के

१ मार्शल—मोहेंजो-दड़ो एण्ड दि इण्डस सिविलाइजेशन ग्रन्थ २ पृष्ठ ४२५।

साथ गहरा सम्बन्ध था।

लिपि का चित्रमय रूप—सिन्धु लिपि के काल का निर्णय करने के लिए अद्वितीय प्रमाण इसके अक्षरों का अर्धचित्रमय रूप है। इस लिपि के स्वरूप और संगठन के सम्बन्ध में जो अनुसन्धान हो चुका है उसके आलोक में कहा जा सकता है कि इस लिपि के 'मनुष्य'-वाचक चित्राक्षरों का सादृश्य मिस्र के समानाकार चित्राक्षरों से था। परन्तु जहाँ तक रेखात्मक चित्राक्षरों का प्रश्न है उनका अधिक सादृश्य एलम की लिपि से और उससे कुछ कम सुमेर की लिपि से था। अन्तु यह एक रहस्यपूर्ण तथ्य है कि सुमेर की लिपि से सिन्धु-लिपि का सादृश्य तब तक दृष्टिगोचर नहीं होता जब तक कि हम जमदेत-नसर काल (३२०० ई० पू०) में पदार्पण नहीं करते। इसमें सन्देह नहीं कि जमदेत-नसर काल की चित्र-लिपि का स्वरूप सिन्धु-लिपि से अधिक विकसित है। इस सम्बन्ध में प्रो० लैंगडन लिखते हैं—"जमदेत-नसर काल की सुमेरियन चित्र लिपि में अधिकांश चित्राक्षर पहले ही ९० अंश की मात्रा में बाईं ओर को झुके हुए हैं। ऐसा करने का प्रयोजन यह था कि लिपि जिसकी दिशा अब बाएँ से दाएँ को बदल गई थी सरलतर तरीके से शीघ्रातिशीघ्र लिखी जा सके। स्मरण रहे कि प्रारम्भ में यही लिपि दाएँ से बाएँ को लिखी जाती थी और इसके अक्षर दाईं ओर को झुके हुए नहीं किन्तु बिलकुल सीधे होते थे।"[1]

लैंगडन के पूर्वोक्त विवरण से प्रकट है कि सिन्धु-लिपि का अपने जीवनकाल में सदा सीधी तथा नैसर्गिक रूप में ही लिखी जाती रही जमदेत-नसर काल की सुमेरियन लिपि से प्राचीन थी। इस समय से लेकर सुमेरियन लिपि धीरे-धीरे अपना चित्रमय रूप खोती गई यहाँ तक कि राजाओं के काल के मध्य में यह कीलाक्षर लिपि (क्यूनी-फार्म) के रूप में बदल गई और सिन्धु-लिपि से अब इसका समस्त सादृश्य समाप्त हो गया। इसी युग की एलम की लिपि का भी सिन्धु-लिपि से घनिष्ठ सम्बन्ध था। दोनों लिपियों में बहुत से चित्राक्षर समान हैं (फलक १४ क-ग) और वे अभी पूर्णरूप से अथवा अंशतः चित्रमय दशा में ही हैं। सम्भवतः दोनों लिपियों के समानरूप चित्राक्षर एक ही प्रकार के भावों अथवा पदार्थों के द्योतक थे। प्रो० लैंगडन और डा० हंटर की सम्मति में एलम और सिन्धु-देश की प्राग्-ऐतिहासिक लिपियों में इतना निकट सादृश्य है कि ईसापूर्व चौथी सहस्राब्दी के प्रारम्भ में वे एक ही उद्गम से उत्पन्न हुई प्रतीत होती हैं।

खेद की बात है कि सिन्धु-सभ्यता के जीवनकाल को ईसापूर्व २५००—१५०० तक की सीमाओं के बीच नियत करने की धुन में डा० व्हीलर और प्रो० पिगट

---

१ मार्शल—मोहेंजो-दड़ो एण्ड दि इण्डस सिविलाइजेशन खण्ड २ पृष्ठ ४२४।

पूर्व-निर्दिष्ट लिपि-सादृश्य ने शास्त्र की बिलकुल ही अवहेलना कर दी है। इसमें सन्देह नहीं कि यह शास्त्र उनके द्वारा निर्धारित सिन्धु-सभ्यता की तिथि के लिए बाधक सिद्ध होता है। परन्तु शास्त्र-विषय में एक अकाट्य एवं दृढ़ प्रमाण होने के कारण इस की उपेक्षा नहीं की जा सकती। लिपि-शास्त्र के अतिरिक्त और भी बहुत से प्रमाण हैं जो डा० ह्वीलर के सिद्धान्त पर कुठाराघात करते हैं और जिनसे सिन्धु-सभ्यता के आरम्भकाल की सीमा चौथी सहस्राब्दी ई० पू० तक पहुँच जाती है।

लैंग्डन, सिडनी स्मिथ, गैड और हण्टर प्रमुख लिपि-शास्त्रियों का इस विषय में ऐकमत्य है कि मिस्र तथा सुमेरियन लिपियों के समान सिन्धु-लिपि भी दाएँ से बाएँ को लिखी जाती थी। परन्तु अपने मत के समर्थन में जो प्रमाण इन्होंने दिये हैं वे अधूरे तथा दोषग्रस्त हैं। इस लिपि के सम्बन्ध में जहाँ तक मैंने अनुसन्धान किया है उससे यही प्रतीत होता है कि ब्राह्मी के समान सिन्धु-लिपि भी बाएँ से दाएँ को ही लिखी जाती थी।

सन् १९२०-२१ से १९३०-३१ तक जो उत्खनन कार्य हड़प्पा और मोहेंजो-दड़ो में हुआ उसमें १ [illegible] के लगभग लेखांकित मुद्राएँ और मुद्राछापें उपलब्ध हुई थीं (फलक ४६ ख)। विधिपूर्वक छानबीन के अनन्तर इन पर उत्कीर्ण लिखावटों की सूचियाँ सर जान मार्शल और श्री माधोस्वरूप वत्स ने अपने ग्रन्थों में प्रकाशित की हैं। भावी अनुसन्धान के लिए जिज्ञासुओं को इनसे बहुत सहायता मिल सकती है। इन सूचियों में दिए हुए मौलिक अक्षरों तथा उनके रूपान्तरों की कुल संख्या ४१ [illegible] के करीब है। परन्तु यदि इसमें १९३१ के बाद उपलब्ध लिखावट भी गिना दें तो संख्या ६१ [illegible] से लगभग पहुँच जाती है।

कई एक भारतीय तथा पाश्चात्य विद्वानों ने इस लिपि के पढ़ने का प्रशंसनीय प्रयास किया है। परन्तु इन सब में डा० हण्टर का अनुसन्धान जो उनकी पुस्तक 'स्क्रिप्ट ऑफ हड़प्पा एण्ड मोहेंजो-दड़ो' में समाविष्ट है सर्वश्रेष्ठ है क्योंकि इसमें उन्होंने वैज्ञानिक रीति से इसे पढ़ने का प्रयास किया है। तथापि उनके सिद्धान्तों में कई एक खामियाँ हैं जिनसे वे सर्वथा मान्य नहीं हो सकते। इनमें से उनका एक सिद्धान्त यह है कि सिन्धु-लिपि दाएँ से बाएँ को लिखी जाती थी। इसी प्रकार पूर्वोक्त सिद्धान्त पर आधारित कई मुद्रांकित लेखों का जो अर्थ उन्होंने निश्चित किया है वह भी अवहेलना की कोटि तक नहीं पहुँचता। उदाहरणतः उनका दावा है कि उन्होंने ऐसे शब्दों को पढ़ लिया है जिनका अर्थ 'भूमि का स्वामी' 'वैश्य' 'पुत्र' 'दास' आदि था परन्तु यह सब [illegible] में कपोलकल्पना मात्र ही है।

वस्तुतः यह लिपि अभी तक एक रहस्य ही बनी हुई है। कई एक विख्यात लिपि-शास्त्रियों के अथक परिश्रम के अनन्तर भी इस लिपि के अन्तर्हित अ[illegible]

मत को यथार्थ रूप से समझने में आज तक कोई भी समर्थ नहीं हुआ। 'रोजटा स्टोन' 'बहिस्तून-शिलालेख' जैसा द्विभाषिक या त्रैभाषिक लेख जब तक उपलब्ध नहीं होता सिन्धु-लिपि एक समस्या ही बनी रहेगी। मिस्र तथा सुमेर की चित्र-लिपियाँ शायद सदा के लिए अज्ञात ही रहतीं यदि पूर्वोक्त 'रोजेटा-स्टोन' और बहिस्तून के त्रैभाषिक शिलालेख प्रकाश में न आते। अब तक भारत में ऐसा कोई लेख नहीं मिलना सम्भव है कि 'मय' और 'मिनोअन' लिपियों की तरह सिन्धु-लिपि भी एक बन्द रहस्यागार ही बना रहे।

तथापि जब तक हमें ऐसी उपलब्धि का सौभाग्य प्राप्त नहीं होता इस दिशा में अनुसंधान जारी रखना प्रशंसनीय प्रयास है। इस सम्बन्ध में प्रो. अयंगर के निम्ननिर्दिष्ट सुझाव को हम हर समय याद रखना चाहिए। वे लिखते हैं कि "उपलब्ध सामग्री की सहायता से अपने परिश्रम को जारी रखते हुए सिन्धु-लिपि के अनुसन्धाता को वैदिककाल के कुछ देवताओं, महापुरुषों तथा ऋषियों के नामों को चुन लेना चाहिए और इन नामों को सिन्धु लिपि के परिचित अक्षरों अथवा अक्षरयोगों में ढूँढने का प्रयत्न करना लाभदायक होगा।"

१९

रंगपुर और रोपड़ के प्रागैतिहासिक खण्डहर

कुछ वर्षों से रंगपुर और रोपड़ के प्रागैतिहासिक खण्डहर अनुसन्धान के आलोक में आ रहे हैं। सन् १९३५ में श्री माधोस्वरूप वत्स ने पहले रंगपुर में प्रथम खुदाई कराई तो उन्हें यह टीला हड़प्पा और मोहेंजो-दड़ो की संस्कृति का दिखाई दिया और उन्होंने इसे सिन्धु-संस्कृति से प्रभावित क्षेत्र के अन्तर्गत घोषित किया। सन् १९४७ में श्री मोरेश्वर जी दीक्षित ने यहां फिर खनन कराया और उन्होंने इस स्थान को सिन्धु युग के उत्तरकाल का बतलाया।

यह मालूम करने के लिए कि यह टीला सिन्धु-संस्कृति का है अथवा उत्तरकालीन भारत-पुरातत्त्व-विभाग प्रतीच्य-मण्डल के अध्यक्ष श्री एस. आर. राव इस खण्डहर में कुछ वर्ष लगातार खुदाई कराते रहे। उपलब्ध प्रमाणों के आधार पर अब स्पष्ट हो गया है कि रंगपुर का टीला सिन्धु-संस्कृति का ही है जैसा कि वत्स महोदय ने अपने प्रारम्भिक विचार में निर्धारण किया था। दिसम्बर, सन् १९५४ में इण्डियन हिस्टरी कांग्रेस के अहमदाबाद अधिवेशन में श्री राव ने शिविर पर आगन्तुकों के द्वारा रंगपुर से उत्खात मृण्मयपात्रों और अन्य वस्तुओं का प्रदर्शन किया था।

अवसर पर—डेलीगेट होने के नाते मैंने भी पूर्वोक्त वस्तुओं का निरीक्षण किया था और तद्विषयक श्री राव के व्याख्यान को भी सुना था। इन वस्तुओं में यद्यपि सिन्धु-संस्कृति की मुद्राओं तथा मूर्तियों की झलक अवश्य थी तथापि वे अवशेष निस्सन्देह इस संस्कृति के अवनति-काल के थे। इसी प्रकार की प्रदर्शनी और व्याख्यान का प्रबन्ध बड़ौदा में इण्डियन साइंस कांग्रेस के नरतत्त्व और पुरातत्त्व के अधिवेशन में भी किया गया था।

रंगपुर से उत्खात कलाकृतियों में सिन्धु-सभ्यता के सांस्कृतिक तत्त्वों की कितनी

---

१ इस लेख का अंग्रेज़ी रूपान्तर ६ फरवरी १९५५, को हिन्दुस्तान टाइम्स में प्रकाशित हुआ था।

२ रंगपुर का खण्डहर सौराष्ट्र में और रोपड़ का पूर्वी पंजाब के जिला अम्बाला में स्थित है।

३ वार्षिक रिपोर्ट भारत-पुरातत्त्व-विभाग १९३४-३५, पृष्ठ ३४।

४ इण्डियन आर्क्यॉलोजी १९५३-५४ पृष्ठ ७।

गया है इस विषय में निम्नलिखित प्रश्नों पर विचार करना आवश्यक है—(१) क्या सिन्धु-नद की उपत्यका में सिन्धु-सभ्यता आर्य-जाति के आक्रमण के कारण सहसा नष्ट हो गयी थी जैसा कि डाक्टर व्हीलर का मत है अथवा धीरे-धीरे अपनी स्वाभाविक मौत से मरी थी ? (२) क्या ई पू २५ ०-१५ के अन्तर्गत सिन्धु-सभ्यता का जीवनकाल जो अब व्यवहार में आ रहा है, ठीक है ? और (३) रोपड़ तथा रंगपुर के खण्डहरों से उपलब्ध प्राचीन वस्तुएँ कहाँ तक सिन्धु-सभ्यता की प्रतीक हैं ?

अब क्रमश: इन प्रश्नों पर आलोचना की जाती है ।

एकदम नष्ट नहीं हुई—सिन्धु प्रान्त में सिन्धु-सभ्यता ईसापूर्व १५ के लगभग एकदम नष्ट नहीं हुई थी । डाक्टर व्हीलर का यह निर्णय केवल उस खुदाई पर ही आधारित है जो उन्होंने सन् १९४६ में हड़प्पा के टीला ए-बी में कराई थी । यहाँ उन्हें दुर्ग-प्राकार पर स्थित पश्चिम स्तर में 'कब्रिस्तान-एच' संस्कृति के कुम्भपात्र और कुछ दीवारों के टुकड़े मिले थे जिन्हें उन्होंने भ्रम से नवागन्तुक आर्यजाति के आक्रमण के कारण समझा था ।

खेद है कि इस महत्त्वपूर्ण निर्णय पर पहुँचने की धुन में व्हीलर महोदय ने पूर्ववर्ती उत्खननों के हड़प्पा में बहुवर्ष-व्यापी खनन काम की सर्वथा अवहेलना कर दी थी । 'कब्रिस्तान-एच' की एक गुप्त विशिष्टता यह थी कि सन् १९४६ के पहले की खुदाइयों में इस कक्षा में मृतकों के निमित्त रखे हुए शव भाँडों के अतिरिक्त और कोई वस्तुएँ या भग्नावशेष नहीं मिले । श्री माधोस्वरूप वत्स की कई वर्ष की खुदाई में 'कब्रिस्तान-एच' संस्कृति के ठीकरों का हड़प्पा-संस्कृति की वस्तुओं के साथ मिलना एक दैनिक अनुभव था[1] ।

स्पष्ट प्रमाणों का साक्ष्य—सन् १९४६ के पहले की खुदाई में प्राप्त प्रमाणों का साक्ष्य इस तथ्य का पूरा समर्थन करता है कि 'कब्रिस्तान-एच' के निर्माता सिन्धु-संस्कृति के अपकर्ष-काल में हड़प्पा आये और आने के अनन्तर प्राय दो शताब्दियों तक पहले लोगों के साथ इकट्ठे रहे । वे प्राचीनतर जाति में घुलमिल गए और उन्होंने पहली संस्कृति को समूचा अपना लिया । अनन्तर दोनों जातियों के लोग किन्हीं अज्ञात संकटों के कारण इस स्थान को छोड़कर कहीं अन्यत्र चले गए । तब से पाँच सदी तक हड़प्पा का स्थान उजाड़ पड़ा रहा । गुप्तयुग में पुन कोई लोग यहाँ आकर बस गये जिनकी कृतियों के अंश भी यथास्थान बाक़ी हैं जो टीला ए-बी में नीचे की तह के परिसर में मिले थे । इस तथ्य के आधार पर निश्चित अनुमान है कि

---

1 एन्शेंट इण्डिया न ३ पृ ७४ ।

2 वत्स आर्कियोलॉजिकल—एक्सकैवेशन्स एट हड़प्पा भा १ पृ २११ २११ ।

मोहेंजो-दड़ो नगर को भी सिन्धु-सभ्यता के लोगों ने प्रचण्ड बाढ़ों के आतंक से पीड़ित होकर ही छोड़ा था न कि वैदिक आर्यों के प्रचण्ड आक्रमणों के कारण।

ईसापूर्व २५००–१५०० की तिथि जो सिन्धु-सभ्यता के समस्त जीवन-काल के लिये अब व्यवहार में आ रही है वह डाक्टर व्हीलर की पूर्वोक्त हड़प्पा-खुदाई पर ही आधारित है[1]। आश्चर्य की बात है कि अपनी खुदाई की स्तर रचना का मुख्य आँकड़े समय डा० व्हीलर मार्च १९४६ की खुदाई के महत्त्व को एकदम भूल गये। फलक ७ को ध्यानपूर्वक देखने से पता लगता है कि जब कि 'टीला ए-बी' में पहली आबादी का स्तर समुद्रतल-रेखा ५५.५ पर स्थित है तो पास के 'टीला-एफ' में इसी आबादी का स्तर समुद्रतल-रेखा ५१९.५ पर पड़ा है। दोनों पड़ोसी टीलों की पहली आबादियों के स्तरों में परस्पर प्राय: ४ फुट का अन्तर है। स्मरण रहे कि दोनों टीले नई स्तरों के भग्नावशेषों के भरने से बने होने के कारण कृत्रिम बनावट के हैं। तात्पर्य यह निकला कि 'टीला ए-बी' की पहली आबादी के लोग जब ४ फुट ऊँची भूमि पर रह रहे थे तो उसी समय 'टीला-एफ' के इसी आबादी के लोग ४ फुट नीची जमीन पर घर बनाकर जीवन निर्वाह कर रहे थे। प्रचण्ड बाढ़ों के आतंक से यदि 'टीला ए-बी' में पहली आबादी के स्तर को समुद्रतल रेखा ५५.५ तक उठाने की आवश्यकता अनिवार्य हो गयी थी तो 'टीला-एफ' के पहले स्तर के समकालीन लोग समुद्रतल-रेखा ५१९.५, जो बाढ़ से बचने की सुरक्षा-रेखा से २५ फुट नीची है, पर कैसे रह रहे थे? इस विकट समस्या का समाधान किये बिना ही डाक्टर व्हीलर अपने काल-निर्णय पर पहुँच गये हैं।

इस समस्या का समाधान केवल एक ही है और वह यह कि जब 'टीला ए-बी' के समुद्रतल रेखा ५४ पर दुर्ग प्राकार की नींव रखी गयी तो 'टीला-एफ' उजाड़ हो चुका था और मनुष्य के निवास के अनुपयुक्त था क्योंकि इसमें तत्कालीन आबादी स्तरों की इमारतें समुद्रतल-रेखा ५४५ के नीचे स्थित होने के कारण विनाशकारी बाढ़ों की पहुँच में थी जैसा कि व्हीलर महोदय की खुदाई से स्पष्ट हो गया है। अतः सिद्ध हुआ कि समूचा 'टीला-एफ' ही 'टीला ए-बी' के दुर्ग प्राकार की अपेक्षा प्राचीनतर है और 'टीला-एफ' के २५ फुट ऊँचा मलबे का भराव जिसमें आठ स्तरों की आबादियाँ पाई गयी हैं एक हजार वर्ष से कम काल की आयु का नहीं है।

अब यदि, जैसा कि डाक्टर व्हीलर का मत है, दुर्ग-प्राकार का निर्माण-काल ई० पू० २५०० था तो 'टीला-एफ' की पहली आबादी की तिथि निश्चित ईसापूर्व

---

1 एन्शेंट इण्डिया नं० ३ पृ० ८२।

चौथी सहस्राब्दी का मध्य बैठता है। अतः अकेले केवल स्तर-रचना के आधार पर ही सिन्धु-सभ्यता के जीवन-काल का आरम्भ ईसापूर्व चौथी सहस्राब्दी का पूर्वार्ध सिद्ध होता है। इसका समर्थन मेसोपोटेमिया और ईरान के समकालीन खण्डहरों से उत्खात वस्तु-सामग्री से भी सम्भव है। इस सभ्यता के अन्तकाल की तिथि नियत करना कठिन है। तथापि सम्भावना की जा सकती है कि सिन्धु के काँठे मे यह सभ्यता ईसा पूर्व दूसरी सहस्राब्दी के आरम्भ में नष्ट हो चुकी थी। इसका समर्थन उन सिन्धु-मुद्राओं से होता है जो मेसोपोटेमिया के प्राचीन टीलों मे सार्गोन-काल के बाद के स्तरों से मिली हैं। अतः पुरातत्त्व-सम्बन्धी प्रमाणों के आधार पर इस निर्णय पर पहुँचना असंगत नहीं कि सिन्धु-सभ्यता की आयु का अनुमानित काल-मान ईसापूर्व ३१ २ होना चाहिये न कि ईसापूर्व २५ १५ जैसा कि डाक्टर व्हीलर ने सिद्ध करने का प्रयास किया है।

नवीन उपलब्धियाँ—रंगपुर और रोपड़ से जो वस्तुएँ मिली कला-दृष्टि से वे निकृष्ट कोटि की और सिन्धु-सभ्यता की अप्रतीक और वैयक्तिक विलक्षणताओं से हीन थीं। इन स्थानों से जो मिट्टी के बर्तन खोदे गये उनमे हड़प्पा की कुम्भकला का सौष्ठव नहीं था। उनमें घलशमनुमा महाकाय माट (फलक ४० ख) नाबधुम बड़े मटके (फलक ४२ ङ) चुने मुँह के भारी नाँद (फलक ४ क) बेसन तथा अण्डे के आकार के बर्तन (फलक ४२ च) तसले कटोरदानी कसलियाँ नाबधुम पैंदी के कसौरे आदि अलुप्त हैं। स्त्री-पुरुषों और पशु-पक्षियों की पार्थिव मूर्तियाँ (फलक ११ और ४४) जो हड़प्पा और मोहेंजो-दड़ो मे सैकड़ों की संख्या में बरामद हुई थीं रंगपुर और रोपड़ में एकदम गायब हैं। पत्थर, फ़्यांस, हाथीदाँत, शंख आदि द्रव्यों की बनी हुई अलंकृत अलंकरण वस्तुएँ, जो सि न्धु की घाटी में प्रचुरता से मिलीं इन स्थानों में नाममात्र को भी नहीं पाई गई। लिङ्ग और मण्डल के आकार के छोटे-बड़े पदार्थ जिन्हें लिंग और योनि के नाम से निर्दिष्ट किया गया है भी यहाँ नहीं मिले। चित्रकारी वाली मुद्राएँ और मुद्राछापें जो सिन्ध के काँठे मे हजारों की संख्या मे पाई गयी थीं रंगपुर में बिलकुल नहीं मिलीं और रोपड़ मे अब तक केवल एक ही खोदी गयी है। सोने चाँदी पत्थर, फ़्यांस हाथीदाँत शंख आदि द्रव्यों के बने हुए भूषण भी इन स्थानों मे बहुत थोड़े और निकृष्ट कोटि के मिले हैं। हड़प्पा और मोहेंजो-दड़ो मे ताँबे और काँसे के शस्त्रोपकरणों और बर्तनों के समुदाय हस्तगत हुए थे परन्तु रंगपुर और रोपड़ मे ये वस्तुएँ बहुत थोड़ी मिली हैं और वे भी अधम कला की। और इन स्थानों में जो मिट्टी के चित्रित बर्तन उपलब्ध हुए उन पर हड़प्पा और मोहेंजो-दड़ो की प्रौढ़ कला के प्रतीक अलंकरण अभिप्राय अपेक्षतः नहीं मिलते। इन अद्भुत अभिप्रायों में 'टोकरा' 'टी'-आकार, उलझे हुए वृत्त जाल जो मुँहा कुल्हाड़ा आदि समा-

विष्ट है। इसी प्रकार रंगपुर और रोजड़ की मृण्मय कला पर अभी ऐसा ढोर मछली मोर बकरा आदि वनस्पति और पशुपक्षियों के प्राकृतिक अभिप्राय भी नहीं हैं।

पूर्वोक्त समालोचना से यह सिद्ध नहीं होता कि रंगपुर और रोजड़ के निवासी सिन्धु-सभ्यता की समस्त सांस्कृतिक विशिष्टताओं से वंचित थे। सिन्धु-सभ्यता की अनुपलब्ध विशिष्टताओं की निर्दिष्ट सूची इस तथ्य का अकाट्य प्रमाण है। पुरातत्त्व सम्बन्धी जो साक्ष्य इन स्थानों की खुदाई से प्राप्त हुआ है स्पष्ट रूप से बतलाता है कि हड़प्पा संस्कृति के सम्वाहक जो इन स्थानों में आकर आबाद हुए कई पीढ़ियों से सिन्धु-सभ्यता के केन्द्र-स्थानों (हड़प्पा-मोहेंजो-दड़ो) से सम्पर्क खो बैठे थे और उस सभ्यता की उत्कृष्ट कला-शैलियों को प्रायः भूल चुके थे। इन्हें अपने धर्म और चित्र लिपि का भी ज्ञान विस्मृत हो गया था। सिन्धु-युग में लोग पीपल और शमी वृक्षों को पूज्य मानते थे। रंगपुर और रोजड़ में कोई ऐसा प्रमाण नहीं मिला जो सिद्ध करता कि यहाँ के निवासी सिन्धु-संस्कृति के लोग अभी अपने प्राचीन धर्म के अनुयायी थे और सिन्धु-युग के देवताओं को पूजते थे। ऐसा प्रतीत होता है कि वे लोग अनपढ़ और अशिक्षित थे। रोजड़ से जो एक सिन्धु-मुद्रा मिली है वह आकस्मिक है और यह सिद्ध नहीं करती कि आम लोग साक्षर अथवा व्यापारी थे।

सिन्धु-सभ्यता के पूर्वोक्त दो उपनिवेशों की संस्कृति का जो चित्र निर्माण किया जा सकता है उससे पता लगता है कि ओजस्वी सिन्धु-सभ्यता जिसने सिन्धु नद की विशाल उपत्यका पर १५ वर्ष आधिपत्य जमाया अन्त में इन स्थानों में पहुँच कर किस प्रकार धीरे-धीरे क्षीण होकर प्रलय के गर्त में समा गयी। ईसापूर्व तीसरी सहस्राब्दी के उत्तरार्ध में जब सिन्धु-राज्य का पतन हुआ तो केन्द्र-नगरों के बहुत से लोग नये घरों की तलाश में भिन्न-भिन्न दिशाओं में बिखर गये थे। सम्भवतः पहले वे सिन्धु के काठे की सीमाओं पर आबाद हुए और समय के व्यतिक्रम के साथ आगे सरकते गये। मातृभूमि से वे जितना दूर होते गये अपनी मूल-संस्कृति के प्रभाव से उतना ही उनका सम्पर्क छूटता गया।

रंगपुर और रोजड़ की कला-कृतियाँ उस क्षीयमाण संस्कृति-धारा के टपकते हुए बिन्दुओं के समान हैं जिसके जीवनमूल पोषक स्रोत चिरकाल से सूख रहे थे। या यूँ कहिये कि ये उस उत्तम संस्कृति-दीपशिखा की छायामात्र थीं जिसकी आलम्ब तैलधारा अब विच्छिन्न हो रही थी। सिन्धु-सभ्यता जब अपनी जन्मभूमि में सम्पन्न हो तभी तो रोजड़ और रंगपुर में अत्यन्त अवनत दशा तक पहुँचने के लिये इसे कुछ शताब्दियों का समय अवश्य लगा होगा। साधारणतः किसी संस्कृति की उत्कृष्ट विशिष्टताओं को अशेषतः भूलने के लिये उतना ही समय आवश्यक है जितना उन्हें सीखने और उन्नत करने के लिए। तत्त्वज्ञाताओं के विचार के अनुसार रंगपुर और

रोपड़ में उद्घाटित हड़प्पा-संस्कृति का रूप ईसापूर्व २ १५ वर्ष की सीमा के अन्दर पड़ता है।

पुरातत्व की दृष्टि से रंगपुर और रोपड़ के प्रागैतिहासिक खण्डहरों का अपना वैज्ञानिक महत्त्व है। या उपलब्धियाँ इन स्थानों में हुई वे भारत के अन्धकाल पर प्रकाश की धीमी-सी किरणें डालती हैं। उनसे पता लगता है कि सिन्धु-सभ्यता के पतन (ई पू २) तथा ईसापूर्व छठी शताब्दी के मध्यवर्ती काल में प्रायः पाँच सौ वर्ष (ई पू ११ ६) तक एक अज्ञात जाति के लोग गंगा और सतलुज की उच्च अधित्यकाओं तथा आस-पास के क्षेत्रों में निवास करते थे १

'चित्रित सलेटी कुम्भकला'—रोपड़ के खण्डहर की खुदाई में सिन्धु-सभ्यता और 'चित्रित सलेटी कुम्भकला' की संस्कृति के बीच जो लम्बा व्यवधान है वह पुरातत्ववेत्ता के लिये एक समस्या है। यदि चित्रित सलेटी कुम्भकला के निर्माता वैदिक आर्य थे तो इस स्थान पर इनके साथ सिन्धु-सभ्यता के लोगों के सम्पर्क का अवश्य प्रमाण मिलना चाहिए था क्योंकि यह स्थान गंगा के रम्य और समृद्ध मैदान में प्रवेश करने का द्वार था। वैदिक आर्यों के आने के पहले यह क्षेत्र सिन्धु-संस्कृति के लोगों के अधिकार में था जिनके सम्बन्ध में साधारण धारणा है कि वे भारत की मूल जातियों में से एक थे।

प्राचीन साहित्य के उल्लेखों से पता लगता है कि भारत की मूलजातियों को पराजित करने तथा उन्हें अपने वश में लाने के लिए आर्य जाति को चिरकाल तक कठोर संघर्ष करना पड़ा था। रोपड़ में जो साक्ष्य प्रकाश में आया है उससे यह संघर्ष सिद्ध नहीं होता। अतः अनुसन्धाताओं को ऐसे प्राचीन स्थानों की खोज करनी चाहिए जहाँ इस संघर्ष के प्रमाण दृष्टिगोचर हों। जब तक यह खोज सफल नहीं होगी यह सिद्ध करने की चेष्टा करना कि 'चित्रित सलेटी कुम्भकला' के निर्माता वैदिक आर्य थे निरर्थक है।

---

१ इण्डियन आर्क्यालोजी १९५४ ५५, पृ ९ ११।

फलक ४८. हस्तिनापुर के प्राचीन टीलों में से एक

हस्तिनापुर के खण्डहर और महाभारत-काल[1]

हस्तिनापुर के प्राचीन खण्डहर उत्तर प्रदेश के अन्तर्गत मेरठ जिले की मवाना तहसील में गंगा के सूखे पाट (बुढ़गंगा) पर स्थित हैं (फलक ४८)। लोगों का साधारण विश्वास है कि ये टीले महाभारत-कालीन हस्तिनापुर के अवशेष हैं। इस समय गंगा यहाँ से पाँच मील दूर पूर्व की दिशा में बहती है। नदी की वर्तमान धारा का मनोरम विहंग-दृश्य इन टीलों की चोटी पर से लिया जा सकता है। कुछ वर्ष हुए भारत-पुरातत्त्व विभाग एक्सकेवेसन ब्रांच के अध्यक्ष श्री बी बी लाल ने वैज्ञानिक विधि से इन टीलों का खनन कराया था। इस खुदाई का संक्षिप्त विवरण सर्वप्रथम २ अक्तूबर, १९५२ की 'इलस्ट्रेटेड लन्दन न्यूज' में और अनन्तर २७ फरवरी १९५३ को 'हिन्दुस्तान टाइम्स' में प्रकाशित हुआ था।

पाँच आबादियाँ—हस्तिनापुर के टीले की खुदाई में उत्तरोत्तर पाँच काल की आबादियों के अवशेष पाये गये थे (फलक ४९)। आबादियों के मध्य में जो अन्तर है वे उस काल के हैं जब यह स्थान उजाड़ पड़ा रहा। अन्तिम तीन काल की आबादियों की तिथियों का पता अपने-अपने काल के स्तरों से उपलब्ध सिक्कों से लगता है जिनके विषय में किसी प्रकार की शंका नहीं हो सकती। तीसरे काल की आबादी की तिथि ईसापूर्व छठी शताब्दी की जिसमें गौतम बुद्ध और कौशाम्बी-नरेश उदयन एक दूसरे के समकालीन थे। इस स्तर के नीचे उस काल (काल २) का आरम्भ होता है जिसे भारत के इतिहास में 'अन्ध-काल' का नाम दिया गया है। इसमें प्रवेश करते समय पुरातत्त्वज्ञ को विशेषतः सचेत रहना चाहिए। कोरी कल्पना का आश्रय न लेकर ठोस प्रमाणों के आधार पर ही सत्य का निर्धारण करना पुरातत्त्व की वृद्धि के लिये श्रेयस्कर है।

'काल २' की आबादी का महत्त्व—हस्तिनापुर खण्डहर के जीवन में जो पाँच काल मिले हैं उन सब में महत्त्वपूर्ण 'काल २' है क्योंकि इस काल का स्तर प्रागैति

---

१ इस लेख का अंग्रेजी रूपान्तर पहले २८ अगस्त १९५४, को हिन्दुस्तान स्टैंडर्ड में प्रकाशित हुआ था।

२ हस्तिनापुर की खुदाई का विस्तृत विवरण 'एन्शेंट इण्डिया' न १ और ११ में अब प्रकाशित हो चुका है।

हासिक और ऐतिहासिक यमो को परस्पर मिलाने मे सेतु का काम देता है। सात फुट ऊँचे इस काल के स्तर और 'काल १ के स्तर के बीच १ फुट ऊँची मसबे की तह उस समय की प्रतीक है जब 'काल १ की आबादी के अनन्तर यह स्थान पहली बार उजाड हो गया। 'काल २ की आबादी के ७ फुट ऊँचे मराव मे उत्खाता को 'चित्रित सलेटी कुम्भकला' के खण्ड (फलक ६ व ८) तांबे के तीरो के फल महेरने और हाँथियाँ कांच के कमण मिट्टी के खिलौने हड्डी की सलाखें आदि मिले थे। मम्नावशेषो मे कीच से लिपे हुए कच्चे कोठे थे। इस काल की आबादी का अन्त एक विनाशकारी बाढ के कारण हुआ जिसने नगर के बहुत बडे भाग को नष्ट कर दिया। टीलों की स्तर रचना के आधार पर उत्खाता महोदय इस निर्णय पर पहुँचे कि (१) 'काल २ की खुदाई मे उपलब्ध चित्रित सलेटी कुम्भकला' के निर्माता वैदिक आर्य थे जो इस स्थान पर ईसापूर्व ११ से ८ तक आबाद रहे और (२) ये टीले महाभारत कालीन हस्तिनापुर के खण्डहर हैं।

उत्खाता का अनुमान है कि 'काल २ के स्तर की आबादी ३ वर्ष (११ -८ ई पू) जीवित रही। इसका प्रारम्भ ई पू ११ के लगभग और अन्त ई पू ८ के करीब गगा मे प्रचड बाढ के कारण हुआ[१]। उनके मत मे 'काल १ की आबादी की आयु भी ३ वर्ष ही थी अर्थात् इसका प्रारम्भ ई पू ६ मे और अन्त ई पू १ के आस-पास हुआ।

फलक ४७ मे दी हुई टीले की स्तर रचना की पड़ताल से पता लगता है कि उत्खाता ने स्तर-रचना का मूल्य ठीक-ठीक नही आका। पुराणो मे दिए हुए वर्णन के अनुसार गगा मे प्रचड बाढ राजा निचक्षु के समय आई थी। निचक्षु कौशाम्बी नरेश उदयन से अठारह पीढी पहले हो चुका था। उदयन से निचक्षु तक अठारह राजाओ मे से हर एक राजा के शासन-काल का पार्जीटर के अनुसार १८ वर्ष का काल देकर उत्खाता महोदय इस निर्णय पर पहुँचे है कि यह बाढ ई पू ८ (१८×१८+४८३ बुद्ध के निर्वाण की तिथि) के पीछे की घटना नही हो सकती थी[२]।

'काल २ के प्रारम्भ और अन्त की तिथियो के सम्बन्ध मे वे लिखते हैं—"यदि हम ई पू ८ वाली प्रचड बाढ को 'काल २ की आबादी का अन्त मान लें तो इस काल के सात फुट ऊँचे स्तर की सारी आयु की इयत्ता नियत करना

१ एन्शेंट इडिया न १ और ११।

२ एन्शेंट इडिया न १ और ११ पृष्ठ २३ २४।

३ लाल बी बी —"हस्तिनापुर एक्सकैवेशन्स एण्ड दि आर्यन प्राब्लेम" ६७ फरवरी १९५५ के हिन्दुस्तान टाइम्स मे प्रकाशित।

1

2

3

4

5

6

7

8

9

10

11

12

13

14

फलक १ विभिन्न सतेढी कुम्भकला पर अलंकरण अभिप्राय

असम्भव नहीं। इस खण्डहर के प्रसंग में सात फुट ऊँचे मलबे के भराव के लिए तीन सौ वर्ष का अनुमान उचित ही होगा। इसलिए 'काल २' की सबसे नीचे की तह के लिए ई० पू० ११०० की तिथि नियत करना असंगत नहीं है[1]।

'काल-२ की आयु—यद्यपि 'काल २' की आबादी के स्तर में ऐसी कोई लेखांकित वस्तु नहीं मिली जिससे इसकी आयु निर्विवाद सिद्ध हो सकती तथापि इसे केवल कोरे अनुमान पर ही नहीं छोड़ देना चाहिये। प्रमाणों के आधार पर स्थूलमान से इसकी इयत्ता का निर्णय करना सम्भव है। पुराणों तथा महाभारत में स्पष्ट उल्लेख है कि हस्तिनापुर नगर की नींव डालने वाला राजा हस्तिन् था। पार्जीटर महोदय की राजवंशावलियों के अनुसार यह राजा चन्द्रवंश की पौरव-शाखा में अभिमन्यु का ४१वाँ पूर्वज था[2]। निचक्षु अभिमन्यु से छः पीढ़ी और नीचे था। इस गणना के अनुसार निचक्षु और राजा हस्तिन् के बीच ५५ पीढ़ियों का अन्तर पड़ जाता है। पुराणों में यह भी मिलता है कि पुरुवंशी राजाओं की पुरानी राजधानी प्रयाग के पास प्रतिष्ठान नगर था जिसे राजा दुष्यन्त अथवा उसके पुत्र भरत ने त्याग दिया था और उसकी बजाय हस्तिनापुर के स्थान पर नयी राजधानी की स्थापना की थी। भरत राजा हस्तिन् का पाँचवाँ पूर्वज था[3]। इसलिए यह मान लेना युक्तिसंगत होगा कि यह स्थान जहाँ इस समय हस्तिनापुर के खण्डहर खड़े हैं राजा भरत से लेकर निचक्षु तक लगातार पचपन पीढ़ियाँ पुरुवंशी राजाओं की राजधानी रहा। अब यदि पूर्वोक्त क्रमानुसार पचपन पीढ़ी राजाओं में से हरएक को १८ वर्ष का शासन काल दें तो पचपन राजाओं का संयुक्त कालमान ९९० (५५ × १८) अर्थात् एक हजार वर्ष के लगभग बैठता है। अतः हस्तिनापुर के खण्डहर में उत्खात 'काल २' के स्तर की आयु का मान यही होना न्याय्य है। यदि इस काल के लिए १००० वर्ष की संख्या निर्दोष है तो इससे हस्तिनापुर के टीलों की स्तर-रचना के सम्बन्ध में पुरातत्त्व विभाग द्वारा निर्णीत १००० (११००–८०० ई० पू०) वर्ष के कालमान को धक्का आघात पहुँचता है। इससे न केवल 'काल २' की तिथि ई० पू० १८०० वर्ष तक और उसके पूर्ववर्ती 'काल १' की तिथि ई० पू० २००० तक पीछे सरक जाती है अपितु परवर्ती तीन कालों (३-५) की तिथियों में भी गड़बड़ मच जाती है। ऐसी विकट स्थिति में प्रश्न पैदा होता है कि क्या यह खण्डहर वही भारत

---

१ लाल बी० बी०—'हस्तिनापुर एक्सकेवेशन्स एण्ड दि आर्यन प्राब्लेम" २० फरवरी १९५२ के हिन्दुस्तान टाइम्स में प्रकाशित।

२ पार्जीटर, एफ० ई०—एन्शेंट इण्डियन हिस्टॉरिकल ट्रेडिशन पृष्ठ १४६, १४९।

३ पार्जीटर, एफ० ई०—एन्शेंट इण्डियन हिस्टॉरिकल ट्रेडिशन पृष्ठ २७३।

पुरातत्त्व विभाग ने खुदाई कराई है, वस्तुतः राजा हस्तिन् का बसाया हुआ महाभारत-कालीन हस्तिनापुर है अथवा कोई दूसरा ? । यदि यह हस्तिन् का बसाया हस्तिनापुर नहीं है तो हमें इस खण्डहर के सम्बन्ध में निषेधु या महाभारत-युद्ध की चर्चा करने का कोई अधिकार नहीं और यदि यह वही हस्तिनापुर है तो स्तर-रचना के विषय में जो ऊपर विरोध दिखलाया गया है उसका परिहार करना नितान्त आवश्यक है।

भौतिक प्रमाण—यहाँ तक युक्ति और तर्क का प्रश्न है प्रतीत होता है कि ये खण्डहर महाभारत-कालीन हस्तिनापुर के ध्वंस नहीं हैं। इस विषय में एक कारण तो ऊपर उपस्थित किया गया है। दूसरा यह है कि 'काल २' में स्तर की खुदाई में भौतिक-सम्पत्ति का जो प्रमाण मिला है वह अत्यन्त निराशाजनक है। क्या पचास पीढ़ियों के प्रतापी पुरुवंशी राजा जिनमें कई चक्रवर्ती थे घास फूस की झोंपड़ियों में निवास करते थे और क्या वे सोने-चाँदी के बहुमूल्य बर्तनों की बजाय 'चित्रित सलेटी कुम्भकला' के अति निकृष्ट बर्तनों का ही प्रयोग करते रहे ? । 'काल-२' के स्तर की आबादी में उद्घाटित संस्कृति का जो रूप हमारे सामने आता है वह नितान्त निम्न-कोटि का और मनुष्य की असभ्य-दशा का परिचायक है। वह महाभारत-कालीन सामाजिक दशा का चित्र नहीं हो सकता। यद्यपि हस्तिनापुर में खुदाई थोड़े ही क्षेत्र में सीमित रही तथापि इस संक्षिप्त खनन में भी टीलों की स्तर रचना और विभिन्न कालों की संस्कृति की पर्याप्त झलक मिल गई है।

महाभारत काल में लोहे का ज्ञान—इस खण्डहर के महाभारत-कालीन न होने का तीसरा प्रमाण यह है कि 'काल २' की आबादी में केवल ताम्र-युग की संस्कृति के ही लक्षण मिले हैं। लोहे की एक भी वस्तु नहीं मिली। ऋग्वेद में जिस धातु का उल्लेख है वह 'अयस्' है जिसका अर्थ तांबा अथवा लोहा या दोनों हो सकते हैं। परन्तु उत्तरकाल में पूर्वोक्त दोनों धातुओं का ज्ञान हो चुका था क्योंकि अथर्ववेद में 'लोहितायस्' और 'कृष्णायस्' का स्पष्ट वर्णन है। यह भी निर्विवाद है कि महाभारत का युद्ध ऋग्वैदिक-काल में नहीं हुआ था क्योंकि ऋग्वेद में इस युद्ध की चर्चा तक नहीं है। 'भारत' और 'महाभारत' का प्रथम उल्लेख आश्वलायन गृह्यसूत्र में मिलता है। शाङ्खायन श्रौतसूत्र में कौरवों के विनाशकारी युद्ध का वर्णन है। पाणिनि के समय में तो महाभारत के नायक उपदेवताओं की पदवी पा चुके थे। महाभारत में लोहे के अस्त्रशस्त्रों का अनेक बार वर्णन आता है। इनमें बाणाग्र, पत्र, भाला, बर्छी, कुल्हाड़ा, त्रिशूल, तलवार, बाणमुख (नखर) आदि सम्मिलित थे। अस्त्रशस्त्रों के वर्णन

१ कैम्ब्रिज हिस्ट्री आफ इण्डिया भा० १ पृष्ठ ११।
२ मजुमदार, आर० सी०—वैदिक एज पृष्ठ १ १।

प्रसग मे उनके साथ सम-पारदश सर्वायस कृष्णायस शीक्ष्णायस और ग्रायस आदि विशेषणो का प्रयोग स्पष्ट बतलाता है कि वे कासिस लोहे या फौलाद के बनाये जाते थे। आश्चर्य की बात है कि हस्तिनापुर की खुदाई मे 'काल-२ के स्तर म लोहे का एक भी शस्त्र अथवा उपकरण नही मिला।

चित्रित सलेटी कुम्भकला—भारत-पुरातत्त्व-विभाग के विशेषज्ञो म 'चित्रित सलेटी कुम्भकला' को वदिक आर्यों की कृति बतलाया है। उनका कथन है कि इसी शैली के ठीकरे गगा-सतलुज की उन्नत वादियो मे स्थित ४ टीलो तथा बग्घर (प्राचीन सरस्वती) की उपत्यका म स्थित बीस अन्य खडहरो मे पाये गये हैं (फलक १ क-ख)। जब तक पुरातत्त्व विभाग की विस्तृत रिपोर्ट नही छपती पूर्वोक्त साठ स्थानो से प्राप्त इस कुम्भकला के नमूनो की हस्तिनापुर की कुम्भकला से तुलना करना सम्भव नही। उत्तर-प्रदेश के अहिच्छत्रा टीले के प्रत्यर स्तर १ में जो सलेटी रग के कुम्भखड मिले वे चित्रहीन थे और 'काली पृष्ट-कुम्भकला' के साथ मिश्रित पाये गये थे। सम्भव है कि भिन्न-भिन्न स्थानो से प्राप्त 'चित्रित सलेटी कुम्भकला' के ठीकरो म वैयक्तिक भेद हो। इसलिये जब तक प्रत्यक स्थान से प्राप्त इस कुम्भकला के उदाहरण सूक्ष्म दृष्टि से परीक्षा नही किय जाते उनसे किसी प्रकार का निश्चय निकालना असामयिक होगा। हस्तिनापुर की 'चित्रित सलेटी कुम्भकला' पर जो अल करण-अभिप्राय मिले हैं उनम सिग्मा-चिन्ह' समानकेन्द्र वृत्त लहरिया आदि (फलक ४ क-ड) समाविष्ट हैं। अन्य स्थानो से प्राप्त इसी काल तथा शैली की कुम्भकला पर भी प्राय ऐसे ही अभिप्रायो का होना आवश्यक है।

विदेशीय कला-साहश्य—हस्तिनापुर के उत्खनक श्री बी बी लाल ने बेगली सैक उर्मिया (ईरान) और सीस्तान से उपलब्ध चित्रित सलेटी कुम्भकला के साम्य का जो प्रमाण दिया है वह अस्पष्ट और अधूरा है। जब तक पूर्वोक्त स्थानो से प्राप्त इस शैली के प्रत्येक कुम्भखड के प्राप्ति-स्थान साहचर्य और तिथि का हमे पूरा परिचय नही मिलता इस साम्य पर निर्भर होना भयावह है। सलेटी रग की कुम्भकला चित्रित और चित्रहीन भारत तथा अन्य देशो मे भिन्न-भिन्न साहचर्य और प्रसग मे पाई गई है। प्रत्यक वर्ग के ठीकरे अपने काल और साहचर्य की पृष्ठभूमि म परिशीलन करने योग्य हैं। बेगली ईरान और सीस्तान की इस शैली की कुम्भकलाओ का इडो यूरोपियन जातियो की सामूहिक हलचलो से बहुत कम सम्बन्ध है। बन्धाकार

---

१ घोष अमलानन्द—दि राजस्थान डेजर्ट—इट्स आर्कयोलाजीकल एसपेक्ट पष्ठ १६४२ और एन्शेंट इडिया न १०-११ पृष्ठ १२।

२ एन्शेंट इडिया न १ पृष्ठ ४।

कब्रिस्तान 'मृतक का अग्निदाह' 'विसर्जन-प्रथा' और 'घोड़ा' इन तत्वों को भिन्न-भिन्न पुरातत्ववेत्ताओं ने इण्डो-यूरोपियन जातियों की सामूहिक हलचलों से सम्बद्ध किया है परन्तु 'चित्रित धूसर पात्र (पेंटेड ग्रे वेयर)' को किसी ने भी नहीं किया । इस कुम्भकला का आर्य जाति के साथ सम्बन्ध अभी सिद्ध करना शेष है । दूसरी बात यह है कि 'इण्डो-यूरोपियन' जाति यूनान में ईसापूर्व १२वीं शती में प्रविष्ट हुई थी । प्रवेश के अनन्तर इसने वहाँ मिनोअन-ग्रीक की माइसीनियन संस्कृति को निर्मूल कर दिया था[1] । अतः ग्रे वेयर कुम्भकला को वैसकी में मिले हैं वे ग्यारहवीं शती से पहले के नहीं हो सकते । ऐसी दशा में यह कल्पना करना असम्भव है कि वह 'इण्डो-यूरोपियन' आर्यजाति जो १२वीं शती ईसापूर्व यूनान में पहुँची उसी शती में भारत में प्राचीन सरस्वती की घाटी में भी आ प्रकट हुई । स्मरण रहे कि उत्तरी भारत में आर्य जाति के उपनिवेश इस तिथि से कई शताब्दियाँ पहले बन चुके थे ।

'बोगाज-क्यु' का लेख—लघु एशिया के 'बोगाज-क्यु' नाम प्राचीन खण्डहर में हत्ती (हिट्टाइट) और मितानियन आर्य राजवंशों के बीच निष्पन्न एक सहमति का लेख मिला था । हस्तिनापुर में 'काल-२' के स्तर में उपलब्ध 'चित्रित धूसर कुम्भकला' को वैदिक आर्यों की कृति सिद्ध करने के प्रयत्न में श्री लाल ने 'बोगाज-क्यु' के पूर्वोक्त लेख का जो साक्ष्य उपस्थित किया है वह भी अकिंचित्कर है । इससे यह सिद्ध नहीं होता कि मितानियन आर्य लोग जो चौदहवीं शती ईसापूर्व मैसोपोटेमिया में शासन करते थे भारत की ओर बढ़ते हुए इण्डो-यूरोपियन आर्य दल का अग्रगामी दस्ता था । यदि हम इस मत को स्वीकार करें तो बहुत-सी कठिनाइयों का सामना करना पड़ेगा । पहली कठिनाई यह है कि यह मत उस सर्वसम्मत सिद्धान्त का विरोधी है जिसके अनुसार वैदिक आर्य उत्तरी भारत में ईसापूर्व १२ के लगभग प्रविष्ट हुए थे । ऋग्वेद में दाशराज्ञ युद्ध का समकालीन घटना के रूप में वर्णन इस सिद्धान्त का प्रबल समर्थन करता है और पुराणों में दी हुई वंशावलियों से भी इसे पुष्टि मिलती है । दूसरी कठिनाई यह है कि मितानियन आर्य लोग 'इण्डो-यूरोपियन' आर्य-जाति के 'सतम्-भाषी' प्राच्य दल के थे न कि 'केंटुम्-भाषी' प्रतीच्य-दल के । इसका अर्थ यह निकला कि वे या तो 'इण्डो-यूरोपियन' जाति की पूर्वी शाखा का दस्ता था जो

---

1. व्हाइट्स सी० सी०—दि आर्यन्स पृष्ठ १४१-१४८ १७२ १८१ ।
2. मजूमदार, आर० सी०—दि वैदिक एज पृष्ठ २ ८ ।
3. मजूमदार आर० सी०—दि वैदिक एज पृ० १ ७ ।
4. व्हाइट्स सी० सी०—दि आर्यन्स पृ० ७१-७२ ।

किसी समय ईरान पहुँचने के पहले ही उससे बिछुड़ गया था[1] अथवा अति प्राचीन काल में भारत से निर्वासित आयुधजीवी किसी क्षत्रिय जाति के लोग थे[2]। यदि पहले मत को मानें तो मितानियन लोग प्राच्य 'इण्डो-यूरोपियन' दल से उस समय बिछुड़े होंगे जब इस दल का 'इण्डो-यूरोपियन' और 'इण्डो-आर्यन' शाखाओं में विभाजन अभी अस्तित्व में नहीं आया था। इस वैकल्पिक मत का समर्थन 'बोगाज-कुयु' के लेख में वर्णित इन्द्र मित्र वरुण और नासत्या नामक वैदिक देवताओं के वर्णन से होता है। इनमें 'देव' और 'असुर' दल के देवताओं को एकत्र मिला दिया गया है। दूसरे मत की व्याख्या पार्जीटर महोदय ने अपनी पुस्तक 'एन्शेंट इण्डियन हिस्टारिकल ट्रैडिशन' में विशेष रूप से की है। पुराणों में स्पष्ट लिखा है कि ऐल-वंशज द्रुह्यु-जाति के क्षत्रिय उत्तर-पश्चिमी मार्गों से भारत के बाहर जा बसे थे। जिन पड़ोसी देशों में जाकर वे बसे वहाँ उन्होंने भारतीय शैली के राज्य स्थापित किये और उन जातियों में आर्य-धर्म का प्रचार किया। यह सुविदित है कि गान्धार नाम द्रुह्यु-वंश के राजकुमार के नाम पर गान्धार (वर्तमान कन्दहार) देश का नाम पड़ा। पार्जीटर की गणना के अनुसार भारत से निर्वासित आर्य क्षत्रिय जातियाँ ईसा पूर्व १९ के लगभग पड़ोसी देशों में जा बसी थी और वहाँ से धीरे धीरे पश्चिम की ओर फैलकर ईसापूर्व १४वी सदी में लघु-एशिया के 'बोगाज-कुयु' स्थान में प्रकट हुई। दोनों मतों में से चाहे किसी को भी स्वीकार करें 'बोगाज-कुयु के लेख का साक्ष्य हस्तिनापुर या गंगा-सतलुज और प्राचीन सरस्वती की उपत्यकाओं में उपलब्ध 'चित्रित धूसरित कुम्भकला' पर प्रभाव नहीं डालता।

उपसंहार—पूर्वोक्त समालोचना से सिद्ध होता है कि हस्तिनापुर के खण्डहर में काल २ का स्तर राजा हस्तिन् का बसाया हुआ महाभारत-कालीन हस्तिनापुर नहीं है। अत निचक्षु तथा महाभारत युद्ध से इसके सम्बन्ध-स्थापन की चेष्टा करना निष्प्रयोजन है। चित्रित धूसरित कुम्भकला' के निर्माता ताम्रयुग के निर्धन लोग थे जिनकी भौतिक सम्पत्ति बहुत निकृष्ट कोटि की थी। इस बात का अधिक महत्त्व देने की आवश्यकता नहीं कि जिन स्थानों में इस कुम्भकला के ठीकरे मिले उनमें से कई एक महाभारत की कथा से सम्बन्ध रखते हैं। पूर्वोक्त ६ प्राचीन टीलों में से अधिकांश महाभारत की कथा से कोई सम्बन्ध नहीं रखते और भविष्य में यदि यह कुम्भकला अन्य बहुत से ऐसे खण्डहरों से प्राप्त हो जिनका महाभारत में कोई वर्णन नहीं है तो इस तर्क का कोई महत्त्व नहीं रहेगा। यह बात विचारणीय है कि इन शैली

---

१ मजुमदार, आर सी —वही पृ २७१।
२ पार्जीटर, एफ ई—वही पृ २९४।

की कुम्भकला का भारत के पश्चिमोत्तरी सीमाप्रान्त तथा आस-पास के क्षेत्र मे अत्यन्ताभाव है। यह वही भू-खण्ड है जहाँ भारत में प्रवेश करने के अनन्तर वैदिक आर्य चिरकाल तक आबाद रहे। स्वभावत यह कुम्भकला इस प्रान्त में प्रचुर-मात्रा मे मिलनी चाहिए थी। परन्तु ऐसा देखने मे न आया। ब्रह्मावर्त और ब्रह्मर्षि देश मे ही सीमित होने के कारण यह सम्भावना भी असंगत है कि यह कुम्भकला विदेशीय लोगो की कृति थी और भारत मे कही बाहर से लाई गई थी।

हस्तिनापुर के टीलो म नाम २ के स्तर म जो बाढ़ के निशान मिले है प्राय सन्देह नही कि वे निचक्षु के समय की बाढ़ के ही हो जब तक कि इसके समर्थन अन्य प्रमाण नही मिलते। निचक्षु के समय की बाढ़ एक अभूतपूर्व दैवी कोप था जिसने समस्त हस्तिनापुर का नाम तक मिटा दिया। इसी स्तर से प्राप्त घोडे की हड्डियो के अकेले प्रमाण से यह सिद्ध नही होता कि इस समय के लोग अवश्य ही आर्य थे। हड़प्पा और मोहेंजो-दडो के खण्डहरो म घोडे की हड्डियाँ पाई गयी थी परन्तु इससे यह निष्कर्ष नही निकलता कि सिन्धु-सस्कृति आर्य-सस्कृति थी।

हड़प्पा-सस्कृति की चर्चा के प्रसग मे श्री डी डी कोसाम्बी लिखते है कि "यह सस्कृति सिन्धुनद की उपत्यका मे ईसापूर्व तीसरी सहस्राब्दी के मध्य से दूसरी सहस्राब्दी के मध्य तक फली फूली। यह तिथि जो उन्होने सिन्धु-सभ्यता के समस्त जीवनकाल की दी है डाक्टर मार्टिमर व्हीलर के दोषग्रस्त अनुमान पर आधारित है। जैसा कि मैंने ऊपर सिद्ध किया है सिन्धु-सभ्यता का आरम्भ ईसापूर्व चौथी सहस्राब्दी के पूर्वार्ध तक जा पहुँचता है। इसका समर्थन न केवल हड़प्पा और मोहेंजो-दडो के टीलो की स्तर-रचना से ही अपितु सिन्धु प्रान्त तथा मैसोपोटेमिया से उपलब्ध मौलिक प्रमाणो के साक्ष्य से भी होता है।

---

१ वत्स माधोस्वरूप—एक्सकैवेशन्स एट हड़प्पा ग १ पृ १४२।

२१

सौराष्ट्र का प्रागैतिहासिक खण्डहर 'लोथल'

सौराष्ट्र मे 'लोथल' खण्डहर की उपलब्धि से भारत-पुरातत्व-विभाग की प्रगति पर महत्त्वपूर्ण प्रभाव पड़ा है। 'इण्डियन आर्क्यालोजी' में प्रकाशित विवरणों तथा पुरातत्व विभाग की वार्षिक प्रदर्शनियों के आधार पर कहा जा सकता है कि यह स्थान विभाजित भारत के समस्त प्रागैतिहासिक खण्डहरो मे जो आज तक प्रकाश मे आ चुके हैं उत्तम है। इससे उतरकर दो और प्रागैतिहासिक खण्डहर जो गत वर्षों में उपलब्ध हुए हैं रोपड़ और रंगपुर हैं जिनके सम्बन्ध में विस्तृत विवरण ऊपर दिया जा चुका है।

लोथल का महत्त्व—लोथल का महत्त्व इस बात मे है कि यहाँ सिन्धु-संस्कृति का जो रूप प्रकाश में आया वह रोपड़ और रंगपुर के रूप से अधिक विकसित है। इसमें उत्खात कुम्भकला विविध आकार की थी और भूपात्रो मे भी नानाविध वैविध्य था। इसके अतिरिक्त बहुत-सी सिन्धु-मुद्राएँ भी यहाँ उपलब्ध हुई थीं। रंगपुर के खण्डहर मे जो लोथल से ३ मील दक्षिण मे है (फलक ४) अब तक एक भी ऐसी मुद्रा नहीं मिली और रोपड़ से केवल एक ही प्राप्त हुई है। लोथल से प्राप्त मुद्राओं मे से एक पर काल्पनिक एकशृंग पशु उत्कीर्ण है (फलक ४१ क)। पशु के कन्धो पर पानपत्ती के आकार का आवरण-वस्त्र है और गले के नीचे बलि-वलि जो सिन्धु-मुद्राओ पर इस पशु के साथ प्रायः देखी जाती है। मोहेंजो-दड़ो से उत्खात मुद्रा न० ३८७ (फलक १८ ङ) पर पीपल के तने से लिपटे हुए दो एकशृंग बने हैं। ये पशु या तो अश्वत्थ वृक्ष के संरक्षक हैं अथवा अश्वत्थ-अधिष्ठातृ परम-देवता के वाहन। इस प्रमाण से सिद्ध होता है कि लोथल के निवासियों मे अभी सिन्धु-सभ्यता की लुप्तप्राय धार्मिक रूढ़ियों का कुछ अंश अवशिष्ट था। यह उल्लेखनीय है कि अभी तक न तो रंगपुर में और न ही रोपड़ के टीले मे सिन्धुकालीन धर्म-परम्परा की प्रतीक कोई वस्तु मिली है।

लोथल से प्राप्त शरीर के भूषणों मे नाक के चमकते जड़ाई या मीनाकारी करने के टुकड़े खड़िया पत्थर का फूल जिसके अब केवल दो दल ही शेष हैं और विविध द्रव्यो के मनके समाविष्ट हैं। पत्थर के उपकरणों मे कई एक चकमक की छुरियाँ हैं। मिट्टी के बर्तन कई आकार और माप के हैं। ठीकरो पर स्याही से चित्रित

फलक ११ रंगपुर तथा हड़प्पा के चित्रात्मक अभिप्रायों की तुलना

प्रतिप्रामो मे समानान्तर पट्टियाँ रेखापूर्ण मण्डार्ष चक्करदार लहरियाँ आदि वर्णनीय है।

रंगपुर और रोपड की अपेक्षा लोथल प्राचीनतर—खण्डहर की स्तर रचना से पता लगता है कि रंगपुर और रोपड की अपेक्षा लोथल पाँच सौ वर्ष अधिक प्राचीन था (फलक १२)। इस खण्डहर के अन्दर बीस फुट ऊँचे मलबे के मराव मे केवल सिन्धु संस्कृति के ही अवशेष मिले किसी अन्य संस्कृति के नही। इससे व्यक्त होता है कि इस खण्डहर के जीवन-काल म प्रारम्भ से अन्त तक यहाँ केवल सिन्धु-संस्कृति के लोग ही आबाद रहे। भारत-पुरातत्व विभाग की रिपोर्ट मे लिखा है कि 'रंगपुर और रोपड के स्थानो मे हडप्पा-संस्कृति के लोगो की पहली बस्ती ईसापूर्व २ के लगभग शुरू हुई और ईसापूर्व १५ के आस-पास समाप्त हो गयी। इसके अनन्तर रोपड मे कोई विजातीय लोग जो चित्रित सलेटी कुम्भकला का प्रयोग करते थे आकर बस गये। परन्तु रंगपुर मे हडप्पा-संस्कृति के लोग धीरे-धीरे बदलते गये और अन्त में 'चमकीली लाल कुम्भकला' के निर्माताओ के रूप मे परिणत हो गये।

प्राकार-काल—ईसापूर्व २ के लगभग लोथल के स्थान पर बाढ़काण्ड से बचने अथवा शत्रुओ के डर से एक प्राकार बनाया गया। इस प्राकार-काल से पहले एक लम्बा प्राक्-प्राकारकाल का युग था जो पाँच सौ वर्ष के लगभग लम्बा था (फलक १२)। सन् १९४६ म डाक्टर व्हीलर ने हडप्पा मे 'टीला ए-बी' के इर्द-गिर्द भी एक दुर्ग-प्राकार की खुदाई की थी। लोथल की तरह हडप्पा खण्डहर के जीवन मे भी एक लम्बा 'प्राक् प्राकार युग काल था यद्यपि डाक्टर व्हीलर इसे नही मानते। उनके मत मे हडप्पा का दुर्ग प्राकार नवागन्तुक प्रौढ सिन्धु-संस्कृति के सम्वाहकों की पहली कृति थी और उनके पहले इस स्थान पर कोई विजातीय लोग निवास करते थे। जैसा कि मैं पहले लिख चुका हूँ मेरा दृढ विश्वास है कि हडप्पा के 'टीला ए-बी' म बना हुआ दुर्ग प्राकार 'टीला-एफ' के पहले स्तर की इमारतो की अपेक्षा एक हजार वर्ष बाद का है।[1]

लोथल का महत्त्व—सिन्धु-सभ्यता के कालनिर्णय के लिये लोथल का खण्डहर एक मानदण्ड है। टीले के अन्दर की स्तर-रचना की परीक्षा से पता लगता है कि यह स्थान रंगपुर और रोपड के खण्डहरो से पाँच सौ वर्ष अधिक पुराना था। इस टीले मे हडप्पा-संस्कृति के पहले स्तर की तिथि उत्खाता के अपने अनुमान से ईसापूर्व २५ वर्ष है (फलक १२)। डॉक्टर व्हीलर की सम्मति मे यही तिथि प्रौढ सिन्धु-संस्कृति

---

१ दिसम्बर १९५४ मे इण्डियन हिस्टरी काँग्रेस के अहमदाबाद अधिवेशन मे जो लेख मैंने दिया था उसमे मैंने यही विचार उपस्थित किया था।

रोपड़

रंगपुर
ई. पू. १०००

लोथल
ई. पू. १५००

ई. पू. २०००

प्राकार काल

प्राकार के पहले का काल

ई. पू. २५००

प्राकृतिक भूतल

फलक २१ लोथल रंगपुर और रोपड़ की [illegible]

ताएँ नहीं मिलती। न ही इसमें प्रेत के उपयोग के लिये कब्र में शव के साथ ताँबे के दर्पण (फलक १४ म) काजल और लेप डालने की सीसियाँ व कटोरियाँ आदि शृंगार की वस्तुएँ जो हड़प्पा की कब्रों में पाई गई मिली हैं। हड़प्पा की कई कब्रों में शवों के साथ बलिरूप में वध किये हुए पशुओं और पक्षियों की अस्थियाँ थीं। ये सब विलक्षणताएँ रोपड़ के शव-स्थान में नहीं मिलीं।

रोपड़ में उत्खात प्रागैतिहासिक शवस्थान सिन्धु-संस्कृति से प्रभावित अवश्य था परन्तु हड़प्पा के शवस्थान आर १७ का समकालीन नहीं हो सकता। प्रतीत होता है कि रोपड़ के कब्रिस्तान के लोगों का सम्पर्क चिरकाल से सिन्धु-सभ्यता के केन्द्र-स्थानों से छूट चुका था। मनुष्य समाज में जन्म-मरण-सम्बन्धी रीति-रिवाज कठिनता से बदलते हैं। यही कारण है कि सिन्धु-सभ्यता के केन्द्रस्थानों से सम्बन्ध छूट जाने पर भी रोपड़ में शव गाड़ने की प्रथा जारी रही परन्तु इस अन्तर में ये लोग अपनी बहुत सी प्राचीन प्रथाओं और परम्पराओं को भूल गये। अन्यथा रोपड़ के कब्रिस्तान में सिन्धु-संस्कृति की पूर्वोक्त विलक्षणताओं के अत्यन्ताभाव का कारण बतलाना कठिन है। 'इण्डियन आर्क्यालोजी' १९५३ ५४ में लिखा था कि रोपड़ में उद्घाटित हड़प्पा-संस्कृति का रूप पूर्ण विकसित प्रौढ़ एवं सब लक्षणों से युक्त था। मैंने अपने पहले लेख में निर्देश किया था कि हड़प्पा-संस्कृति का यह रूप उत्तरकालीन है। मुझे हर्ष है कि इण्डियन आर्क्यालोजी के १९५४-५५ के संस्करण में पुरातत्त्व विभाग ने अपने पिछले वर्ष के विचार में यह संशोधन कर दिया है कि "रोपड़ में सिन्धु-संस्कृति का जो रूप प्रकाश में आया वह प्रौढ़ हड़प्पा-संस्कृति का उत्तरकालीन रूप है।

बाड़ा और सलौरा का सम्बन्ध—सन् १९५४-५५ में पुरातत्त्व विभाग ने रोपड़ के निकट बाड़ा और सलौरा नाम के दो और प्रागैतिहासिक खण्डहरों का उद्घाटन कराया। ये खंडहर एक दूसरे से लगभग ३ मील के अन्तर पर स्थित हैं। 'बाड़ा' का सारा टीला हड़प्पा-संस्कृति की बस्तियों से भरा पड़ा था। परन्तु 'सलौरा' के टीले में इस संस्कृति की एक भी बस्ती नहीं थी। इसमें सबसे नीचे की आबादी में 'चित्रित स्लेटी कुम्भकला' के ठीकरे मिले थे[1]। इन तथ्यों की तुलना से यो पता लगता है कि सिन्धु-संस्कृति के लोग और 'चित्रित स्लेटी कुम्भकला' के निर्माता इन स्थानों में भी कभी परस्पर सम्पर्क में नहीं आये। ऐसी ही परिस्थिति रोपड़ हस्तिनापुर आदि उन समस्त प्राचीन टीलों में पाई गई थी जहाँ-जहाँ "चित्रित स्लेटी कुम्भकला" हड़प्पा संस्कृति के स्तरों के ऊपर पड़ी थी। इस नवीन साक्ष्य के आधार पर एक बार फिर यह कहना पड़ता है कि 'चित्रित स्लेटी कुम्भकला' वैदिक आर्यों की कृति नहीं थी।

१ इण्डियन आर्क्यालोजी, १९५४ ५५, चित्र ३।

हो सकता। पहले निर्देश किया गया है कि सिन्धु-सभ्यता हड़प्पा के दुर्ग-प्राकार से एक हजार वर्ष अधिक प्राचीन है। लोथल की स्तर-रचना का साक्ष्य मेरे कालनिर्णय का समर्थन और डॉक्टर व्हीलर के कालनिर्णय का निराकरण करता है। लोथल के साक्ष्य के प्रकाश में डॉक्टर व्हीलर के कालमान (ई पू २५००-१५००) में संशोधन की आवश्यकता है। इस समय पुरातत्त्व और ऐतिहासिक उन्हीं के कालनिर्णय को मान्य समझ कर व्यवहार में ला रहे हैं।

रंगपुर का साक्ष्य—सन् १९५४-५५ में रंगपुर में जो खनन हुआ उससे इस प्रकार के निम्न स्तरों में हड़प्पा-संस्कृति के और सब से ऊपर के स्तर में "उत्तरी काली घुटी कुम्भकला' के अवशेष मिले थे। 'इंडियन आर्क्यालोजी (सन् १९५४-५५) में लिखा है कि 'रंगपुर में हड़प्पा संस्कृति अपनी स्वाभाविक मौत से मरी। यह धीरे धीरे क्षीण होती गयी और अन्त में उत्तरकालीन 'चमकीली लाल कुम्भकला" की संस्कृति में परिणत होकर अपनी स्वतन्त्र सत्ता को सर्वथा खो बैठी। मैंने इस कुम्भकला को राष्ट्रीय संग्रहालय नई दिल्ली में पुरातत्त्व प्रदर्शनी में सूक्ष्म दृष्टि से देखा था। मेरा विश्वास है कि यह हड़प्पा की कुम्भकला से उतनी ही भिन्न है जितनी 'कब्रिस्तान-एच' की कुम्भकला। इसी की तरह 'कब्रिस्तान-एच' की कुम्भकला भी चमकीली और लाल रंग की है। दोनों में परस्पर बहुत समानता है। न केवल इनके आकार, रंग और मिट्टी ही समान हैं, अपितु इन पर चित्रित अभिप्राय भी परस्पर बहुत सादृश्य रखते हैं। उदाहरणत रंगपुर के बर्तनों पर जो हिरण चित्रित हैं (फलक ५१ ख) उनकी तुलना 'कब्रिस्तान-एच' के बर्तनों पर बने हिरणों से इस बात में की जा सकती है कि दोनों भाँति के हिरणों के सींग वक्र हैं, पूँछ शरीर से चिपटी हुई ऊपर को उठी है और इनके शरीर भी कई बातों में समान हैं (फलक ५१ ग घ) इसी प्रकार रंगपुर के ठीकरों पर बने हुए गो-जाति के पशुओं के सिरों पर (फलक ४९, ङ) सम्मोन्नत आकार के सींग और वक्र नाक 'कब्रिस्तान-एच' की कुम्भकला पर बने हुए पशुओं के सींगों से बहुत अनुरूप हैं (फलक ५१ छ, ज ट)।

चमकीली लाल कुम्भकला—यह भली प्रकार मालूम है कि 'कब्रिस्तान-एच' में गड़े हुए लोग हड़प्पा-संस्कृति के लोगों से भिन्न जाति के थे। वे हड़प्पा में उस समय आए जब सिन्धु संस्कृति प्रबल वेग से अवनति की ओर झुक रही थी। अत यह अनुमान लगाना युक्तिसंगत होगा कि कब्रिस्तान-एच के लोगों की तरह 'चमकीली लाल कुम्भकला' के कर्ता भी विजातीय थे और वे रंगपुर में उस समय आकर

---

१ वत्स मार्कोपल्स—एक्सकैवेशन्स एट हड़प्पा पृ ९, फलक ११ १ फलक १४ २, ३ फलक ६६ ५१ १४ आदि।

बसे जब हड़प्पा संस्कृति वहाँ अपने जीवन के अन्तिम क्षणों में थी। हड़प्पा की तरह रंगपुर में 'चमकीली लाल कुम्भकला' का अस्तित्व इस कारण नहीं था कि सिन्धु-संस्कृति के लोगों में धीरे-धीरे परिवर्तन हो गया था अपितु इसलिये कि यहाँ भी एक विजातीय लोगों का दल सहसा प्रकट हुआ था। सम्भवतः ये 'कब्रिस्तान-एच' के ही लोग थे जो सिन्धु-संस्कृति के लोगों का अनुसरण करते हुए हड़प्पा से चलते-चलते उस समय रंगपुर में पहुँचे जब हड़प्पा-संस्कृति अन्तिम क्षणों में थी।

रंगपुर के एक बर्तन पर चित्रित मोर (फलक ५१ क)[1] भी सिद्ध करता है कि सिन्धु-संस्कृति का यह रूप उत्तरकालीन अवनत और निकृष्ट था। यह हड़प्पा के बर्तनों पर बने हुए मोरों (फलक ५१ ख) से इतना भिन्न है कि इसे सिन्धु-संस्कृति की अनुकृति कहने में मन सकुचाता है। रंगपुर का मोर हड़प्पा के मोर का विकृति रूप है और निस्सन्देह इस संस्कृति के अवनति काल का है। रंगपुर और लोथल में लाल और मटियाली कुम्भकलाओं के ठीकरे जो समान स्तरों में मिले इस तथ्य का अतिरिक्त प्रमाण हैं कि रंगपुर में उद्घाटित सिन्धु-संस्कृति का रूप इसके ह्रासकाल का है। हड़प्पा और मोहेंजो-दड़ो में सिन्धु-संस्कृति के स्तरों में केवल लाल कुम्भकला के ही खण्ड मिले थे। रंगपुर और लोथल में हड़प्पा-संस्कृति के स्तरों में एक साथ लाल और मटियाली कुम्भकलाओं का मिलना इस बात का प्रतीक है कि सौराष्ट्र के निवासी सिन्धु-संस्कृति के लोगों और हड़प्पा-निवासी उनके पूर्वजों में एक लम्बे समय का व्यवधान पड़ चुका था।

रोपड़ का साक्ष्य—सन् १९५४-५५ में रोपड़ के कब्रहर में जो खनन हुआ वह हड़प्पा-संस्कृति के कब्रिस्तान में ही केन्द्रित रहा। यद्यपि रोपड़ का प्रागैतिहासिक कब्रिस्तान हड़प्पा के 'कब्रिस्तान-आर ३७' से सादृश्य रखता है, तथापि इसमें हड़प्पा कब्रिस्तान के बहुत से तत्वों और विलक्षणताओं का अभाव है। इस बात का अनुभव करने के लिये एन्शेंट इंडिया न० ३ में प्रकाशित शव-वस्तुसामग्री का परिशीलन करना आवश्यक है। इससे पता चलता है कि हड़प्पा के कब्रिस्तान आर ३७ में शवों के साथ जो बर्तन तथा दूसरी वस्तुएँ रखी जाती थीं वे गिनती में विविध और अनेकरूप होती थीं। इनमें चुने मुँह और भावदुम पैंदी के लोटे, अण्डाकार और गोल मटके, गोसाई आकार के ढक्कन, वृत्ताकार मद्यपात्र आदि जिनमें प्रेत के उपयोग के लिये खाद्य पदार्थ रखे जाते थे समाविष्ट थे। इन पर मोर, शमी पीपल आदि धार्मिक अभिप्राय के चित्र बने थे (फलक ५४ क-ग)[2]। रोपड़ के कब्रिस्तान में ये सब विशिष्ट

---

१ इंडियन आर्क्यॉलोजी १९५४-५५, फलक १२ए।

२ एन्शेंट इंडिया न० ३ चित्र १३ से २१ तक और फलक ४६, ४७।

जाते नहीं मिलतीं। न तो इसमें प्रेत के उपयोग के लिये कब्र में शव के साथ रखे गये बर्तन (फलक १४ क) काजल और तेल डालने की शीशियाँ व कटोरियाँ आदि शृंगार की वस्तुएँ जो हड़प्पा की कब्रों में पाई गई मिली हैं। हड़प्पा की कई कब्रों में शवों के साथ कफ़न में बन्द किये हुए पशुओं और पक्षियों की अस्थियाँ थीं। ये सब विलक्षणताएँ रोपड़ के शव-स्थान में नहीं मिलीं।

रोपड़ के उत्खनन प्रागैतिहासिक शवस्थान सिन्धु-संस्कृति से प्रभावित अवश्य था परन्तु हड़प्पा के शवस्थान आर १७ का समकालीन नहीं हो सकता। प्रतीत होता है कि रोपड़ के कब्रिस्तान के लोगों का सम्पर्क चिरकाल से सिन्धु-सभ्यता के केन्द्र स्थानों से टूट चुका था। मनुष्य समाज में जन्म-मरण-सम्बन्धी रीति-रिवाज कठिनता से बदलते हैं। यही कारण है कि सिन्धु-सभ्यता के केन्द्रस्थानों से सम्बन्ध टूट जाने पर भी रोपड़ में शव गाड़ने की प्रथा जारी रही परन्तु इस प्रकार में ये लोग अपनी बहुत सी प्राचीन प्रथाओं और परम्पराओं को भूल गये। अन्यथा रोपड़ के कब्रिस्तान में सिन्धु-संस्कृति की पूर्वोक्त विलक्षणताओं के अदर्शनाभाव का कारण बतलाना कठिन है। 'इंडियन आर्कियोलोजी' १९५३-५४ में लिखा था कि रोपड़ में उद्घाटित हड़प्पा-संस्कृति का रूप पूर्ण विकसित और एवं सब लक्षणों से युक्त था। मैंने अपने पहले लेख में निर्देश किया था कि हड़प्पा-संस्कृति का यह रूप उत्तरकालीन है। मुझे हर्ष है कि इंडियन आर्कियोलोजी के १९५४-५५ के प्रकरण में पुरातत्त्व विभाग ने अपने पिछले वर्ष के विचार में यह संशोधन कर दिया है कि "रोपड़ में सिन्धु-संस्कृति का जो रूप प्रकाश में आया वह और हड़प्पा-संस्कृति का उत्तरकालीन रूप है।"

बाड़ा और सलौरा का सम्बन्ध—सन् १९५४-५५ में पुरातत्त्व विभाग ने रोपड़ के निकट बाड़ा और सलौरा नाम के दो और प्रागैतिहासिक खण्डहरों का उत्खनन कराया। ये खण्डहर एक दूसरे से लगभग १ मील के अन्तर पर स्थित हैं। 'बाड़ा' का सारा टीला हड़प्पा-संस्कृति की बस्तियों से भरा पड़ा था। परन्तु 'सलौरा' के टीले में इस संस्कृति की एक भी बस्ती नहीं थी। इसमें सबसे नीचे की आबादी में 'चित्रित सलेटी कुम्भकला' के ठीकरे मिले थे[1]। इन टीलों की खुदाई से भी पता लगता है कि सिन्धु-संस्कृति के लोग और 'चित्रित सलेटी कुम्भकला' के निर्माता इन स्थानों में भी कभी परस्पर सम्पर्क में नहीं आये। ऐसी ही परिस्थिति रोपड़ हस्तिनापुर आदि उन समस्त प्राचीन टीलों में पाई गई थी जहाँ-जहाँ "चित्रित सलेटी कुम्भकला" हड़प्पा-संस्कृति के स्तरों के ऊपर पड़ी थी। इस नवीन साक्ष्य के आधार पर एक बार फिर यह कहना पड़ता है कि 'चित्रित सलेटी कुम्भकला' वैदिक आर्यों की कृति नहीं थी।

---

१ इंडियन आर्कियोलोजी १९५४-५५, चित्र १।

यदि ऐसा होता तो प्राचीन टीलों से उत्खात भग्नप्रमाण इस बात का समर्थन करते। स्मरण रहे कि आर्य-जाति लंबे और कठोर संघर्ष के बाद भारत की मूल जातियों को जिनमे एक सिन्धु-सभ्यता के लोग भी थे पराजित करके अपने वश में लाने के समर्थ हुई थी। 'हस्तिनापुर के खंडहर और महाभारत-काल' शीर्षक अपने लेख मे इस समस्या पर आलोचना करने के अनन्तर मैं इस निर्णय पर पहुँचा था कि 'चित्रित सलेटी कुम्भकला' के निर्माता वैदिक आर्य नहीं थे। 'बाड़ा' और 'ससौरा' टीलो की खुदाई मे जो प्रमाण मिले है मेरे पूर्वोक्त निर्णय को पुष्ट करते हैं।

२६ मेकडानेल ए ए —वैदिक माइथालोजी
२७ मेकडानेल एंड कीथ—वैदिक इंडेक्स
२८ मेके ई —फर्दर एक्सकेवेशन्स एट मोहजो-दड़ो
२९ मेके ई —चन्हुदड़ो एक्सकेवेशन्स
३० मेके ई —सुमेरियन पेलेस एंड दि ए सिमेट्री एट किश।
३१ मेर्केटी डी ए —मिथ्स ऑफ बेबीलोनिया एंड असीरिया
३२ —महाभारत कर्णपर्व
३३ मजुमदार, एन जी०—एक्सप्लोरेशन इन् सिंध
३४ मजुमदार, आर सी —दि वैदिक एज
३५ मार्शल सर जान—मोहेंजो-दड़ो एंड दि इंडस वेली सिविलाइजेशन
३६ मैक्कौन—कम्पेरेटिव स्ट्रेटिग्राफी ऑफ अर्ली ईरान
३७ पार्जीटर एफ ई —एन्शेंट इंडियन हिस्टारिकल ट्रेडीशन
३८ स्टार एफ एस —इंडस वेली पटेड पोटरी
३९ स्टाईन सर आरल—आर्क्योलॉजिकल टूअर इन वजीरिस्तान मैमायर न ३७
४० स्टाईन सर आरल—आर्क्योलाजीकल टूअर इन गेड्रोशीया मेमायर न ४३
४१ वत्स माधोसरूप—एक्सकेवेशन्स एट हड़प्पा
४२ वार्ड—सिलिंडर सील्स ऑफ वेस्टर्न एशिया
४३ व्हीलर, सर मार्टीमर—एन्शेंट इंडिया न ?
४४ व्हीलर, सर मार्टीमर—एन्शेंट इंडिया नं ३
४५ व्हीलर सर मार्टीमर—दि इंडस सिविलाइजेशन (सप्लीमेंटरी टू दि केम्ब्रिज हिस्टरी ऑफ इंडिया)
४६ बूसी सर मिय़ोनार्ड—उर एक्सकेवेशन्स

सहायक-ग्रन्थ

१ —ऐतरेय ब्राह्मण

२ —एटिक्विटी प्र ११

३ —एटिक्विटी प १९ मर ७९

४ —मार्क्यौलाजीकल सर्वे ऑफ इंडिया वार्षिक रिपोर्ट सन् १९११ १२

५ —आर्क्यौलाजीकल सर्वे ऑफ इंडिया वार्षिक रिपोर्ट सन् १९१४-१५

६ बार्टन—ओरिजिन एड डिवेलपमेंट ऑफ बेबीलोनियन राइटिंग

७. —कैम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ इंडिया वॅ १

८ चाइल्ड वी जी—न्यू लाइट आन दि मोस्ट एन्शेंट ईस्ट

९ चाइल्ड वी जी —दि आर्यन्स

१ कनिंघम सर एलेग्जेंडर—सी एस आर न २

११ —जम्बूद्वीप निघण्टु

१२ —एन्साइक्लोपीडिया ब्रिटेनिका

१३ ईवान्स सर आर्थर—पैलेस ऑफ मिनास एट नौसस

१४ फ्रैंकफर्ट एच—डिलियर सील्स

१५. फ्रैंकफर्ट एच—टेल आस्मर एड खाफजे

१६ फ्रैंकफर्ट एच—आर्क्यौलोजी एड सुमेरियन प्राब्लेम

१७. घोष ए॰—इंडियन आर्क्यौलोजी १९५३ ५४

१८. घोष ए॰—इंडियन आर्क्यौलोजी १९५४ ५५

१९. घोष ए —एन्शेंट इंडिया न १ एड ११

२ घोष ए —राजस्थान डेजर्ट इट्स आर्क्यौलाजिकल एस्पेक्ट

२१ हाल एच आर—ए सीजन्स वर्क एट 'उर'

२२ हाल एड वूली—अल' उबेद

२३ हण्टर, जी आर॰—स्क्रिप्ट ऑफ हड़प्पा एड मोहेंजो-दडो

२४ —इलस्ट्रेटेड लंदन न्यूज अक्तूबर ५, १९३२

किंग एल डब्ल्यू —हिस्ट्री ऑफ सुमेर एड एक्काड

२६. मेकडानेल ए ए —वैदिक माइथालोजी
२७ मेकडानेल एड कीथ—वैदिक इंडेक्स
२८ मेके ई —फर्दर एक्सकेवेशन्स एट मोहनजो-दड़ो
२९ मेके ई —चन्हुदड़ो एक्सकेवेशन्स
३० मेके ई॰—सुमेरियन पेलेस एंड दि ए' सिमेट्री एट किश ।
३१ मैकेंजी डी ए —मिथ्स ऑफ बेबीलोनिया एंड एसीरिया
३२ —महाभारत कर्णपर्व
३३ मजुमदार, एन जी —एक्सप्लोरेशन इन् सिंध
३४ मजुमदार, आर सी॰—दि वैदिक एज
३५ मार्शल सर जान—मोहेंजो-दड़ो एंड दि इंडस वैली सिविलाइजेशन
३६ मेककौन—कम्पेरेटिव स्ट्रेटिग्राफी ऑफ अर्ली ईरान
३७ पार्जिटर, एफ ई —एन्शेंट इंडियन हिस्टारिकल ट्रेडीशन
३८ प्टार एफ एस —इंडस वैली पटन पॉटरी
३९ स्टाईन सर आरल—आर्क्योलाजिकल टूअर इन वजीरिस्तान मेमायर
न ३७
४० स्टाईन सर आरल—आर्क्योलाजीकल टूअर इन गेड्रोसीया मैमायर
न ४३
४१ वत्स माधोस्वरूप—एक्सकेवेशन्स एट हड़प्पा
४२ वार्ड—सिलिंडर सील्स ऑफ वेस्टर्न एशिया
४३ व्हीलर, सर मार्टीमर—एन्शेंट इंडिया न १
४४ व्हीलर, सर मार्टीमर—एन्शेंट इंडिया नं ३
४५ व्हीलर, सर मार्टीमर—दि इंडस सिविलाइजेशन (सप्लीमेंटरी टु दि कैम्ब्रिज
हिस्टरी ऑफ इंडिया)
४६ वूली सर लियोनार्ड—उर एक्सकेवेशन्स